

मोक्ष पथगामी

लेखक

श्री अभिनन्दन सिंघई (एडवोकेट)
महरौनी, जिला-ललितपुर (उ.प्र.) मो. 9005248733

कृति	-	मोक्ष पथगामी
आशीर्वाद	-	प.पू. साहित्य रत्नाकर, क्षमामूर्ति आचार्य श्री 108 विशदसागरजी महाराज
संस्करण	-	प्रथम-2014 • प्रतियाँ :1000
संकलन	-	मुनि श्री 108 विशालसागरजी महाराज मुनि श्री 108 विश्वानंदसागरजी महाराज
संपादन	-	ब्र. ज्योति दीदी (9829076085), आस्था दीदी9660996425 सपना दीदी
संयोजन	-	किरण दीदी, आरती दीदी, उमा दीदी • मो. 9829127533
प्राप्ति स्थल	-	1. जैन सरोवर समिति, निर्मलकुमार गोधा 2142, निर्मल निकुंज, रेडियो मार्केट, नेहरु बाजार मनिहारों का रास्ता, जयपुर फोन : 0141-2319907 (घर) मो.: 09414812008 2. श्री राजेशकुमार जैन (ठेकेदार) ए-107, बुध विहार, अलवर मो.: 09414016566 3. विशद साहित्य केन्द्र C/o श्री दिगम्बर जैन मंदिर कुआँ वाला जैनपुरी रेवाड़ी (हरियाणा)प्रधान-09416882301
मूल्य	-	101/- रु. मात्र
मुद्रक	-	राजू ग्राफिक आर्ट, रहीम मंजिल, अजमेरी गेट, जयपुर मो. 9829050791

प्रस्तावना

परम पूज्य गुरुवर **आचार्य श्री 108 विशदसागरजी महाराज** के जीवन के साथ-साथ जीव (आत्मा) के परिचय को प्रस्तुत करता हुआ यह ग्रंथ '**मोक्ष पथगामी**' लिखा गया है। ग्रंथ अपने नाम के अनुरूप जीव और जीवन के परिचय को विशुद्धता से विस्तारित कर अपने ही नाम को साकार कर रहा है। अभी तक आपने जितने भी जीवन परिचय देखे या पढ़े वह चाहे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी लिखित '**मेरी जीवन गाथा**' हो अथवा राष्ट्रसंत अपने ही जीवन में अन्त समय में हुये महाव्रती जैन आलोक में शिक्षा के क्षेत्र में प्रदीप्त पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी द्वारा लिखित '**मेरा जीवन परिचय**' हो अथवा अन्य किसी भी महापुरुष द्वारा अपने ऊपर लिखी कोई भी पुस्तक सभी में उनके जन्म से लेकर मृत्यु तक की घटनाओं का समावेश किया गया है। वर्तमान जीवन के पूर्व एवं वर्तमान जीवन के पश्चात् ये सम्पूर्ण पुस्तकें पूरी तरह मौन धारण कर लेती हैं।

जीवन के परिचय से जीव का परिचय देना बिल्कुल उसी तरह है जैसे एक बूँद जल से सम्पूर्ण समुद्र का परिचय प्राप्त है। जीवन सादि शान्त है क्योंकि इस जीवन का प्रारम्भ माँ की कोख से आरम्भ होता है एवं श्मशान भूमि में अग्नि के द्वारा समाप्त हो जाता है। जीवन का समापन गड्ढा खोदकर गाड़ने अथवा जल में विसर्जित करने अथवा खुले में पशु-पक्षियों के हवाले मृत शरीर को छोड़ देने से भी हो जाता है।

स्वाभाविक बात है पंच तत्त्व से निर्मित शरीर जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश द्रव्य से मिलकर बनता है वही शरीर अग्नि अथवा अन्य किसी भी माध्यम से बिखरकर अपने उन्हीं पाँचों द्रव्यों में समाहित हो जाता है। इस प्रकार जीवन की यात्रा प्रारम्भ होकर अन्त को प्राप्त हो जाती है।

यहाँ पर स्वतः प्रश्न पैदा होता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश तो लोक में बहुत मात्रा में बहु तेरी जगह विद्यमान हैं फिर ये आपस में एक साथ क्यों नहीं मिल जाते ? किन्तु यह पाँचों द्रव्य स्वतः नहीं मिल सकते क्योंकि जगजाहिर है कि मिलन में कोई न कोई कारण अवश्य हुआ करता है। बगैर किसी कारण के किसी भी वस्तु (द्रव्य) या व्यक्ति का मिलन संभव नहीं है। किसी भी मिलन के पूर्व उसका समय एवं स्थान निर्धारित होता है। मिलन न तो समय के पूर्व अथवा समय के पश्चात् संभव है और न ही अपने नियत स्थान के अतिरिक्त अन्य किसी भी स्थान पर संभव है। मिलन में समय और स्थान के साथ-साथ द्रव्यों की संख्या या व्यक्तियों की संख्या भी निश्चित होती है। जिस जिस का जितने-जितने समय और जिस स्थान पर मिलन निश्चित है वह उसी स्थान पर उतने ही समय तक उतने ही संख्या में मिल जाते हैं एवं समय पूर्ण होते ही बिछुड़ जाते हैं।

मिलना और बिछुड़ना पाँचों द्रव्यों का हुआ अवश्य मगर वह कौन सा द्रव्य है जिसके कारण इन पाँचों द्रव्यों का मिलन हुआ, उसी द्रव्य के अलग होते ही पाँचों द्रव्यों का विखण्डन भी प्रारम्भ हो गया। पाँचों द्रव्यों

के साथ छोटे द्रव्य जीव द्रव्य के मिलने से ही जीवन का आरम्भ कहा जाता है, किन्तु जीवन के आरम्भ को जीव का आरम्भ नहीं कहा जा सकता। जीव इस जीवन में आने के पूर्व भी अकेला था किसी अन्य जीव के साथ मिला हुआ नहीं था जैसे कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश जब जीव के साथ संयोगी अवस्था में आये तब उस संयोगी अवस्था में आने से पूर्व वह अपने-अपने बृहद् द्रव्य रूप में समाहित थे। उसी बृहद् रूप के अंश अणु या परमाणु रूप में आकर जीव के साथ संयोगी अवस्था को प्राप्त हो गये। इन पाँचों द्रव्यों से भिन्न जीव किसी भी बृहद् रूप से चयन नहीं आया, जीव का अपना भवरूप निश्चित है। कर्म सहित अवस्था में जीव जिस पर्याय में पहुँचता है उसी का आकार धारण कर लेता है, कर्म से रहित अवस्था में जीव जिस पर्याय में पहुँचता है उसी का आकार धारण कर लेता है, कर्म से रहित अवस्था में जीव पूरे लोकाकाश प्रमाण हो जाता है। लोकपूरण समुद्रघात करता हुआ ऊर्ध्वगमन करता हुआ स्वभावानुसार लोक के अग्रभाग सिद्धशिला तक पहुँचता है जिसके आगे अलोकाकाश है जहाँ धर्मद्रव्य का गमन नहीं होने से जीवद्रव्य का भी गमन संभव नहीं है।

प्रत्येक पर्याय भिन्न होती है जिसमें जीव वही रहता है अवशेष पाँचों द्रव्यों के परमाणु भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यही है जीव की यात्रा, जीव की कहानी, गुरुवर आचार्य श्री विशदसागर की कहानी।

गुरुवर आचार्य श्री विशदसागरजी के माध्यम से ग्रंथ में प्रथम जीव के साथ जीव के आदि एवं अन्त की कहानी कही गयी है। स्वतः सिद्ध हो जाता है, ग्रंथ के प्रारम्भ में कि जीवन के पूर्व एवं जीवन के बाद जीव का अस्तित्व है। जीव का प्रारब्ध (आदि) निगोद एवं समापन मोक्ष बताया गया है। निगोद से मोक्ष तक की यात्रा करने वाले भव्य प्राणी को ही जीव की संज्ञा प्राप्त होती है। प्राण स्वयं जीवन का प्रतीक है, प्रत्येक पर्याय में प्राणों की संख्या भी अलग-अलग होती है। मनुष्य पर्याय में दस प्राण होते हैं जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ : मनबल, वचनबल, कायबल, आयु एवं श्वासोच्छ्वास कुल दस प्राण होते हैं। प्राणों की संख्या एक-एक इन्द्रिय के कम होते एवं श्वासों के घटने पर आधारित होती है। प्राण जीवन के साथ ही समाप्त हो जाते हैं, प्राणों का समाप्त होना हम जीव का अन्त मान लेते हैं।

विज्ञान का क्रमिक अध्ययन भी जीवन पर आधारित है जीव पर नहीं। जीव के अस्तित्व को सिद्ध करती प्रेतात्मा एवं पुनर्जन्म के अस्तित्व तथा सिद्धान्त को विज्ञान अस्वीकार करता है। इन सब प्रसंगों का उल्लेख इस ग्रंथ में मुख्यता से जीव और जीवन की कहानी कहते हुये पूरी तरह स्पष्ट किया गया है।

जीव के बाद जीवन की कहानी के आधार एवं कहानी के निमित्त स्वयं श्री पूज्य आचार्य विशदसागर जी हैं। इसीलिये पूज्य आचार्य श्री विशदसागरजी महाराज पर केन्द्रित इस ग्रंथ में आचार्यश्री के गृहस्थ जीवन राशि नाम दयाचन्द एवं प्रचलित नाम रमेश (मुन्ना) से आरम्भ की गयी है। रमेश के गर्भ, जन्म एवं बचपन में घटी घटनाओं के माध्यम से पूर्व जन्म के संस्कारों साहस, हिम्मत, विनय, वैय्यावृत्ति एवं वैराग्य को भी प्रस्तुत ग्रंथ में प्रदर्शित किया गया है।

माँ की फटकार, पिता की मनुहार सहित नातेदारों, रिश्तेदारों एवं मित्रों का सम्बोधन भी समाहित है इस ग्रंथ में। माँ से इतर एक ही घटना में स्वयं की सोच भी किस तरह परिणामों को प्रभावित करती हैं ग्रंथ पढ़ने पर आप स्वयं इस संबंध में अपनी सोच कायम करने पर विवश हो जायेंगे।

महाव्रती होने से पूर्व एवं महाव्रती परिव्राजक दिगम्बर मुनि के रूप में भी आचार्यश्री का जीवन कथनी एवं करनी के रूप में किस प्रकार धर्मभीरु, ज्ञान के जिज्ञासु, कल्याण की कामना चाहने वालों के न सिर्फ सहायक बल्कि प्रेरणा स्रोत बने स्वयं ग्रन्थ में दृष्टव्य है।

गृहस्थ जीवन के समय क्षुल्लक पद्मसागर का संबोधन एवं गुरुवर आचार्य संत शिरोमणि वात्सल्य सम्राट श्री विरागसागरजी का सान्निध्य किस प्रकार रमेश के जीवन में प्रबल वेग से आया, रमेश का प्रबल वेग जहाँ संवेग में बदला वहीं रमेश के परिवार वालों में संवेग के कारण किस प्रकार आवेग आ गया, कब रमेश की शादी की खुशियाँ वैराग्य की पुनीत गंगा में प्रवाहित हो गयी, यह सुरुचिपूर्ण से पढ़ने पर पाठक के मन में स्वयं वैराग्य अंकुरित हुए बगैर नहीं रह सकता।

सन्त की संगति से श्रावकों के जीवन में विष घोलते मिथ्यात्व का पलायन एवं सम्यक्त्व का उदय भी पाठक के ग्रंथ पाठ के बाद निश्चित एक नया सबेरा लायेगा। जिसके उदित होते प्रकाश की चमक श्रावक के जीवन में छायी अन्य मती एवं जैनमत में आयी एकान्त दृष्टियाँ निश्चय व्यवहार के स्वरूप में स्वयं गमन हो जावेंगी। ज्यों-ज्यों ग्रंथ का अध्ययन आगे बढ़ेगा जीवन में घटी घटनाएँ विशेषकर गुरुवर के आशीर्वाद से रोगियों के रोग नष्ट होना, व्याधियों का अन्त होना, व्यसनों का परित्याग सहित अनेकों मनमोहक प्रसंग आपकी ग्रंथ पठन की रुचि को निरन्तर बनाये रखेंगे।

साधुओं का परस्पर प्रेम वात्सल्य का अद्भुत मिलन जहाँ मिठास घोलता है वहीं सन्त का दूसरे सन्तों अथवा एक संघ का दूसरे संघ को उपेक्षित करने वाला प्रसंग उस मिठास को फीका अवश्य करता है मगर एक आन्दोलित प्रश्न भी खड़ा कर देता है कि ऐसा क्यों ?

जीवन में आये उतार-चढ़ाव एवं संयोग वियोग सहित जीवन से जुड़े अन्य अनेक पहलुओं को ग्रंथ के माध्यम से बखूबी दर्शित किया गया है। जिसके पढ़ते-पढ़ते आपके भावों में भी उतार-चढ़ाव, संयोग, वियोग, रहस्य जीवन एवं जीव का, रहस्य रिश्तों का, घात, प्रतिघात, श्रद्धा, विश्वास, सेवा, भक्ति, वैयावृत्ति, परोपकार, दया, करुणा जैसी भावनाओं के वेग आपके अन्दर अवश्य उठेंगे परन्तु सब में समता, सहिष्णुता रखते हुए शांति धारण कर सुखानुभूति में खोने का सम्यक् मार्ग भी ग्रंथ में दिग्दर्शन करेगा। सच्ची आस्था एवं विश्वास व वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के प्रति समर्पित उसे समझने में समर्थ होंगे।

पुरातन मान्यताओं के खण्डन पूजन पाठ में क्रिया के स्थान पर ध्यान पर विशेष ध्यान देने की प्रेरणा

भी आपको जब, तप, व्रत, नियम, पूजा, स्वाध्याय में मन-वचन-काय की शुद्धि सहित एकाग्रता एवं स्थिरता को अभिप्रेरित करेगी।

ग्रंथ के आरम्भ में ही धन्नालाल जैसे धर्मात्मा, पन्नालाल जैसे चतुर चालाक क्रूर परिणामी विश्वासघाती एवं भवानीसिंह की निश्छल सेवा से आततायी जीवन का चरित्र एवं पुत्री के प्रति धर्मात्मा एवं पापात्मा का एक समान मोह तथा पुलिस अधीक्षक का भी धर्म और पाप के बीच कर्तव्यपालन की कथा जहाँ ग्रंथ को श्रावक एवं पाठक को सांस थामकर पढ़ने को विवश करती हैं वहीं हेमलता सहित तीनों पुत्रियों की शादी तथा धर्मात्मा धन्नालाल का स्वयं दीक्षित होना तथा धन्नालाल की मृत्यु होते ही भवानीसिंह की समर्पित करुणाजनक मौत एक तरफ पाठकों को झर-झर आँसू बहाने को विवश करती है वहीं नाते-रिश्तों की सच्चाई पन्नालाल, मोतीलाल का प्रायश्चित्त पाठक के मन में वैराग्य अंकुरित कराये बगैर नहीं रहता।

ग्रंथ का समापन करने से पूर्व यह उद्धृत करना आवश्यक है कि ग्रंथ लेखन का निमित्त स्वयं श्री परम पूज्य आचार्य श्री विरागसागरजी दीक्षित मुनि श्री विशदसागर को चारित्र सप्राट आचार्य श्री विमलसागर के पट्टाधीश आचार्य श्री भरतसागर द्वारा आचार्यपद पर प्रतिष्ठित करना एवं स्वयं मुनिवर विशदसागर द्वारा दर्शित धीरता, वीरता, गंभीरता भी अपने आप में बेमिशाल है। इसी धीरता सहित वीरता एवं गंभीरता का प्रदर्शन मुनिवर विशदसागरजी द्वारा जबलपुर प्रवास सहित अन्य विपरीत परिस्थितियाँ जिस शान्ति एवं सहिष्णुता के साथ सामना कर धर्म विरोधियों को परस्त किया पढ़कर आप अवश्य हैरान, परेशान तो होंगे परन्तु शान्ति और अहिंसा के भक्त भी बन जायेंगे।

मुनिवर में भरी अपूर्व तर्क शक्ति एवं सत्याग्रह जैसे क्षमताओं को पढ़कर आप अभिप्रेरित ना हों। यह कतई संभव नहीं। इसके अलावा भी ग्रंथ के माध्यम से आपके अन्दर छापी अज्ञान एवं मिथ्यात्व की भावनायें किस प्रकार तिरोहित हों, यह आप पर एवं धर्म पर आपके श्रद्धा सहित समर्पण पर निर्भर है क्योंकि **“जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी बैठ”** अर्थात् जितना-जितना विषय में उतरते चले जायेंगे आपको अपनी आत्म अनुभूति उतनी-उतनी गहरी अनुभूत होती जायेगी। अपनी आत्म अनुभूति निश्चित रूप से आपको संसार शरीर एवं विषय भोगों से दूर ले जायेगी। स्व-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करेगी यही जीवन एवं जीव का अभीष्ट है।

आप यह भी याद रखें कि **“जिसकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी”** अतः आप निश्चित ही ग्रंथ पठन के पूर्व परिणामों को निर्मल, विमल, शांत, स्थिर बनाये, आपको निश्चित रूप से आत्म प्रतीति होगी। हाँ, परिणामों में व्याप्त आकुलता, व्याकुलता, जल्दबाजी, अस्थिरता एवं अशांति हुयी तो परिणाम विपरीत भी हो सकते हैं।

आप सभी विद्वानों, मनीषियों एवं धीर, वीर, दयालू एवं क्षमाधारी महानुभावों से मुझ अज्ञानी की अभिलाषा एवं अपेक्षा है कि ग्रंथ में आई अशुद्धियों का स्व-विवेक से आगम के परिप्रेक्ष्य में अवश्य सुधार करें एवं सुधार हेतु हमें भी लिखें ताकि संशोधित प्रकाशन में यथोचित संशोधन किये जा सकें तथा ग्रंथ में हुई कमी या अशुद्धि हेतु मुझे माफ करें।

ग्रंथ की अशुद्धि परिमार्जन में गुरुवर का सान्निध्य एवं आशीर्वाद मुझे उनके प्रति चिर जीवन ऋणी रखे। अपनी अस्वस्थ स्थिति के बावजूद भी उन्होंने मुझे जो समय-समय पर संदेश दिये उसके लिये मैं गुरुवर का हृदय से आभारी हूँ। ग्रंथ के शोधन एवं संपादन में ब्रह्मचारिणी बितियाँ आस्था दीदी ने जो विशेष सहयोग किया उसके लिये अपनी इन प्यारी-प्यारी बेटियों का भी आभारी हूँ।

मैं कैसे भूल सकता हूँ उन्हें जिनके पावन पुनीत चरणों में बैठकर इस ग्रन्थ का समापन कर रहा हूँ। उन वीतरागी परम प्रभु चँवलेश्वर पार्श्वनाथ (राज.) के चरणों में बारम्बार कोटि-कोटि नमन।

मैं अपने नित्य आराध्य एवं ग्रंथ लेखन का शुभारम्भ जिनके पुनीत चरण-कमलों में किया परम पूज्य मूलनायक श्री अजितनाथ भगवान, श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर महरौनी, जिला-ललितपुर के चरणों में भी बार-बार कोटि-कोटि नमन् करता हूँ। इसी के साथ मैं अपने उन आराध्य प्रभु भगवान शान्तिनाथ मूलनायक श्री शान्तिनाथ जिनालय के पावन पुनीत चरणों में कोटि-कोटि नमन करता हूँ जिनका सदैव शुभ आशीर्वाद मुझ पर रहता है तथा उनके माध्यम से अपने स्वर्गीय पूज्य पिताश्री चन्द्रभान सिंघई पुनः गिरधारी लाल सिंघई द्वारा श्री शान्तिनाथ मन्दिर, महरौनी के निर्माण एवं परिवार तथा समाज के सहयोग से श्रीजी की स्थापना की याद दिलाता है।

सर्वाधिक सहयोग प्रदान करने वाली मेरी पत्नी श्रीमती चन्द्रप्रभा का भी विशेष आभारी हूँ जो सदैव मुझे धार्मिक कार्यों हेतु तो अभिप्रेरित करती ही है, उन्होंने इस ग्रंथ लेखन में भी कभी गृहस्थी एवं पारिवारिक समस्याओं को आने नहीं दिया।

अन्त में अपने उन दानवीर भामाशाहों का आभार अवश्य प्रगट करना चाहता हूँ जिनके पुनीत दान से यह ग्रंथ प्रकाशित हो सका।

लेखक

अभिनन्दन सिंघई 'एडवोकेट'

महरौनी, जिला-ललितपुर, मो. 9005248733

आचार्य विरागसागर संदेश

आस्था के सुमन

ऊँचा उठे कोई कितना, वो अंबर हो नहीं सकता ।
बड़े आकार कतरे का, समुन्दर हो नहीं सकता ॥
यूँ तो साधु बहुत होते हैं, और होते हैं पैगम्बर ।
कठिन मार्ग है हर कोई, दिगम्बर हो नहीं सकता ॥

भगवान महावीर की अक्षुण्ण परम्परा का एक अग्रदूत, जिसे जैनधर्म का मसीहा कहें या कुछ और कहें, समझ में नहीं आ रहा है। आध्यात्मिक महापुरुष सूर्य के समान होते हैं जिस प्रकार सूर्य स्वयं प्रकाशित होकर दूसरों को भी प्रकाशित करता है वैसा ही आध्यात्मिक महापुरुषरूपी सूर्य स्वयं प्रकाशित होते हैं जिससे दूसरे भी सहजता से प्रकाशित होते हैं जैसा कि सूर्य जिस दिशा में उदय होता है वही दिशा पूर्व होती है, जब सूर्य उदय होता है तब भी लालिमा छोड़ता है और अस्त होता है तब भी लालिमा छोड़ता है वैसे ही आध्यात्मिक महापुरुष होते हैं जहाँ उनका जन्म होता है वह स्थान तो पवित्र होता ही है साथ ही जहाँ-जहाँ उनके चरण पड़ते हैं वह स्थान भी पवित्र होता है वैसे ही पूज्य गुरुदेव है।

मैंने जब सर्वप्रथम 1997 में गुरुवर को देखा तो मैंने अपना जीवन ही समर्पित कर दिया और तभी से मन में एक विचार बार-बार आता था कि इनके जीवन के बारे में कुछ लिखा जाए। यद्यपि उस समय मैंने लिखने का प्रयास तो किया फिर कुछ ज्ञान ना होने से वहीं रुक गई। फिर गुरुमुख से सुने संस्मरण लिखना प्रारम्भ किया। जब काफी सारा मैटर इकट्ठा हो गया तब श्री अभिनंदन एडवोकेट महरौने वालों ने इसका साकार रूप प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम मैं गुरु की उपकारी हूँ जो उन्होंने अपने समय में से कुछ समय निकालकर संस्मरण सुनाये। फिर आभारी हूँ अभिनंदनजी की, जो इतने व्यस्ततम जीवन से समय निकालकर स्व-परोपकार करने में संलग्नरत है।

इस पुस्तक का नाम 'मोक्ष पथगामी' रखा गया है जिसमें पूज्य गुरुवर के बचपन से लेके अब तक के जीवन का चित्रण किया गया है जो जीवनोपयोगी के साथ शिक्षाप्रद भी है। गुरु की महिमा का वर्णन कहाँ तक किया जाए शब्दातीत है। एक बात स्पष्ट करना चाहती हूँ- लेखक ने इस पुस्तक को लिखा है किन्तु उन्हें पूज्य गुरुवर की मुख्यता देकर ही इसे पूर्ण किया गया। पाठक गण यह न सोचें कि आचार्यश्री ने ही इसे लिखा है।

मेरी तो बस यही भावना है, मुझे नहीं पता कब मेरे जीवन का अंत हो जाए, कब इस तन से चेतन विदा हो जाए मेरे बाजुओं में इतनी शक्ति भर दे जो मैं बाहुबली सम कायोत्सर्ग करके मुक्ति वधू को जाऊँ। गुरुवर चिरायु, दीर्घायु, स्वस्थ तन-मन हो ताकि मोक्षमार्ग की यात्रा निर्विघ्नता से कर सके।

- ब्र. आस्था दीदी (संघस्थ आचार्य श्री विशदसागरजी महाराज)

मोक्ष पथगामी

है बहारे दुनियाँ चन्द रोज ।
देख लो इसका तमाशा चन्द रोज ॥

मैं विशद हूँ, यही वह परिचय है जो मेरे बारे में सभी जानते हैं, सभी मानते हैं और सभी कहते भी हैं। क्या मैं भी इसी परिचय को मान लूँ और स्थायित्व प्रदान कर दूँ। यदि मैं इसी को स्थायी करता हूँ तब तो यही मेरा रूप स्थायी होना चाहिये; परन्तु यह परिचय अभी अस्थिर और अधूरा हो गया, क्योंकि इसमें आचार्य पद तो जुड़ा ही नहीं। तब क्या आचार्य विशद के रूप में मेरा परिचय पूर्ण हो जाएगा? इसमें आगे कोई परिवर्तन नहीं होगा, क्या परिवर्तन निश्चित है? हाँ-हाँ परिवर्तन निश्चित है; क्योंकि यह परिचय तो मनुष्य पर्याय की वर्तमान अवस्था का है और जब यह अवस्था ही नहीं रहेगी तब कहाँ रहेगा यह आचार्य पद और कौन कहेगा मुझे विशद? आगे की बजाय कुछ पीछे ही चलकर देख लूँ। इस समय आचार्य विशद इससे पूर्व मुनि विशद इससे पूर्व ऐलक विशद, उससे पूर्व रमेश, उससे पूर्व दयाचन्द। किन्तु मेरा परिचय क्या यहीं से प्रारम्भ होता है या इससे पूर्व भी मैं कुछ और था? था तो अवश्य; क्योंकि दयाचन्द से पूर्व कुछ और नहीं था तो दयाचन्द का रूप ही अनादि होना चाहिये; किन्तु ऐसा न तो संभव है और न सत्य ही है। क्योंकि मेरी गृहस्थ और साधु अवस्था की आयु ही आज कुल 44 वर्ष की है। इसका मतलब दयाचन्द के पूर्व भी मैं कुछ और था जिसका मुझे पता नहीं। यही तो है मेरा वर्तमान परिचय ! जिसका आदि और अन्त है फिर भी इतना सत्य है कि मेरा वर्तमान परिचय संत है। संत की दृष्टि से ही इस परिचय का परिचय जानने का प्रयास करता हूँ।

संत की दृष्टि सादि सान्त पर नहीं होती वह तो स्वयं को अनादि अनन्त मानता है। वेद भी कहते हैं
“ईश्वर अंश जीव अविनाशी।”

यह रामचरितमानस का उद्धरण वेदों के कथन को ही उदधृत कर रहा है। यद्यपि इस कथन में भी पूर्णता का अभाव प्रतीत होता है; क्योंकि जैसा जैन आगम में जीव अर्थात् आत्मा का परिचय आया है उसके अनुसार “जीव अनादि अनन्त है।” यदि जीव अनादि अनन्त है तब फिर वेदों का यह कथन अनन्त अर्थात् अविनाशीपन की पुष्टि तो करता है मगर आदि की पुष्टि नहीं करता। इसीलिये यह कथन अधूरा है। मेरे परिचय में भी मेरा न तो आचार्य पद अनादि है, न मुनि पद अनादि है, न ही गृहस्थ अवस्था का रमेश एवं दयाचन्द नाम अनादि है। सभी काल की मर्यादाओं से बंधे सादे पद हैं। सादि ही नहीं सभी पद एवं नाम सान्त अर्थात् अन्तसहित हैं, अनन्त नहीं हैं। कुछ काल मैं दयाचन्द या रमेश रहा, कुछ काल ऐलक के रूप में पहचाना गया, कुछ काल मुनि विशद के रूप में जाना जाता रहा और कुछ काल तक आचार्य विशद के रूप में जाना जाता रहूँगा। यही वह कालखण्ड है जो मुझे इस नर पर्याय में सम्मिलित पहचान देते हैं अन्यथा

किसी एक पद या किसी एक नाम के आधार पर तो मेरे परिचय का बार-बार अन्त हो जाता है। जबकि मेरा तो अन्त है ही नहीं; क्योंकि मैं तो शाश्वत सुख को सहज अनुभव करने वाला ज्ञान, दर्शन, चेतनायुक्त आत्मा हूँ। जैसा स्वयं तुलसीदास उक्त पद को आगे बढ़ाते हुये कहते हैं- **“चेतन अमल सहज सुख राशि।”**

लघु द्रव्यसंग्रह में कहा है-

अरसमरुव मगंधं अव्वत्तं चेदणा गुण मसद्धं।

जाण अलिंगगहणं जीवा अणियडुसंठाणं ॥

अर्थात् चेतन आत्मा सहजता से सदा सुख का अनुभव करता है। गोस्वामी तुलसीदास के कथनानुसार भी ईश्वरत्वधारी जीव चेतना लक्षण से संयुक्त होने के कारण ही शाश्वत सुख का अनुभव करने वाला है। तब फिर मैं भी शाश्वत सुख का धारी हुआ न; किन्तु शाश्वत सुख का धारी होते हुये भी मैं दुःख का अनुभव करता हूँ। तब क्या मैं चेतन आत्मा नहीं हूँ; क्योंकि चेतन आत्मा का स्वभाव ही सुखानुभूति है तब मुझे भी सुख की अनुभूति होनी चाहिये दुख की नहीं। यदि अनुभूति दुख की है अथवा सुख मिश्रित दुख की है अथवा ऐसे सुख की है जो क्षणिक है तथा जिसके बाद दुख की ही अनुभूति होनी है तब तो कहीं न कहीं गड़बड़ जरूर है। लगता है मुझे इस सुख-दुख की जड़ तक जाना होगा। तभी तो बिगड़ी बात बनेगी और गड़बड़ भी मिटेगी।

यह क्या? मैं तो अपना परिचय प्राप्त कर रहा था और पहुँच गया सुख-दुख की खोज में। क्या मेरे परिचय के साथ सुख-दुख भी जुड़ा है? इसे मैं नकार भी तो नहीं सकता; क्योंकि मेरी भी मंजिल अनन्त, अक्षय, अखण्ड शाश्वत सुख की प्राप्ति ही तो है और जब लक्ष्य निर्धारित हो जाता है तब लक्ष्य प्राप्ति का साधन भी जुटाना पड़ता है एवं लक्ष्य प्राप्ति में बाधक तत्त्वों की भी खोज करनी पड़ती है। मेरा लक्ष्य अनन्त सुख जो मेरे ही अन्दर है तब तो निश्चित ही स्वाभाविक रूप से जब मैं ही शरीर के साथ रह रहा हूँ तो शरीर ही वह साधन है जिसके माध्यम से मुझे मुझ तक पहुँचना पड़ेगा। किन्तु इससे बड़ी ताज्जुब की बात तो यह है कि जो लक्ष्य प्राप्ति का साधन है वही शरीर है अवरोध ! जो हमें हमारे लक्ष्य तक पहुँचने में रोक लगाता है।

सचमुच है न विचित्र किन्तु सत्य, जिस शरीर के माध्यम से हम स्वयं को पाना चाहते हैं वही शरीर बार-बार दुखद स्थितियाँ पैदा कर हमारे मार्ग में अवरोध बनकर खड़ा हो जाता है। जो भी दुःख होता है वह हमें शरीर के कारण ही होता है। भय भी होता है तब भी शरीर में, दर्द भी होता है तब भी शरीर में, रोग भी होता है वह भी शरीर में, तनाव भी होता है वह भी शरीर में, अस्थिरता होती है वह भी शरीर में, क्रोध भी भरता है वह भी शरीर में, कसाय में कसता भी शरीर है तो कषाय में जलता भी शरीर है। शरीर के कारण

ही आत्मा बंधन में बँधती है तथा शरीर के कारण ही आत्मा बंधन से मुक्त भी होती है। इसीलिये बंधन से मुक्ति के लिये हर हाल में इस शरीर को ही आधार बना रहा हूँ। जब शरीर आधार बनेगा तब आत्मा के साथ शरीर का परिचय तो निश्चित ही चलेगा।

शरीर से ही मुक्ति मिलती है; परन्तु किस शरीर से? क्या इसी शरीर से जिसमें इस समय मेरी आत्मा विराजमान है अथवा आगे आने वाले भव में प्राप्त शरीर से? जैन आगम में निर्धारित नियमानुसार कर्मभूमि से इस शरीर से मुक्ति संभव है; परन्तु कर्मभूमि जब काल दोष से अभिशप्त हो तब मुक्ति का मार्ग भी मुड़ जाता है। मतलब सीधी मुक्ति नहीं बल्कि इस कर्मभूमि से विदेह क्षेत्र की स्थिति कर्मभूमि में शुभ कर्म के उदय से जन्म लेकर मानव जन्म धारणकर ही मुक्ति मिलती है।

क्या है यह काल दोष जिसके कारण मुझे प्रत्यक्ष मुक्ति नहीं मिल सकती। काल को समझने के बाद हम काल दोष को आसानी से समझ लेंगे। समय को यद्यपि हम भूत, भविष्य और वर्तमान के रूप में अभिव्यक्त करते हैं; किन्तु इस अभिव्यक्ति से समय की उस निश्चितता का ज्ञान नहीं होता जिसके कारण उस समय की विशेषताओं (अच्छाइयों एवं बुराइयों) का पता चल सके। इसीलिये हमारे विद्वान् मनीषियों ने इसे बड़े पैमाने पर दो भागों में बाँटा है। वे दोनों भाग हैं उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी। दोनों ही भागों का समय निश्चित होता है, यह दोनों भाग कुल 20 कोड़ाकोड़ी सागर (1 कल्प काल) प्रमाण होते हैं तथा प्रत्येक भाग को छह-छह खण्डों में बाँटा गया है जो क्रमशः बढ़ते हुये क्रम में फिर घटते हुये क्रम में पुनः बढ़ते हुये तथा फिर घटते हुये क्रम में आते हैं। अवसर्पिणी काल में क्रमशः कालखण्ड का समय ही नहीं घटता क्रमशः शरीर की आयु एवं अवगाहना भी घटती जाती है। जबकि उत्सर्पिणी काल में शरीर की आयु एवं अवगाहना भी कालखण्डों के बढ़ते समय के अनुपात में क्रमशः बढ़ती चली जाती है। जैन आगम में उत्पन्न चौबीसों तीर्थकर भी इसी मर्यादा में बँधे रहते हैं तथा उनकी आयु एवं अवगाहना भी निश्चित कालखण्ड में निश्चित अनुपात में होती है। यही नहीं तीर्थकरों के पुत्रों का जन्म तथा चतुर्थ दुखमा-सुखमा काल में ही जन्म और परिनिर्वाण होता है।

कालखण्डों की यह स्थिति सदा सर्वदा ऐसी ही नहीं रहती बल्कि इसमें दोष आता है निश्चित काल खण्डों से हटकर जन्म अथवा मृत्यु हो सकती है तथा तीर्थकर पुत्री के पिता भी बन जाते हैं। काल के इसी दोष को हुण्डा कहते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी कालभाग को इसी आधार पर हुण्डावसर्पिणी कहते हैं। कालभाग को छह खण्डों **सुखमा-सुखमा, सुखमा, सुखमा-दुखमा, दुखमा-सुखमा, दुखमा एवं दुखमा-दुखमा** में विभाजित किया गया है। अवसर्पिणी कालभाग के कालखण्ड क्रमशः सुखमा-सुखमा से प्रारम्भ होकर घटते हुये दुखमा-दुखमा कालखण्ड तक पहुँचते हैं जबकि उत्सर्पिणी कालभाग के कालखण्ड क्रमशः दुखमा-दुखमा से प्रारम्भ होकर सुखमा-सुखमा तक पूर्ण होते हैं।

जैनेतर हिन्दू धर्म में भी सतयुग, द्वापर एवं त्रेता, कलयुग में बाँटा गया है। काल के कलयुग का प्रारम्भ दुखमा से प्रारम्भ होकर दुखमा-दुखमा तक पहुँचता है। वर्तमान कलयुग का पूर्व मध्याह्न काल है। कलयुग में जहाँ भावों पर पूर्ण नियंत्रण नहीं होता वहीं वज्रवृषभ-नाराचसंहनन नहीं होने से मुक्ति संभव नहीं है। संहनन की दृढ़ता के अभाव में परिषह सहना मुश्किल होता है और जब तक परिषह सहते हुये भावों को स्थिर नहीं किया जाएगा तब तक शरीर से मोह बना रहेगा। मोह एवं मुक्ति दोनों एक साथ तो संभव नहीं है। संहनन की दृढ़ता के अभाव में परिषह सहना मुश्किल होता है और जब तक परिषह सहते हुये भावों को स्थिर नहीं किया जाएगा तब तक शरीर से मोह बना रहेगा। मोह एवं मुक्ति दोनों एक साथ ही संभव नहीं।

मेरा भी वज्रवृषभ नाराच संहनन नहीं है इसका मतलब यह नहीं कि मैं भाव स्थिर करने का प्रयास ही नहीं करूँ। भले कालखण्ड का दोष हो, संहनन हीन हो; किन्तु मेरे अन्दर मेरी मुक्ति का जज्बा जब से जागृत हुआ है मैं भावों को स्थिर करने का संपूर्ण प्रयास कर रहा हूँ जो मुझसे संभव है। किन्तु आगे की यात्रा जब भविष्य के गर्भ में निहित है और मुझे खोज करना है मेरे परिचय को। ऐसी स्थिति में भविष्य की ओर तो उन्मुख हुआ नहीं जा सकता; क्योंकि भविष्य का ज्ञान तो केवलज्ञानी के पास ही सुरक्षित है तब क्यों न परिचय की खोज उस भूतकाल से प्रारम्भ करूँ जहाँ से मुझे इसका ज्ञान है।

हाँ, मैं जिसके बारे में लिख रहा हूँ और कह रहा हूँ लगता है वह भी मेरा शुद्ध परिचय नहीं मिलावटी परिचय है। घी से भरे घड़े को व्यवहार से घी का घड़ा कहा जाता है जबकि घड़ा तो मिट्टी से बना है, घी तो उसमें बाहर से भरा गया है। लगता है मुझे भी व्यवहार से काम चलाना पड़ेगा तथा चेतन गुण से भरे इस पौद्गलिक शरीर को ही मेरा शरीर कहकर काम चलाना पड़ेगा। जबकि शरीर तो जड़ है तथा जड़ पदार्थों से बना है। हाँ, चेतन बाहर से आया है इसीलिये इस शरीर को चेतन का शरीर कहा गया है और मुझे भी अपने परिचय का कार्य इसी काय से करना ही होगा।

किस काय से प्रारम्भ करूँ अपना परिचय? इस जन्म से पूर्व के जन्मों में प्राप्त काय का तो मुझे स्मरण नहीं अतः इसी जन्म को अपना आधार बनाकर परिचय प्रारम्भ कर रहा हूँ। किन्तु काय के परिचय से क्या मुझे मेरा परिचय मिल जाएगा, यह कहना शायद जल्दबाजी होगी। फिर भी विश्वास है कि पूर्ण परिचय प्राप्त हो न हो; परन्तु वास्तविक परिचय के पास तो अवश्य पहुँच सकूँगा और परिचय के माध्यम से मेरे भी तो स्मरण में आयेंगी वह घटनायें, वह परिस्थितियाँ और वह वास्तविकतायें जो किसी के भी जीवन में अपनी अमिट छाप छोड़ती हैं तथा किसी के भी जीवन की दिशा और दशा बदलने की क्षमता रखती हैं। इससे शुभ और क्या होगा कि मेरी ही तरह यदि आप के जीवन का पथ निजकल्याण की ओर अग्रसर होगा तब निश्चित मेरा परिचय नहीं रह जाएगा अपितु मेरे साथ-साथ आपका भी अपना परिचय बन जायेगा तथा आपको भी मेरे जीवन के प्रेरक प्रसंगों की तरह अपने ही जीवन के उपयोग प्रसंग याद आ जायेंगे जिससे आपका जीवन भी सम्यक्त्व और अध्यात्म से महक उठेगा।

मुझे महाव्रतों के धारण करने के साथ ही भय से मुक्ति मिल गयी है और मेरे बारे में कोई क्या कहता है यह भी मेरा विषय नहीं, फिर भी मैं स्वयं मेरे ही बारे में क्या सोचता हूँ और क्या मान्यता रखता हूँ, यह अप्रगट रहे यह संभव नहीं। किन्तु इसमें किसी भी तरह से यश की कामना निर्मूल है। महात्मा गाँधी और गणेशप्रसाद वर्णी जी महाराज भी अपने जीवन्त जीवन परिचय से महान् बने तथा यश को प्राप्त हुये न कि अपने ही ऊपर लिखी अपनी ही जीवन गाथा से। सम्यक्दर्शन का वात्सल्य अंग महाव्रती का आवश्यक अंग है और स्वयं तीर्थकर प्रभु की दिव्यदेशना भी जग के कल्याणार्थ वात्सल्य भाव से ओत-प्रोत करुणा सहित प्रगट होती है और उसे ग्रहणकर असंख्यात जीव अपना कल्याण कर लेते हैं। तब फिर मेरे अन्दर का साधुत्व भी तो उन्हीं तीर्थकर प्रभु का अनुयायी है। उन्हीं के चरण-चिह्नों पर चलकर स्वयं का तो कल्याण कर ही रहा है साथ ही जगत् के लिये भी किंचित् कल्याण का कारण कहा जाय, बन जाय या हो जाय तब इसमें क्या आश्चर्य है? हाँ, साधु का जीवन यदि परोपकारी नहीं बन सका तब अवश्य आश्चर्य का कारण बन जायेगा तथा उस सूखी नदी की भाँति होगा जो जलविहीन होने से जगह तो बहुत घेरती है किन्तु प्यास किसी की भी नहीं बुझाती। चाहे फिर वह मनुष्य हों, पशु हों, फसल हों या खेत हों। भला ऐसे कोरे कागज की तरह जीवन का क्या जीना? अच्छा हो साधु अपने साथ-साथ जग का भी कल्याण करें। जगत् के कल्याण का कारण बने तथा जगत् का उद्धार करते हुये स्वयं का भी उद्धार कर ले **“स्वयं तरे औरों को तारें”** यही साधुत्व है। निश्चित ही साधु होने से मेरा भी यही उद्देश्य है, यही प्रयास है, यही पुरुषार्थ है, यही मंगल भावना है, यही मंगल कामना भी है।

अब इसी मंगल कामना और मंगल भावना सहित प्रारम्भ कर रहा हूँ गृहस्थ जीवन की आरम्भ यात्रा को, जहाँ से वर्तमान मानव जीवन का शुभारम्भ हुआ। दयाचन्द में दया का चन्द्रमा सचमुच ऐसा प्रगट हुआ कि अपनी निर्मल किरणों से उसके जीवन को रोशन कर गया। रमेश (दयाचन्द) की तरफ यात्रा को ले जाने की अपेक्षा अच्छा होगा कि मैं **भरोसेलालजी के उस खण्ड भरोसे को कायम कर सकूँ**, जिससे मेरा जीवन खण्ड-खण्ड होने से बच गया और आज स्वयं सहित दूसरों के भी भरोसे के काबिल हो सका। भरोसे को इसी बुनियाद पर रख रहा हूँ अपनी जीवन-यात्रा के उन खण्डों को जिन पर चलकर मुझे यात्रा को अन्त तक नहीं बल्कि अनन्तानन्त तक ले जाना है।

विश्व में शक्ति की अपेक्षा अमेरिका सर्वश्रेष्ठ है, तकनीक की अपेक्षा जापान सर्वश्रेष्ठ है, आबादी की अपेक्षा चीन सर्वश्रेष्ठ है, फैशन की अपेक्षा फ्रांस सर्वश्रेष्ठ है, न जाने किन-किन अच्छे और बुरे गुणों की अपेक्षा कौन-कौन से राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ या आगे हैं। रही बात भारत की तो **अध्यात्म की खोज और उसके वितरण तथा शांति की उपासना एवं अहिंसा की भावना की अपेक्षा भारत विश्व में सर्वश्रेष्ठ है, अग्रगण्य है, विश्व को नेतृत्व प्रदान करने वाला जगद्गुरु है।** दुनियाँ में कई ऐसे देश हैं जहाँ पूँजीवादी अपने अहंकार में धर्म और धार्मिक मान्यताओं को वैज्ञानिकता के तर्कों के सहारे न सिर्फ ठुकराते हैं अपितु

ढोंग और ढकोसला कहकर अपमानित भी करते हैं। परन्तु जब उनसे अपने ही देश में छाया अशांति और हिंसा संभाले नहीं संभलती तो मजबूरन भारत की तरफ टकटकी लगाकर देखते हैं। भारत का अध्यात्म वह सर्वशक्ति-संपन्न उपाय है जिसमें विश्व की हर समस्या का समाधान निहित है। अध्यात्म को वही प्राप्त कर पाता है जो अपने अन्तर में उतर पाता है। अन्तर में वही उतर सकता है जो बाहर से अपने को मुक्त कर लेता है। बाहर से मुक्ति का मतलब शरीर और शरीर से संबंधित समस्त सुख और सामग्री का परित्याग है।

मगर अफसोस कि भारत के ही उदर से उत्पन्न होने वाला पाकिस्तान विश्व में सबसे आगे है तो आतंकवाद में। जहाँ न इंसान की कीमत है न इंसानियत की। कहने को तो पाकिस्तान एक धार्मिक राष्ट्र है, वहाँ सभी इस्लाम धर्म को मानने वाले हैं; किन्तु इस्लाम के नाम पर कुछ कथित कट्टरवादी धर्म का जिस तरह मखोल उड़ा रहे हैं उससे तो स्वयं इस्लाम धर्म का ही अहित कर रहे हैं। आखिर धर्म के नाम पर खुले आम हिंसा का तांडव, निर्दोष मासूमों की नरबलि सचमुच यही धर्म है तो ऐसे धर्म से तौबा। इस्लाम के मानने वाले कुछ अतिवादी, भले ही हिंसा की पुष्टि करें परन्तु इस्लाम धर्म तो धर्म है और धर्म में कभी भी हिंसा को मान्यता प्रदान नहीं की गयी। धर्म कभी अपराध करने की प्रेरणा नहीं देता, धर्म तो अपराधियों को भी क्षमा कर उन्हें सुधरने और अहिंसा तथा सत्य के पथ पर चलने का अवसर उपलब्ध कराता है। धर्म जीवन के उस सत्य का परिचय कराता है जिससे हमारी आज तक चली आ रही मूढ़ मान्यता खण्डित हो जाती है तथा व्यक्ति पर को जीतने का भाव ही त्यागकर पर से पराङ्मुख हो स्वयं को पहचानने का प्रयास करता है। स्वयं में आयी बुराइयों और विकृतियों को निकालकर स्वयं पर ही विजय प्राप्त करने का प्रयास करता है।

पाकिस्तान की तरह आत्मा से उत्पन्न होने वाले विभाव भी आत्मा के अहित का कारण बनते हैं। अपनी ही क्रोध की प्रचण्ड अग्नि में आत्मा के शीतल स्वरूप को जलाकर स्वाहा कर देते हैं। मान में इतने ऊँचे उठ जाते हैं कि सत्य, अहिंसा, प्रेम, प्यार, वात्सल्य को भूलकर जाति और धर्म के नाम पर नफरत की इतनी ऊँची दीवार खड़ी करते हैं कि स्व-स्वरूप का विनाश कर डालते हैं। अपने ही धर्म की श्रेष्ठता का लोभ इस कदर संवरण करते हैं कि असत्य पर आधारित साहित्य को मायाचार के वशीभूत होकर सत्य का प्रतीक बताकर प्रचारित करते हैं तथा दूसरे धर्म और उसके मानने वालों को अपना धर्म मानने को विवश करते हैं। जगत् में जितने भी ऐसे धर्म के अनुयायी हैं वे वास्तव में धर्म के नाम पर अधर्म के ही पोषक हैं। इस्लाम हो या ईसाइ अथवा बौद्धधर्म के अनुयायी जो मात्र अपनी संख्या बढ़ाने के नाम पर भय या लालच का सहारा लेते हैं वह आत्मा का अहित ही करते हैं। दूसरों की श्रद्धा व भावना से खिलवाड़ करते हैं।

इस प्रकार धर्मान्तरण भारत जैसे देश में सदैव होता रहा है। बाहर से आये आताताइयों ने न सिर्फ हमारे धन और दौलत को लूटा बल्कि हमारी अस्मिता, हमारी संस्कृति, हमारे वैभव, हमारा धर्म सब कुछ तो लूटा। यहाँ तक कि हजारों वर्षों तक हमें गुलामी की जंजीरों में जकड़े रखा; परन्तु जिस तरह सोने को जितना भी अग्नि में डालो उतना ही खरा बनकर निखरता है उसी तरह यह जैनधर्म भी हजारों लाखों वर्ष

तक क्रूर आक्रमणकारियों के आक्रमण और आतंक को झेलता रहा परन्तु उसने अपने अन्तर में छुपी सम्यक्त्व की सुरभि को सूखने नहीं दिया। **हर बार जैनधर्म भारतवर्ष की आत्मा बनकर प्रगट हुआ। चाहे राजा शिवकोटी द्वारा समन्तभद्र की परीक्षा हो या मुनि मानतुंग की बेड़िया अथवा अकलंकदेव की आस्था; हर जगह जैनधर्म ने अपने अस्तित्व को ही प्रगट नहीं किया, अपने तेज और अपने सत्य से जगत् में छायी मिथ्यात्व की अंधेरी धारणाओं को तहस-नहस भी किया। सबसे ऊँचे धर्म के अपने झण्डे को कभी भी झुकने नहीं दिया।**

दिगम्बर जैन आमनाय का कोई भी साधु हो समाज तो उसे अपना आदर्श मानता है, उसे पंच परमेष्ठी में गर्भित करता है। अपना आराध्य, अपनी श्रद्धा का केन्द्र मानते हुये अपने परम इष्ट के प्रति पूर्ण समर्पण करना चाहता है। जो कुछ भी उसके निर्मल मन में होता है वही रूप वह अपने पूज्य साधुओं में पाना चाहता है, देखना चाहता है। परन्तु उसके मन-मस्तिष्क में वेदना की लहर दौड़ जाती है जब वह अपने ही आदर्श, अपने ही पूज्य और अपने ही आराध्य गुरुओं को परस्पर कषाय से भरे भावों में देखता है। एक साधु जहाँ रुका है वहाँ पर दूसरा साधु आ जावे तब तो हर्ष और आनन्द की मात्रा बढ़नी चाहिये; क्योंकि प्रत्येक साधु का अपना ज्ञान होता है, अपना दर्शन होता है और अपना चारित्र होता है। इसी के साथ यह भी नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक साधु को अपने आगम को एवं अध्यात्म को अभिव्यक्त करने की अपनी ही शैली होती है। इसीलिये कभी-कभी एक के द्वारा बतायी गई बात कम समझ में आती है तो दूसरे की अधिक एवं कभी-कभी एक की बात समझ में आ जाती है तो दूसरे की नहीं।

स्वयं ही स्पष्ट है कि साधु एक हो तो वह अपनी बात भले अपने अच्छे ढंग से रखता है; किन्तु दूसरे साधु के अभाव में हम कैसे निर्णय कर सकते हैं कि बात की गुणवत्ता, बात की कीमत, बात का महत्त्व तथा बात में सत्यता कितनी है? इसका अर्थ सीधा है कि साधु, साधु का पूरक है प्रतिरोधक नहीं है। साधुओं की संख्या कितनी है, यह भी महत्त्वपूर्ण नहीं है; क्योंकि एक तो सभी साधु किसी विषय पर बोलते नहीं, दूसरे बोलते भी हैं तब अपने गुरु अथवा अपने से वरिष्ठ साधु की स्वीकृति लेकर। तब फिर एक संघ का सम्मान आज तक दूसरे संघ का सम्मान क्यों नहीं बन पाया ?

आज भी संघ से संघ में, साधु से साधु में उच्चता, लघुता, सम्मान, श्रेष्ठता की अघोषित प्रतिद्वन्दिता यद्वा-तद्वा देखने-सुनने में आ जाती है, जो पूरी तरह बन्द होना चाहिये। सभी को सम्मान मिले, सभी के मत की कीमत हो तथा आगम के अनुकूल चलने हेतु शास्त्र सम्मत दिशा-निर्देश का पालन अनिवार्य हो। अनुशासन में न रहने वालों को सुधार हेतु श्रेष्ठ तथा वरिष्ठ साधुओं का मार्गदर्शक मंडल हो। जो अवसर पड़ने पर कठोर से कठोर प्रायश्चित्त अथवा दंडात्मक कार्यवाही कर साधु को पुनः साधुत्व पर लाने हेतु सक्षम हो।

एक तरफ तो जैन आगम कहता है कि एक साधु चारित्र से पतित हो तब भी उसे मिटाने की अपेक्षा सुधारने का मार्ग अपनाना चाहिये। दूसरी तरफ आगम को ही अपनी श्रद्धा और ज्ञान का आधार बताने वाले किसी साधु कथा संघ को ही साधु मानने से इन्कार करें अथवा उनके सम्मान को गिराने या उपेक्षित करने का प्रयास करें तब इस तरह के अप्रिय प्रसंगों से समाज में तो विघटन होगा ही साधुओं के बीच भी विघटन की दीवार खड़ी हो जाएगी।

समाज में कभी भी विघटन को न तो सम्मान दिया गया न श्रेष्ठता। फिर भी 'अपनी ढपली अपना राग' अलापने वालों ने अपने को ही सत्य शेष सभी को असत्य घोषित करते हुये न जाने कितने भेद-प्रभेद जैन समाज एवं जैनधर्म में पैदा कर दिये हैं तथा अपने सम्मान को प्रभु के सम्मान से भी बड़ा बनाते हुये स्वयं को स्वयंभू घोषित करने में भी न तो संकोच किया न शक; किन्तु हम सभी धर्म के सच्चे भक्तों को तो कृत संकल्प होना चाहिये कि हम अब कभी भी इन विघटनकारी तत्त्वों के चंगुल में नहीं आयेगे तथा एक साधु की कीमत पर दूसरे साधु का अपमान या सम्मान भी नहीं करेंगे अपितु साधु को साधु ही समान रूप से स्वीकार करेंगे।

धन्य हैं, गुरुवर आचार्य वात्सल्य सम्राट आचार्य श्री विरागसागरजी महाराज, जिनके द्वारा दीक्षित गुरुवर आचार्य वात्सल्य दिवाकर, मानवता विभूषण क्षमामूर्ति श्री विशदसागरजी महाराज एवं अन्य समस्त वह वात्सल्य मूर्ति आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण जो सदैव समान पदधारी का तो सम्मान करते ही हैं। अपने से श्रेष्ठ या उच्च पदधारी को बहुमान प्रदान करते हैं एवं अपने से लघुपद धारी का भी समुचित सम्मान करने में संकोच नहीं करते।

यही कारण है कि जब भी वात्सल्य के इन महान् सागरों का सम्मान सहित मिलन होता है तब खुशी मिश्रित आश्चर्य के आँसू आँखों में सहज ही आ जाते हैं एवं सम्मान के पाठ साधु के साथ यथोचित सम्मान नहीं होता तब दुख एवं क्षोभ मिश्रित पीड़ा से हृदय भर आता है। किन्तु मैं इस विषय पर अधिक नहीं बोलूँगा बल्कि इसके समाधान की उनसे ही अपेक्षा रखूँगा जिनसे सभी अपेक्षा रखते हैं एवं जो प्रत्यक्ष संबंधित हैं इस विषय से। ईश्वर करे कि सभी के अन्दर विवेकसहित निर्णय करने का मानवतावादी वात्सल्य, प्रेम एवं प्यार भरा दृष्टिकोण हो। भेदभाव रहित पर का सम्मान, बहुमान का भाव हो। कहा भी है—

**जिन्दागी में प्यार की सरगम भी होना चाहिए।
मन में अपने दूसरों का गम भी होना चाहिए॥
इन्सान ही इन्सान की पीड़ा समझते हैं।
नेत्र दुःख में दूसरों के नम भी होना चाहिए॥**

उसी पवित्र पावन धरा भारतवर्ष में मुझे इस मनुष्य पर्याय में जन्म मिला। यही मेरा इस जन्म का

सौभाग्य है। मेरा परिचय भी भारतवर्ष की महानता के परिचय से प्रारम्भ हो भला इससे शुभ आरम्भ और क्या होगा? भारत के परिचय के साथ-साथ मेरा परिचय भी स्वतः मुखरित होता जायेगा। धर्मगुरु महान् भारत देश के नाम के पीछे सभी को ज्ञात तीन भरत के नामों की कथा प्रचलित है। सर्वप्रथम आदिनाथ के पुत्र चक्रवर्ती भरत का नाम लिया जाता है जिन्हें चक्रवर्तित्व प्राप्त करने के लिये अपने ही अनुज बाहुबली पर चक्रसुदर्शन का प्रहार करना पड़ा था फिर भी युद्ध में पराजित रहे। स्वयं बाहुबली को ही भाई के राज्य के प्रति इस तरह गहरी लालसा से राज्य से और रिशतों से ही विरक्ति हो गयी और दीक्षा धारण कर ली। स्वयं भरत को महाव्रती बाहुबली के समक्ष आकर नतमस्तक होना पड़ा और बाहुबली को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। भरत का मन भी इस घटना से इतना क्षुब्ध हुआ कि राजसुख भोगते हुये भी जोगी बन गये और घर में ही संयम की साधना इतनी की कि वस्त्र उतारते ही भरत को केवलज्ञान हो गया। उसी महान् भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत चला।

द्वितीय भरत हैं शकुन्तला के पति भरत। जो बचपन से ही इतने निर्भीक और शक्तिशाली थे कि शेरनी के बच्चों के साथ खेला करते थे। जिनका नाम सुनते ही साधारण जन काँपने लगते हैं। उन्हीं भरत को आश्रम की छात्रा शकुन्तला से प्यार हुआ तो उसे अपनी निशानी के रूप में हाथ की अँगूठी दे दी। कुछ काल बीतने पर वह इस घटना को भूल गये मगर समय ने पलटा खाया और शकुन्तला अपनी प्यार की गुहार लगाती हुयी राजदरबार में उपस्थित हुयी, फिर भी भरत उसे पहचान नहीं सके। शकुन्तला के हाथ की अँगूठी दिखलाते ही किसी भी प्रकार के छुआछूत, ऊँच-नीच या जाति-पांति का भेद किये भरत ने शकुन्तला को अपनाया और पटरानी पद से विभूषित किया। इसी महान् भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा।

तृतीय भरत के भातृप्रेम एवं समर्पण तथा राजसत्ता की विमुखता के बारे में कौन नहीं जानता। राजा दशरथ के चार पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न थे। दशरथ राजा को संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति हुयी तो उन्होंने ज्येष्ठ पुत्र राम को राजा घोषित कर राजतिलक की तैयारी शुरू कर दी। मगर होनी को यह मंजूर नहीं था इसीलिये दासी मंथरा के बहकावे में आकर रानी कैकयी ने ऐसा षडयंत्र रचा कि त्रियाचारित्र के आगे पति विवश हो गया। राजतिलक के स्थान पर राम को वनवास हो गया और आज्ञाकारी राम हँसते-हँसते वन को भी चले गये। साथ में भार्या सीता एवं अनुज लक्ष्मण भी भारी रुकावट के बाद भी वन में गये। इस घटना का पता भरत को ननिहाल से लौटने पर चला तब उनके दुख और शोक का पारावार नहीं रहा। जिस माँ के कारण उन्हें राजपद मिल रहा था, उसी माँ को उसी पुत्र के मुख से जो वचन कठोरता के रूप में सुनने को मिले, उससे उस माँ की कोख तार-तार हो गयी। सदा सर्वदा के लिये ताड़ित, पीड़ित, अपमानित एवं कलंकित हो गयी। सारी लालसा, समस्त आशा, सम्पूर्ण अभिलाषा आँसूओं के माध्यम से नदी के तीव्र प्रवाह की तरह बह गयी; परन्तु भरत के अन्दर प्रज्वलित क्रोध की अग्नि तो प्रायश्चित्त का

रूप धारण कर चुकी थी। इसीलिए भाई राम के लाख मनाने पर भी राजपद भरत ने स्वीकार नहीं किया; अपितु उस पवित्र राजसिंहासन पर बड़े भाई राम की चरण-पादुका को ससम्मान विराजमान किया। नित्य उन्हीं की रज निज मस्तक पर धारण कर राज्य का संचालन राजप्रतिनिधि के रूप में पूरे चौदह वर्ष तक करते रहे। ऐसे ही महान् त्यागी संत और समर्पित आत्मा भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा।

यद्यपि तीन अलग-अलग कालखण्डों में हुये तीन भरत के नाम पर विश्व के सर्वश्रेष्ठ धर्मगुरु भारत का नाम भारत पड़ा, यह परिचय तो हमें प्राप्त हो गया। भरत से पूर्व भी भारत का कोई तो नाम रहा होगा, इसे बताने के लिये जैन आगम का आदिपुराण पूर्ण सक्षम है। भगवत जिनसेनाचार्य के अनुसार प्रथम चक्रवर्ती भरत के पिता आदिनाथ एवं दादा नाभिराय के समय में भारतवर्ष का नाम अजनाभ वर्ष था। जो राजा नाभिराय के नाम पर रखा गया था।

भारत की आत्मा भी भोग और आराम में नहीं, त्याग और संयम में बसती है। यहाँ मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तक व्रतों को ग्रहण कर देश संयम का पालन करते हैं। आदिपुत्र चक्रवर्ती भरत भी अपने पूर्व जन्म की पर्याय में सिंह थे तथा मुनिदर्शन के निमित्त मात्र से हिंसा से विरक्त हो गये। हिंसा ही नहीं छोड़ी अपितु उस व्रती सिंह ने तो भोजन भी त्याग कर एक पत्थर की शिला पर बैठकर लगातार कई दिन तक कठोर तपश्चरण भी किया। तपश्चरण से प्राप्त आत्मस्थिरता ने हिंसक को अहिंसक बना दिया, पशु को पावन बना दिया, मिथ्यात्व का नाश कर सम्यक्त्व का सूर्य उद्भूत हुआ। फिर क्या था पशु पर्याय ऐसी विच्छेद हुयी कि फिर कभी तिर्यच नरकायु में गमन ही नहीं हुआ। देवपर्याय से चयकर व्रती सिंह का जीव भरत चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न हुआ तथा जीवन भर गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुये भी व्रतों में रत रहते हुये संयम को धारण किया। वही भरत, भारत की आत्मा बनकर प्रगट हुआ तथा केवलज्ञान को प्राप्तकर साक्षात् मुक्ति-वधू का वरण किया। कहा भी है-

**सुलझे पशु उपदेश सुन क्यों ना सुलझे पुमान ।
केहरि से हुए वीर जिन, गज पारस भगवान ॥**

उसी महान् भरत के नाम पर प्रचलित देश महान् भारत में सिर्फ जैन आगम कथित चौबीस तीर्थंकर ही नहीं हुये, मर्यादा पुरुषोत्तम राम का जन्म भी मर्यादा प्रसूत जननी भारत में ही हुआ। राग-रंग और विविध कलाओं के प्रतीक श्रीकृष्ण को जन्म देने का गौरव पाने वाली भी पावन धरा भारत ही है। कभी विश्व के विभिन्न देशों में 'बुद्ध शरणं गच्छामि' का महामंत्र प्रदान करने वाले गौतम बुद्ध का जन्म भी इसी पवित्र कुच्छी भारत में ही हुआ। इनके अलावा अन्य जितनी महान् और पवित्र आत्माओं का जन्म इस पवित्र धरा-धाम पर हुआ उसका लिखना न तो शक्य है न संभव। परिचय का परिचय इतने संकेतों में ही पर्याप्त है।

भारत का हृदय प्रदेश कहलाने का श्रेय प्राप्त है मध्यप्रदेश को तथा जिसमें प्रति बारह वर्ष बाद लगने वाले महाकुंभ के प्रतीक महाकालेश्वर उज्जैन नगरी में क्षिप्रा नदी के किनारे बसते हैं। पवित्र नर्मदा नदी जिससे प्राप्त संगमरमर से स्वयं प्रभु के पावन स्वरूप का निर्माण किया जाता है तथा जिसके जल से स्नानकर मन को निर्मल किया जाता है। विश्व की सर्वाधिक उत्तंग महामूर्ति बावनगजा भी आदिनाथ/बाहुबली के रूप में मध्यप्रदेश में ही स्थित है। विश्व में अद्वितीय तथा भोगविद्या तथा कामकला के प्रेरक एवं आकर्षक मन्दिर चन्देल राजाओं द्वारा निर्मित जिला छतरपुर स्थान खजुराहों में ही तो स्थित है। चन्देरी की जड़ाऊ साड़ी ही नहीं अद्भुत दिगम्बर जैन चौबीसी मन्दिर तथा खन्दारगिरि, थूवोनजी स्थित विस्मयकारी दिगम्बर जैन मन्दिर भी तो मध्यप्रदेश में ही हैं। जैन और हिन्दू संस्कृति का अद्भुत समागम लिये भोजपुर तो बेतवा के किनारे अपने-अपने अन्तर में भगवान शिव और भगवान शांतिनाथ के अद्भुत मन्दिर के रूप में मध्यप्रदेश की कीर्ति बढ़ा रहा है। पन्ना में निकलते अमूल्य हीरे तो साँची में दमकते स्तूप, विदिशा उदयगिरि में छुपी गुफायें, पर्यटक स्थल पंचमढ़ी, भीम बैठका, भीम कुण्ड भी मध्यप्रदेश की शान है। इन्दौर का काँच मन्दिर, शिवपुरी अभ्यारण्य भी तो मध्यप्रदेश की ही कथा कहते हैं। नर्मदा में गिरते जल प्रवाह से उठते धुरें की धारा को धुआँधार नाम से प्रसिद्ध जबलपुर में पिसनहारी के द्वारा बनवाया गया मंदिर अपनी पहिचान एवं धर्म के प्रति समर्पण का श्रेष्ठ उदाहरण है। श्रेयांसनाथ की स्मृति दिलाने वाला तीर्थ श्रेयांसगिरि भी है।

मध्यप्रदेश के इतने परिचय के साथ ही पहुँच रहा हूँ जहाँ साधक का पूर्व जन्म अर्थात् राशि नाम दयाचन्द्र एवं प्रचलित नाम रमेश का जन्म हुआ। कुपी हॉ, कुपी ग्राम जो जिला छतरपुर की तहसील बिजावर में स्थित है। ग्रामीण परिवेश की भाषा में कहलाने वाली लघु सरिता वराना के किनारे बसा कुपी गाँव। चारों तरफ ऊँची पहाड़ियाँ और पहाड़ियों में निकलती हल्की-हल्की पगडंडियाँ किसी शहरवासी को एक खौफनाक स्वप्न है। यही पगडंडियाँ ग्रामीणों के जीवन का हिस्सा हैं। इन पगडंडियों पर वाहन चलना तो दूर पैदल चलना भी मुश्किल होता है। ग्रामीणों का मन बहुत कठोर होता है तथा मीलों लम्बी ऊँची-नीची उबड़-खाबड़ इन्हीं सकरी गलियों में भारी बोझ कंधे या सिर पर रखकर हँसते-हँसाते पसीना बहाते खुशी-खुशी अपना सफर पूर्ण करते हैं। इन्हीं गलियों की धूल में चल-चलकर और दौड़-दौड़कर तो मेरा भी बचपन बीता है। कभी पत्थर की ठोकर खायी तो कभी चलते-चलते पैर फिसल गया। मगर इन ठोकरों से न मन विचलित हुआ और न ही इस धूल से मन मलीन हुआ। **“हाँ, बचपन की वह ठोकरें मुझे याद आती हैं तथा जीवन में मिली ठोकरों से मुकाबला करने की हिम्मत बँधाती हैं।”**

बचपन की कुछ ऐसी भी यादे हैं जिनका मुझ पर गहरा असर हुआ। वह यादे आज भी ताजी हैं मगर 'कुछ भूली, कुछ बिसरी सी'।

(1) भूली-बिसरी यादें बचपन की :-

नदी किनारे मैं और मेरे साथी मिट्टी निकालकर एक-दूसरे पर फेंकते जाते तथा जिस पर भी मिट्टी गिरती शेष सभी खिल-खिलाकर हँस पड़ते। जिस पर मिट्टी गिरती वह भी मिट्टी उठाकर दूसरों पर फेंकता और खुद खिल-खिलाकर हँसने लगता। लगभग मिट्टी में लिपटे सभी बालक नदी में घुसकर स्नान करने लगे, अचानक एक बिच्छू जल में तैरता हुआ दिखा। बिच्छू को देखते ही मेरे साथियों ने उसे निकालकर जान से मारना चाहा। मैंने तुरन्त सभी को रोकते हुये बिच्छू की जान बचायी। फिर भी मेरे साथियों ने उसकी पूँछ में लगा जहरीला डंक अलग कर दिया। डंक अलग कर बिच्छू को स्वतंत्र विचरण कर छोड़ दिया ताकि उसके विष से किसी को नुकसान नहीं पहुँचे। काश कि हम सब भी अपने मन का विष अलग कर स्वतंत्र विचरण करते। निश्चित ही विषयों के विष से रहित होते हम कभी किसी की पीड़ा का कारण नहीं बनते।

एक मित्र के घर पर क्यारी को खोद कर मिर्च और टमाटर के पौधों को लगाया जा रहा था। गड्डे खोदते तो उसमें छोटी-बड़ी आकृति के केंचुए निकलते। केंचुए को खेती के लिये वरदान माना जाता है; क्योंकि केंचुए जमीन को भुर-भुराकर उपजाऊ बनाते हैं। मगर केंचुओं की बदकिस्मती तो देखो उन्हें देखते ही पक्षी झपटकर अपने मुँह का निवाला बना लेते हैं। शिकारी भी वंशी में बेदर्दी से केंचुए को फँसाकर मछली पकड़ा करते हैं। मेंढक भी केंचुए के लालच में अपना मुँह वंशी में फँसा बैठता है। स्वयं सर्प चतुर प्राणी होते हुए भी केंचुए को खाने के लालच का त्याग नहीं कर पाता तथा व्यर्थ अपनी जान गँवा बैठता है। केंचुए की बात को लेकर मेरे लिए एक जोक याद आया- **मैं मरा तेरे लिए तू न मर मेरे लिए, यदि तू मरी मेरे लिए तो ऊपर खड़ा तेरे लिए।** केंचुआ मछली से कहता है- **मैं मरा तेरे लिए तू न मर मेरे लिए, यदि तू मरी मेरे लिए तो ऊपर धीवर खड़ा तेरे लिए।** केंचुए की इस दुर्गति के अलावा एक ऐसी दुर्गति भी मैंने देखी कि मेरे मुँह में उँगली दबी की दबी रह गयी। मेरे साथी ने क्यारी खोदते हुए फावड़ा चलाया और फावड़ा चलते ही एक केंचुए के दो टुकड़े हो गए। मगर यह देखकर मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि दोनों टुकड़े पुनः बिना मिले गतिमान हो गये, बजाय मरने के दोनों जीवन्त रहे। ऐसा भी हो सकता है, यह सोचकर मैं आज भी आश्चर्यचकित रह जाता हूँ। मेरे मन में उसी समय विचार आया कि मैंने देखा वो वास्तव में सच है तो उसकी पुनः पुष्टि कर लूँ। मेरा यह विचार, विचार ही रह गया, उसकी पुष्टि नहीं हो सकी; क्योंकि मेरा मन इसके लिए तैयार ही नहीं हुआ कि मैं किसी केंचुए के दो भाग कर सकूँ।

आज की शिक्षा पद्धति तो पूरी तरह चीड़-फाड़ पर ही आधारित है। चिकित्सा पद्धति में डॉक्टर तैयार करने के लिये न जाने कितने निर्दोष प्राणियों की परीक्षण के नाम पर बलि चढ़ाई जाती है। कभी काँकरोच, कभी मछली, कभी मेंढक, कभी सर्प, कभी छिपकली, कभी चूहे, कभी बन्दर तो कभी-कभी जीवित मनुष्य पर भी विष भरे परीक्षण किये जाते हैं। उनके अंगों को मात्र चीरा-फाड़ा नहीं जाता अपितु

उनका हृदय तक विदीर्ण कर दिया जाता है। पहले भी सुशैन वैद्य और धन्वन्तरी जैसे महान् पूर्ण कुशल चिकित्सक हुये हैं। **विस्मयकारी बात तो यह है कि उन्होंने अपने जीवन में हजारों, लाखों प्राणियों को जीवन दिया, लिया नहीं। न चिकित्सक बनने से पूर्व, न चिकित्सक बनने के दौरान और न ही चिकित्सक बनने के पश्चात् किसी भी प्राणी के शरीर का छेदन-भेदन परीक्षण के लिये या पढ़ाई के लिये कभी भी नहीं किया।** यही तो कारण है, पहले चिकित्सक के मन में मानवीय संवेदना होती थी तथा रोग व दर्द निवारण स्वयं का प्रधान कर्तव्य समझता था तथा इस अपने कर्तव्य की पूर्णता के लिये स्वयं भूख-प्यास की बाधा भी हँसते-हँसते सह लेता था। मीलों पैदल चला जाता था, रात्रि में भी बिस्तर छोड़कर मरीज का मर्ज मारने चल पड़ता था। लोभ, लालच तो उसे छूता भी नहीं था। तभी तो चिकित्सक को भगवान का रूप माना जाता था। मगर आज भगवान के यही रूप काल के दूत बन गये हैं। बहुत कम क्या नगण्य ही है वह संख्या जो निःस्वार्थ सेवा समाज की चिकित्सक करते हैं। आज तो ऑपरेशन और दवा के नाम पर चिकित्सक दूसरों का घर खाली कर अपने घर दीवाली मनाते हैं। भगवान न करे कभी उन पर होली के काले रंग की कालिख पुते और कर्म कलंक की कालिमा में बिंधकर नरक और पशु योनि के दुःख उन्हें झेलना पड़े।

मेरे हृदय में तो डॉक्टरों की सफेद पोशाक देखकर यही लगता है कि निश्चित ही इन महान् मानवों की आत्मा भी श्वेत, स्वच्छ और धवल होगी तथा यह वात्सल्य से ओत-प्रोत निर्विचिकित्सा भाव धारणकर स्वार्थ उपेक्षित कर परमार्थ सुधारेंगे।

सफेद पोशाक से अधिक याद है मुझे वह खाकी पोशाक अर्थात् खाकी वर्दी। जिसे पहनकर कभी हमारी सुरक्षा को आने वाले हमारे रक्षक हैं या भक्षक यह भेद करना कठिन था। उनके आने के बाद उनके कृत कार्य से ही पहचान हो पाती थी कि वह पुलिस वाले जीवनरक्षक हैं या पुलिस की वर्दी में छुपे नए भक्षक डाकू। जैन तीर्थक्षेत्र द्रोणगिरि से सटा हुआ सेंधपा गाँव है जो कि पहाड़ी के किनारे बहती नदी से लगा हुआ है। इस पावन क्षेत्र को **“बुन्देलखण्ड का लघु सम्मेदशिखरजी”** के नाम से संबोधित किया है।

इसी पावन तीर्थ की वंदना करना पहले दुश्वार था। इसका कारण भी कहीं बाहर का नहीं स्वयं सेंधपा में पैदा होने वाला दस्यु सरदार मूरतसिंह था। **मूरतसिंह के भय से पूरा क्षेत्र थर-थर काँपता था। दस्यु मूरतसिंह का खौफ मात्र सेंधपा तक ही सीमित नहीं था। छतरपुर, पन्ना, सतना, सागर, टीकमगढ़, झाँसी आदि जिले उसकी जड़ (पकड़) में थे। उस समय मूरतसिंह अकेला खौफ और हिंसा का पर्याय नहीं था। मौनी रामसहाय जैसे ब्राह्मण भी बाणियों की सूची में ऊपर की ओर थे। देवीसिंह, पूरनसिंह, विहारीसिंह (पूरणबक्स), शंकरसिंह आदि की बेरहम मार से शहरों में भी शाम होते घर के दरवाजे बन्द हो जाते थे। खुद सोचो सुरक्षित शहरों का जब यह हाल था तब देहातों में असुरक्षित**

ग्रामीणों पर क्या गुजरती होगी? जहाँ मजदूरी या व्यापार के बगैर शाम का खाना भी नसीब नहीं होता हो, मगर उसे करने में भी जान का जोखिम; क्योंकि मजदूरी हो या व्यापार दोनों ही घर से निकलकर दूसरे के यहाँ पहुँचकर करने पड़ते थे। घर से निकलना ही जहाँ मुसीबत मोल लेना हो वहाँ दूसरों के घर पहुँचकर पता नहीं पुनः वापिस घर पहुँचना हो या न हो, फिर भी कोई क्या करे? पापी पेट के खातिर सब कुछ करना पड़ता है। मौत से भी बड़ा भूख का भय होता है इसीलिये सभी मौत का जोखिम उठाकर भी अपने-अपने काम में लग जाते थे।

मेरे जैसे कुपी गाँव के तो कहने ही क्या थे? जहाँ कोई घटना रोकना तो दूर घटना घटने के कई-कई दिन बाद तक पुलिस पहुँचकर सुध लेती थी। सुध क्या लेती थी, सुध लेने के नाम पर गाँव वालों पर ही अपराधी होने का दोष मढ़कर, भोले-भाले निर्दोष लोगों की खाल उधेड़ देती थी। ऐसा ही तो हुआ था तब जब मेरे पास के गाँव से एक पकड़ (अपहरण) हुआ था।

विरानीताल हॉ, शायद यही नाम था उस गाँव का जहाँ डाकू मूरतसिंह ने सामूहिक पकड़ की थी। पकड़ भी किसलिये मात्र बदले की भावना से। हुआ यह कि रानीताल के एक आदमी ने पुलिस से मुखबिरी (शिकायत) कर दी। मुखबिरी के कारण मूरतसिंह के तीन साथी पुलिस ने पकड़ लिये और मूरतसिंह के मुखबिर ने पुलिस के मुखबिर की जानकारी मूरतसिंह को दे दी। फिर क्या था आनन-फानन में दस्यु सरदार मूरतसिंह ने पूरे गाँव को घेर लिया। पहले तो पूरे घरों से सभी नर-नारी, बच्चे-बूढ़े, युवक-युवतियों को बाहर निकाला। सभी को बाहर निकालने के बाद उसके कुछ साथियों ने खाली घरों में आग लगाना शुरू किया। अपना घर जलता देख जो भी आग बुझाने जाता उसे कोड़े मार-मारकर जमीन पर गिरा दिया जाता। यदि किसी महिला ने रोने की कोशिश की तो उसे भी अपमान के सिवा कुछ नहीं मिलता। कोई बच्चा रोया तो उसके माँ-बाप ने ही उसका मुँह बन्द कर दिया अथवा डाकुओं ने उसे जमीन पर पटककर बेआवाज कर दिया।

एक बार तो एक दुकानदार ने मात्र मुफ्त की बीड़ी पिलाने से एक डाकू को इन्कार क्या किया उस डाकू ने सरेआम उसकी कुल्हाड़ी से गर्दन काटकर हत्या कर दी और पूरे गाँव को धमकी दी कि यदि किसी ने उसके खिलाफ मुँह खोला या गवाही दी तो उसकी भी गर्दन सिर पर नहीं रहेगी। वही हुआ पूरे गाँव में एक भी व्यक्ति सत्य कहने का साहस नहीं कर सका। मुकदमा चलना तो दूर, मुकदमा दर्ज ही नहीं हुआ। पुलिस ने भी पंचनामा भरकर मृतक का शरीर परिवार वालों को सौंपकर अपनी इतिश्री कर ली।

डाकुओं से संबंधित एक ऐसी घटना घटी कि डाकुओं के बारे में सोचने का मेरा नजरिया ही बदल गया। यद्यपि मुझे यह सुनकर बहुत हैरानी होती थी कि डाकू धन लूटते जरूर हैं मगर वे धन धनवानों से लूटकर गरीबों की मदद करते हैं। कन्याओं के विवाह तथा मन्दिर बनवाने या मन्दिर पर घण्टा चढ़वाने

जैसी अच्छाइयाँ भी उनमें होती हैं; परन्तु मुझे यह बिल्कुल भी समझ में नहीं आता था कि शुभ कार्यों के लिये तो भगवान की पूजा, अर्चना की जाती है फिर शुभ समय में शुभ कार्य किया जाता है; परन्तु डाकू भी पूजा, अर्चना कर भगवान से डकैती जैसे अशुभ और घृणित दुष्कृत्य के लिये आशीर्वाद माँगकर शुभ मुहूर्त निकलवाते हैं। हाँ, आज अच्छी तरह जानता हूँ कि संसारी प्राणी सदैव कोई न कोई लक्ष्य निर्धारित करता है। लक्ष्य की पूर्ति हेतु अनुकूल सामग्री भी संगृहीत करता है; किन्तु उस कार्य की निर्विघ्न समाप्ति हेतु कार्य के प्रारम्भ करने का वह मुहूर्त निकलवाता है जिसे शुभ कहा जाता है।

कार्य और मुहूर्त दो भिन्न शब्द ही नहीं, भिन्न अर्थवाले शब्द हैं। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ करने के लिये मुहूर्त निकलवाया जाता है। मुहूर्त भी शुभ या अशुभ माने जाते हैं। संसारी प्राणी अपने प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ शुभ मुहूर्त में ही करना पसन्द करते हैं। अशुभ मुहूर्त में प्रारम्भ किये कार्य की निर्विघ्न रूप से पूर्ण होने में संदेह बना रहता है। वह कार्य शुभ हो या अशुभ मुहूर्त का महत्त्व अपने स्थान पर है। कार्य भी शुभ या अशुभ होता है तथा मुहूर्त भी शुभ या अशुभ होता है। फिर कोई अशुभ कार्य को क्यों अशुभ समय में करना चाहेगा। शुभ समय में भी अशुभ कार्य के करने से करने वाले के मन में अशुभ कार्य के निर्विघ्न सम्पन्न होने का विश्वास रहता है। अब यह अलग बात है कि अशुभ मुहूर्त हो या शुभ मुहूर्त यदि भाव शुभ नहीं है तो अशुभ भावों के होते ही दोष तो प्रारम्भ हो ही जाता है। मूरख उस पर विचार ही नहीं करना चाहता कि दोष भरे भाव भरते ही पाप प्रारम्भ हो जाता है। जल्द अशुभ भाव मिटकर शुभ भाव में बदल जाये तो क्षण भंगुर संज्वलन कषाय ही कर्मबन्ध का योग बनाती है। यदि अशुभ भाव घंटों चले तो कषाय भी प्रत्याख्यान हो जाती है जिससे कर्म का बन्ध भी अधिक होता है जिसका फल भी दुःख की मात्रा बढ़ा देता है। वही घंटों की कषाय कुछ दिन तक रुकी तो अप्रत्याख्यान का रूप ले लेती है जिससे बँधे कर्मबंध का फल उदय में आने पर जन्म भर तो पीड़ा पहुँचाता ही है आगामी भव भी दुःखदायी हो जावे तो अतिशयोक्ति नहीं होती। यही अशुभ भावों की परिणति जब छह माह बीतने पर भी रुकने का नाम नहीं लेती तब तो कषाय इतनी घनी होती है कि परिणामों की कलुषता की गहराई (अनुभाग) तथा विस्तार (प्रदेश) एवं रीति (प्रकृति) एवं कितने काल तक रहे (स्थिति) कहना शब्दों में संभव नहीं है। इस अनन्तानुबंधी कषाय के बंध का उदय भी फल भाग को निश्चित सीमा (स्थिति) में नहीं बाँधता। एक जन्म क्या अनन्त-अनन्त जन्म भी इसे भोगने को कम पड़ जाते हैं। भोगने में पीड़ा के प्रदेशों की प्रकृति भी इतनी अनियमित होती है कि हँसते-हँसते जलादे या रुलाये तो ऐसा रुलाये कि रोने का अन्त हो न आये अथवा रोये तो आँसुओं की प्रवाहित गति से बहती नदी समान हो जावे।

अनन्तानुबंधी कषाय के प्रदेशों का मात्र विस्तार (प्रदेश) ही बड़ा नहीं होता बल्कि उनके दुःख रूप फल देने की शक्ति (अनुभव) भी इतनी गहरी होती है कि दुःखी प्राणी दुःख न सहने पर महीनों बदहवाश रह

सकता है। विक्षिप्त या पागल होकर सर्दी, गर्मी, बरसात, अग्नि आदि के दारुण दुःखों को मजबूरन झेलता रहता है। कभी-कभी तो वर्षों कोमा (मूर्च्छावस्था) में चला जाता है जिसमें बाहर से होने वाले कष्टों को मस्तिष्क पर भले अनुभवन या ज्ञान न हो मगर जीवात्मा तो उस दारुण दुःख की तीव्रता को झेलता ही है।

मगर क्या कहें, अशुभ कार्य करने वाले को इन दुःखों के परिणामों के बारे में सोचने की फुर्सत ही कहाँ। वह तो अपने द्वारा लगायी कषायों की अग्नि में इस तरह झुलसे रहते हैं कि उसी आग में स्वयं जलते ही रहते हैं जब तक कि झूठे दम्भ की पूर्ति न हो जाये। झूठे दम्भ की पूर्ति के बाद ही उनका क्रोध शांत होता है। मगर यह अवधि इतनी लम्बी हो जाती है कि अनन्तानुबंधीकषाय तब तक पूर्ण मजबूती से बंध चुकी होती है।

यही तो करते हैं अशुभ कार्य करने वाले, फिर वे संगीन डाकू हों या समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त सफेद पोश डाकू। हाँ, हाँ सफेद पोश डाकू अर्थात् समाज में ऊँचा स्थान एवं ऊँचा रुतवा प्राप्त धुले हुये प्रेस किये तथा कलफ लगे कपड़े पहनने वाले वो महानुभाव जिनके अन्दर दया का भाव दूर-दूर तक नहीं है। परोपकार की सोच तो स्वप्न में भी जिनके अन्दर संभव नहीं होती। हो भी कैसे जिस प्रकार साम-दाम-दण्ड भेद हर प्रकार के छल, दम्भ, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील के द्वारा जिन्होंने धन अर्जित किया। समाज में पद प्राप्त करने के लिये भी वह कोई कसर नहीं छोड़ते। वह भली-भाँति जानते हैं कि यदि पद योग्यता ईमानदारी नैतिकता या सच्चाई के आधार पर दिया जाये तब तो किसी भी हालत में वह उन्हें मिल ही नहीं सकता। इसीलिये थोड़ा बहुत पैसा खर्चकर खाने-पीने की लालच वाले लालची लोगों को अपने इर्द-गिर्द एकत्र करते हैं। अपने इन्हीं चमचों के बल पर वह अपना विरोध करने वालों का अपमान भी कराते रहते हैं। गंभीर एवं समझदार कहलाने वाले कभी भी इनसे उलझना पसन्द नहीं करते। अगर कभी किसी ने इनसे उलझने की कोशिश की अथवा इनकी मनमानी का विरोध किया तो उनकी कमियाँ ढूँढ़कर अथवा उन पर असत्य आरोपों की बौछार कर इतना अपमानित करते हैं कि शर्म के मारे वह विरोध की स्थिति में ही नहीं रहता। बस यह तो आदर्श स्थिति होती है इन सफेदपोशों के समाज में अपना दबदबा कायम करने की। इसी दबदबे के बलबूते वह समाज में छाये रहते हैं।

अब तो लोकतांत्रिक प्रणाली क्या चली अधिकांश जगह इसी तरह के अपराधी तत्त्वों की सत्ता ही कायम हो गयी है। प्रथम तो चुनाव में कोई भी इज्जतदार व्यक्ति खड़ा ही नहीं होता; क्योंकि चुनाव में खड़े होने वाले व्यक्ति की सात क्या सत्तर पुस्तों की भी कमी निकालकर बदनाम किया जाता है। झूठ तो इतना जबरदस्त बोला जाता है कि बिल्कुल सच-सा सिद्ध कर दिया जाता है। अब तो गरीबी भी इन अपराधी तत्त्वों के लिए वरदान बन गयी है। अपनी पाप से कमायी दौलत से गरीबों को खरीद लेना, इनके बांये हाथ की बात है। समाज में निश्चित ही इस प्रकार अर्जित किया गया बहुमत इन्हें समाज का मुखिया बना देता है।

पद पर आने के बाद हिसाब की गड़बड़ी एवं गबन तो इनके रोजमर्रे के खेल हैं। आमतौर पर होने वाली पंचायतों में इनकी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। अपने चहेतों के पक्ष में निर्णय करवाना इनकी फितरत होती है। दोषी होते हुये भी अपने पक्ष वाले को दण्ड से बचा लेना तथा निर्दोष होते हुये भी विरुद्ध पक्ष वाले को सजा भोगने को मजबूर करना इनके मनोरंजन होते हैं। सफेद पोसों के इन कारनामों से किस पर क्या गुजरती है, इससे इन्हें कोई मतलब नहीं होता। कोई मरे या जिये, किसी को सुख मिले या दुःख, कोई हँसता है तो हँसे या रोता है तो रोये इनकी बला से। समाज का चेहरा विकृत होता है अथवा समाज की शान मिट्टी में मिले, इनकी सेहत पर कोई फर्क नहीं पड़ता। इनके इस अन्याय, इस अत्याचार, इस आतंक और इस असमानता तथा अपनेपन के कारण ही तो समाज में अपराध पनपते हैं और अपराधी पैदा होते हैं। यही अपराधी जब बस्ती में रहकर बदला नहीं ले पाते तो जंगल में जाकर बागी बनते हैं। फिर घटती है वह वीभत्स घटनायें जो समाज के माथे पर कलंक के रूप में अंकित हो जाती हैं।

इसी समाज में भगवान मिलते हैं, इसी में शैतान भी मिलते हैं, इसी समाज में साधु पाये जाते हैं तो इसी समाज में हैवान भी पाये जाते हैं। कब किसमें भगवान की छवि दिख जाये और कब किसमें शैतान की, कुछ कहा नहीं जा सकता? कब, कौन सब घर परिवार त्यागकर मोह-माया से विरक्त हो साधु बन जाये अथवा कब, कौन संसार शरीर भोगों की खातिर मोह-माया में फँसकर हैवान हो जाये यह बताया नहीं जा सकता। किन्तु आपको सत्य प्राप्त करना है, सत्य की राह पर चलना है और सत्य को ही जीवन का आधार बनाना है तो जीवन में घटने वाली प्रत्येक घटना पर गहरी निगाह रखनी होगी तथा प्रत्येक घटना के तँह तक जाना होगा, तभी आपको पता पड़ेगा। इसी समाज में रहकर कोई भगवान क्यों बन जाता है अथवा कोई शैतान क्यों हो जाता है? किसी को जिस संसार शरीर और भोगों से मोह भंग होने से विरक्ति क्यों होती है तथा क्यों कोई संसार शरीर भोगों में आसक्त हो जाता है?

संसार के इसी स्वरूप तथा सत्य की खोज हेतु मुझे याद आ रही है वह घटना जिसके जानते ही मेरे जीवन को एक नयी दिशा मिली। मैं चाहता हूँ कि आपको भी उस घटना का परिचय प्राप्त हो तथा आपके भी जीवन की दिशा सत्य की खोज की ओर उन्मुख हो जाये। मुझे विश्वास है कि यह घटना जानकर निश्चित ही आप भी सत्य पर आधारित निर्णय करने को प्रेरित होंगे।

**करें जो जुल्म गरीबों पर, उसे शैतान कहते हैं।
जो ले तूफानों से टक्कर, उसे इंसान कहते हैं॥
'विशद' सत्य को साकार करके तो देखो मेरे बंधु !
जो सत्य के आधार होते, उन्हें भगवान कहते हैं॥**

धन्नालाल, मोतीलाल, पन्नालाल तीनों भाई बहुत ही प्रेमपूर्वक एक-दूसरे का सहयोग करते हुये जीवन बसर कर रहे थे। पन्नालाल की पत्नी देहावसान हो चुका था। संतान कोई थी नहीं। धन्नालाल ही घर के मुखिया थे, तीनों में बड़े होने से दोनों भाई उनका बहुत सम्मान करते थे। घर का कोई भी कार्य धन्नालाल की आज्ञा अथवा अनुमति के बाद ही होता था। धन्नालाल हीरों के व्यापारी थे, हर धातु की परख बहुत बारीकी से करने में प्रवीण थे। मोतीलाल बड़े भाई के काम में तो मदद करते ही थे, खेतीबाड़ी की पूरी जिम्मेदारी भी उन्हीं के ऊपर थी। गर्मियों में जेठ के महीने में पड़ने वाली प्रचण्ड गर्मी में लगने वाले ताप (गर्मी का चरमोत्कर्ष) में ही वह हल-बैल से खेत की मिट्टी गहरी जोतवा देते थे। बरसात में खरीफ की फसल कभी बोते, कभी नहीं बोते। एक बार खरीफ की फसल में थोड़ा-थोड़ा अनाज, ज्वार, तिली, मक्का, सोयाबीन बोया। वर्षा अधिक होने से सोयाबीन तो अच्छा हुआ मगर ज्वार, तिली, मक्का की फसल में मजबूती आ गयी। इसी वजह से थोड़े से हर तरह के अनाज को बोने में मोतीलाल समझदारी मानते थे। न अधिक मुनाफा, न अधिक घाटा इसी मूलमंत्र पर चलते एवं हर मुसीबत का दृढ़ता से सामना करते हुये हँसते हुये झेल लेना उनके स्वभाव की विशेषता थी। दशहरे के बाद ही रवि की फसल की तैयारी शुरू कर देते एवं दीवाली पर घर की साफ-सफाई, लिपाई-पुताई आदि करवाकर उत्साह से भगवान महावीर स्वामी का प्रातःकाल श्री मन्दिरजी में सूर्य की प्रथम किरण के साथ ही निर्वाण लाडू चढ़ाते। रंग-बिरंगे बंधना (मुड़घरे) पशुओं को बाँधते तथा शाम को समाज में एक-दूसरे के घर जाकर दीप-प्रज्ज्वलित कर गौतम गणधर स्वामी के केवलज्ञान का उत्सव मनाते।

पन्नालाल सबसे छोटा मगर बुद्धि बड़ी प्रखर रखता था। भाई-भाभियों के लाड़-प्यार एवं पैसे की भरपूर आजादी ने पन्नालाल को थोड़ा जिद्दी बना दिया था। मर्यादा का पालन करना पन्नालाल को मुश्किल हो जाता था। कक्षा में पढ़ाई में अक्ल होते हुये भी साथियों से शरारत पन्नालाल की आमबात थी। भाइयों के प्रभाव के कारण कोई भी पन्नालाल की शिकायत करने की हिम्मत नहीं करता था। कभी कोई गम्भीर घटना पन्नालाल से हो भी जाती तब धन्नालाल, मोतीलाल पैसे के बल पर उसे सरलता से हल कर लेते। धीरे-धीरे पन्नालाल की यही आजादी उसे अभिशाप बनने लगी। दोस्तों के साथ बैठकर गप्प सड़ाका लगाना तो ठीक था अब तो घण्टों ताश की बाजी लगती तो समय कब गुजर गया पता ही नहीं चलता। पता तो पन्नालाल को इस बात का भी नहीं चला कि कब उसने शर्त के नाम पर उकसावे पर ताश में धन की छोटी-सी मात्रा का प्रयोग किया और एक दिन यही मात्रा बढ़कर हजारों में बदल गयी। भाइयों को खबर लगी तो पन्नालाल पर विद्यालय से सीधा घर आने एवं घर से विद्यालय जाते समय कहीं न रुकने की सख्त हिदायत दी गयी।

कहते हैं बुरी आदत में भी तीव्र लालच होती है जो एक बार लगती है तो सारी आदतें ही बिगाड़ कर

रख देती है। यही पन्नालाल के साथ हुआ जिसने विद्यालय के समय में ही विद्यालय से गायब होकर ताश के माध्यम से जुँआ खेलना प्रारम्भ कर दिया। जुँआरियों की संगत क्या-क्या नहीं करवा सकती? पन्नालाल को झूठ बोलना आदत में शुमार हो गया। बुद्धि की तीव्रता से परीक्षा में अक्ल आने से किसी को भी उसकी तरफ संदेह करना मुश्किल था। इसी अच्छाई की आड़ में कितनी बुराइयाँ पन्नालाल में बस गयीं कि स्वयं पन्नालाल को भी इसका अहसास नहीं हुआ। दोस्तों के साथ जुँआ खेलते-खेलते शराब और शबाब (औरत) का नशा भी उस पर सवार हो गया। घर से बिना हिसाब दिये खर्च मिलता था, इसीलिये कब अल्पखर्च बहुखर्च में बदल गया किसी ने ध्यान ही नहीं दिया।

एक दिन रात्रि में पन्नालाल सोते में बड़बड़ाने लगा-तारा, तारा तुम मेरे ही पास रहना मुझे कभी भी छोड़कर नहीं जाना, मैं तुम्हारे बगैर नहीं रह सकता। प्रातःकाल जब पन्नालाल से तारा के बारे में पूछा गया तो उसने पूरी तरह अनभिज्ञता जाहिर की। बात आयी-गयी हो गयी परन्तु उस दिन तो हद ही हो गयी जब पन्नालाल देर रात्रि में लौटा और बगैर किसी के कुछ बोले सीधे बिस्तर पर लेटा और गहरी नींद में खोकर खर्राटे भरने की आवाजें आने लगीं। किसी को कुछ समझ नहीं आया कि आते ही घर में अपनी नटखट चालों एवं हास्य-व्यंग्य भरी शरारतों से सभी को गुदगुदाने वाला पन्नालाल अचानक इस तरह बगैर शोर किये सो कैसे गया?

ममता भरा हाथ बड़ी भाभी उपासना ने उसके सिर पर रखा, मगर अपनी इस स्थिति को वह कायम न रख सकी। तीव्र दुर्गन्ध के झोके से उपासना के सिर में ऐसा दर्द हुआ कि वहाँ से दूर जाकर भी उसका सिर चकराता रहा। फिर भी उपासना की समझ में नहीं आया कि यह दुर्गन्ध है कैसी? मगर छोटी भाभी ज्योत्सना तो इतना भी बर्दाश्त नहीं कर सकी। नथुनों में शराब की दुर्गन्ध जाते ही इतनी तेज उल्टी हुयी कि पन्नालाल का बिस्तर ही गन्दा हो गया। तभी नौकरों ने पन्नालाल के बिस्तर की सफाई हेतु उसे दूसरे बिस्तर पर लिटाया तो वह भी पन्नालाल के मुँह से दारू की आती बदबू से दंग रह गये। धीरे-धीरे दारू की खबर पूरे घर में फैल गयी। होश आने पर पन्नालाल ने अपना सारा दोष दोस्तों पर मढ़ दिया तथा खुद को पूरी तरह बेकसूर सिद्ध कर दिया।

अभी अधिक दिन नहीं गुजरे थे कि ठाकुर भवानीसिंह ने धन्नालाल से कहा कि **“मित्र ! पन्नालाल पर ध्यान दो वर्ना समय गुजरने पर पछतावा ही हाथ रह जाएगा।”** धन्नालाल ने हँसते हुये कहा-मित्र ! तुम्हारे रहते मुझे क्या चिंता है। क्या तुम्हारी कोई जिम्मेदारी नहीं है पन्नालाल के प्रति? भवानीसिंह की मन की बात मन में ही रह गयी। संकोचवश भवानीसिंह मुख से सच बात भी नहीं बोल सका। धन्नालाल और भवानीसिंह में गहरी मित्रता थी इसीलिये दोनों एक-दूसरे के सम्मान का बहुत ध्यान रखते थे तथा किसी भी अप्रिय घटना के होते हुये भी अपनी दोस्ती में दरार नहीं आने देते थे।

जब कभी बाहर जाना पड़ता तो धन्नालाल के साथ भवानीसिंह साये की तरह रहता था। भवानीसिंह की रौबीली मूँछे, लाल-लाल नेत्र और हाथ में थमी बन्दूक सामने वाले के सीने में भय पैदा करने के लिये काफी थे। भवानीसिंह के कारण ही धन्नालाल कीमती हीरे साथ में लेकर चलते हुये भी पूरी तरह निर्भय और निश्चिन्त रहा करते थे। दोनों में कभी मालिक-नौकर का भेद नहीं रहा और न ही कभी कोई यह जान पाया कि दोनों के बीच लेन-देन किस प्रकार का है। दोनों जितने ऊपर से क्रोधी स्वभाव के थे, अन्दर से उतने ही नरम दिल के थे। कभी कोई किसी भी बात पर रूठ जाता तो अजब-गजब स्थिति पैदा हो जाती। रूठने वाले को मनाने की बजाय स्वयं ही खाना-पीना छोड़ देता, नाराज होने वाला स्वयं आकर अपने हाथ से खाना नहीं खिलाता तब तक वह भूखा-प्यासा ही रह जाता। जब दोनों का रो-रोकर मिलन होता और दोनों रोते मगर देखने वालों के चेहरे पर खुशी छा जाती।

सचमुच धन्नालाल और भवानीसिंह के मध्य दोस्ती एक मिशाल बनकर लोगों की जबान पर छा गयी थी। परन्तु लगता था कि इस दोस्ती को नजर लग गयी थी पन्नालाल की उन बुरी आदतों की; जिसके कारण भवानीसिंह न तो स्वयं कुछ धन्नालाल से कह पा रहा था और न ही कुछ कर पा रहा था। बार-बार दोस्ती की दीवार सामने आ जाती थी।

मगर स्वयं भवानीसिंह भी पूर्ण सत्य से परिचित नहीं था। वह जितना जानता था बात उससे भी बहुत आगे निकल गयी थी। भवानीसिंह को अपनी बच्ची हेमलता के पन्नालाल से मेल-जोल का तो पता था। दोनों के बीच बातचीत की भी जानकारी थी। दोस्त का भाई होने के कारण कभी भवानीसिंह ने पन्नालाल को घर आते-जाते टोका नहीं। मगर बात शारीरिक संबंधों में बदलकर कब वासना में परिवर्तित हो गयी भवानीसिंह को पता नहीं चल सका। चलता भी कैसे दोनों परिवारों में घनिष्ठता और मेल-जोल में कोई दीवार ही नहीं थी। कभी भी किसी को बातचीत या हास्य-परिहास से रोका ही नहीं गया। हाँ, एक बार हेमलता की माँ ने जब हेमलता और पन्नालाल को अभद्र परिहास पर टोका तब हेमलता के उग्र प्रतिवाद ने उसकी माँ को भविष्य में चुप रहने पर मजबूर कर दिया।

हेमलता की माँ चुप अवश्य हुई मगर उसने पहले से अधिक सावधानी बरतनी शुरू कर दी। मगर एक कहावत प्रसिद्ध है कि **“चोर की रात कोई नहीं जागता”**। यही हुआ हेमलता की कच्ची समझ और चढ़ती उम्र, ऊपर से आग ईंधन का मेल अर्थात् पन्नालाल, हेमलता की एकान्त में होने वाली **गुप्तगू** मात्र **गुप्तगू** नहीं रही अपितु उसने सामाजिक मर्यादाओं को तार-तार कर दिया। परन्तु इसकी जानकारी उसे तब लगी जब हेमलता नियमित मासिक स्नाव से नहीं हुयी। कुछ दिन तो उसने सब्र से काट लिये मगर जब अधिक दिन चढ़े तो हेमलता की माँ ने अपने पति भवानीसिंह से पन्नालाल और हेमलता के बीच नाजायज संबंधों की बात बता दी। पहले तो भवानीसिंह ने उसकी बात पर बिल्कुल भी विश्वास नहीं किया मगर हेमलता की चुप्पी ने भवानीसिंह को भृकुटी टेड़ी करने पर मजबूर कर दिया।

पहले तो भवानीसिंह ने पत्नी के कहने पर धन्नालाल से सामान्य तौर पर ही कहा था। आज तो परिस्थिति इतनी बदल गयी कि भवानीसिंह गहरी सोच में पड़ गया। एक तरफ वर्षों पुरानी दोस्ती थी तो दूसरी तरफ खुद की इज्जत और बिनब्याही बेटी के अनिश्चित भविष्य की चिंता। समय भी इतना नहीं था कि अधिक सोच-विचारी की जाय। अब तो आर-पार का निर्णय करने का समय आ गया; क्योंकि अब भी अनिश्चय रहेगा तो वह कभी भी किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रहेगा। खुद की इज्जत तो खाक में मिलेगी ही, अविवाहित बेटी को माँ का दर्जा कौन देगा? कौन उसकी नाजायज औलाद को अपनायेगा? खुद बेटी हेमलता से शादी भी कौन करेगा? सोच ज्यों-ज्यों तेज हो रही थी त्यों-त्यों भवानीसिंह का दिल बैठता जा रहा था। अचानक भवानीसिंह की आँखों में कठोरता छा गयी मानों उसने कोई कठोर निर्णय कर लिया हो। देखते ही देखते भवानीसिंह तेजी से उठा और तेज-तेज कदम बढ़ाता हुआ सीधा धन्नालाल के पास पहुँच गया।

सदा की भाँति धन्नालाल ने भवानीसिंह को दूर से देखकर कहाहआओ भाई भवानीसिंह ! आज जरा जल्दी तैयार हो जाओ, हमें शीघ्र बाहर जाना है मगर भवानीसिंह ने कोई उत्तर नहीं दिया। पुनः धन्नालाल ने कहाहभैया राजा कहाँ खो गये? आज क्या हुआ, जो इतने गुमसुम खड़े हो, सब खैरियत तो है, तबियत नासाज (खराब) तो नहीं। फिर भी कोई उत्तर न पाकर धन्नालाल ने तेज आवाज में कहा-क्या बात है भाई ! क्या हुआ, बोलते क्यों नहीं? क्यों बोलती बन्द है? अभी धन्नालाल कुछ और आगे कहते कि भवानीसिंह ने कड़ककर ऊँची आवाज में कहा- बस-बस आगे एक शब्द भी मत कहना; क्योंकि आज तक तुमने कहा, मैंने सुना। तुमने आज्ञा दी, मैंने अनुपालन किया। तुम्हारा पसीना गिरा तो मेरा खून बहा, तुम्हारा मन मलीन हुआ तो मेरा दिल जला, तुम्हारे आँसू गिरे तो मुझ पर बिजलियाँ गिर गयीं। परन्तु आज बिजली मुझ पर नहीं तुम पर गिरेगी, खून मेरा नहीं तुम्हारा गिरेगा, दिल मेरा नहीं तुम्हारा जलेगा। कहते-कहते भवानीसिंह की आँखों में आग के अंगारे उतर आये।

भवानीसिंह की भाषा, भवानीसिंह का लहजा, भवानीसिंह के हाव-भाव और भवानीसिंह की आवाज सभी कुछ समझ से बाहर थे धन्नालाल के। धन्नालाल को अन्दर ही अन्दर लगा कि आज जरूर कुछ अनहोनी हुई है जिसकी वजह से भवानीसिंह अपने आपे में नहीं है। शायद क्रोध की अधिकता में ही वह मेरा सम्मान भी भूल गया है। न जुहार-विहार, न राम-राम, न दुआ-सलाम, एकदम भड़का-भड़का उस पर भी सदा आपके सिवा मुँह न खोलने वाला, मुँह भी खोले तो अमृत-सा बरसे। आज उसी मधुर जबान पर आपके स्थान पर बार-बार तुम-तुम आना तो मुझे जहर के घूंट बार-बार पिलाने जैसा महसूस हो रहा है। क्रोध की वजह भी जानूँ तो कैसे? मुँह से कुछ न कह प्यार भरा हाथ धन्नालाल ने भवानीसिंह के सिर पर रखा मगर अफसोस कि हाथ सिर पर पहुँचने से पहले ही भवानीसिंह ने कंधा इतने जोर से झटका कि हाथ सिर पर न लगकर धन्नालाल के पार्श्व में पहुँच गया। सकते में रह गया धन्नालाल ! न कुछ कहते बन रहा था,

न कुछ करते, पूरी तरह किंकर्तव्यविमूढ़। फिर भी जानकारी तो करनी ही थी कि आखिर हुआ क्या? क्यों मेरा परम प्रिय मित्र आज मुझे दुश्मन की नजर से देख रहा है और बंधन की सारी मर्यादायें तोड़ रहा है।

आखिर धन्नालाल ने साहस बटोरकर कुछ कठोर आवाज में कहा कि कुछ कहोगे, कुछ बताओगे या यूँ ही पहेलियाँ बुझाते रहोगे। हम कैसे जानेंगे और कैसे समझेंगे कि तुम्हारे मन में क्या है? आगे धन्नालाल कुछ बोलता कि धरती पर तेजी से लड्डु (लाठी) पटकता हुआ भवानीसिंह बोला कि तुम में है हिम्मत मेरी बात सुनने की! तो सुनो! मगर शब्दों ने साथ नहीं दिया भवानीसिंह का, कहने के पहले ही जबान लड़खड़ा गयी। उसी समय धन्नालाल ने व्यंग्यात्मक भाषा का प्रयोग शांतिपूर्वक करते हुए कहा—“**मुझमें तो सुनने की हिम्मत है, मगर लगता है तुम में सुनाने की हिम्मत नहीं है।**”

एक बहादुर ठाकुर कभी हिम्मत नहीं होने की बात स्वीकार नहीं करता। भले जान पर बन आये; परन्तु वह हिम्मत से हटना अपनी कायरता मानता है। सच्चे ठाकुर को कायर कहलाना मृत्यु से भी अधिक पीड़ादायक होता है। इसीलिये ठाकुर भवानीसिंह की गैरत जाग उठी और उसने ललकारते हुये कहा कि बोलो सेठ, “**एक कुँवारी लड़की को बिन ब्याहे माँ बनाने की सजा क्या होनी चाहिये।**” बगैर कुछ सोचे धन्नालाल के मुँह से निकल गया “**अरे भाई ये तो घोर पाप है इसकी तो जितनी भी कठोर सजा दी जाये कम है।**” पुनः भवानीसिंह बोला—“**अगर यह पाप करने वाला अपना ही खून हो तब क्या उसे भी कठोर सजा दोगे?**” धन्नालाल ने हँसते हुये कहा, हाँ—हाँ क्यों नहीं, आखिर पाप तो पाप है और पाप की सजा तो पापी को मिलनी ही चाहिये। आश्वस्त होते हुये भवानीसिंह ने कहा तब फिर धन्नालाल को दो यही सजा जिसने जवानी और दौलत के नशे में चूर होकर यह पाप किया है।

**अरे हमें तो अपनों ने लूटा है गैरों में कहाँ दम था।
मेरी किस्ती थी वहाँ डूबी जहाँ पानी कम था॥
मत पूछो दोस्त मुझे किसने लूटा है।
जिसको गले लगाया उनसे ही दिल टूटा है॥
दोष किसी और का नहीं मेरे भाई जमाने में।
क्योंकि मेरा स्वयं का भाग्य ही फूटा है॥**

बन्दूक की गोली से भी तीव्र रफ्तार में धन्नालाल के हृदय में उतर गये भवानीसिंह के मुँह से कहे गये शब्द। अब तक व्यंग्य की भाषा में साहस की बात करने वाले धन्नालाल का साहस उसका साथ छोड़ गया। एक-एक रोम शरीर का खड़ा हो गया, हृदय की गति मंद हो गयी, व्यंग्य विलोप हो गया। भवानीसिंह की जबान तो स्थिर हो गयी मगर धन्नालाल की जबान कुछ कहने के पहले ही लड़खड़ा गयी। किन्तु साहस बटोरते हुए धन्नालाल बोला—नहीं, नहीं, नहीं, यह हो ही नहीं सकता; धन्नालाल कभी भी इतनी गिरी हरकत

कर ही नहीं सकता। तुम्हें या तो भ्रम हुआ है या फिर झूठ का सहारा ले रहे हो। गरजकर कहा भवानीसिंह ने **“साँच को आँच कहाँ”**, न तो मुझे कोई भ्रम है और न ही मैं झूठ का सहारा ले रहा हूँ। हाँ, तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं तो बुलाओ अपने लाड़ले भाई को और पूँछ लो उसी से कि उसने ये पाप किया या नहीं?

ताव ही तव में धन्नालाल ने भी पन्नालाल को बुलाया और पूछा कि भवानीसिंह जो कुछ कह रहे हैं क्या वह सच है? पन्नालाल ने बड़ी मासूमियत से कहा कि मुझे क्या पता भाईसाहब क्या कह रहे हैं? तब बगैर लाग-लपेट धन्नालाल ने कहा-हेमलता से तेरा क्या रिश्ता है? पन्नालाल पलभर में सारा माजरा समझ गया इसीलिये पोल खुलने और बदनामी के साथ-साथ सजा मिलने के भय से उसके मन में मक्कारी आ गयी। पन्नालाल ने बिल्कुल सफेद झूठ का सहारा लेते हुए कहा कि हेमलता मेरी भतीजी है। पन्नालाल का जवाब सुनकर धन्नालाल ने बहुत ऊँची आवाज में कठोरता के साथ कहा कि सिर्फ भतीजी या कुछ और भी; परन्तु पन्नालाल ने खुद को बड़ी मुश्किल से संभालते हुए कहा-नहीं और कुछ रिश्ता कैसे संभव है?

अब तक दिल पर पत्थर रखे जहर के घूंट पी रहा भवानीसिंह अचानक बला की फुर्ती से पन्नालाल का गिरेबां पकड़कर बोला यदि तेरा रिश्ता हेमलता से सिर्फ चाचा-भतीजी का है तो फिर हेमलता के पेट में पल रहा बच्चा किसका है? पहले तो अचानक हुये इस कार्य से पन्नालाल भी एकदम घबरा गया तथा उसके चेहरे पर भय से निकली पसीने की बूँदें झलक उठी जो सभी को स्पष्ट दिखाई दे रही थी; किन्तु भवानीसिंह से भारी भाई धन्नालाल के क्रोध का ध्यान आते ही तड़ाक से पन्नालाल बोला-मुझे क्या पता? इसके आगे के शब्द भवानीसिंह क्रोध की अधिकता के कारण सुन नहीं सका और काँपता हुआ गिरकर बेहोश हो गया।

बेहोश भवानीसिंह को होश आते ही पुनः चिल्लाकर बोला-झूठे, मक्कार, नीच, पापी, बेहया, एक तो पाप करता है उस पर भी झूठ बोलकर पाक, साफ बनता है। किन्तु मैं तुझे छोड़ूँगा नहीं। तूने मेरी बेटा की इज्जत से खिलवाड़ की है, मैं तुझे जानकर भी अन्जान रहा; किन्तु तुझे अन्जान नहीं रखूँगा, भाग सकता है तो भाग ले, बच सकता है तो बचले अन्यथा यदि मैं सच्चे ठाकुर की औलाद हूँ तो तेरा सीना गोलियों से छलनी करके ही चैन की साँस लूँगा।

धन्नालाल ने बहुत कोशिश की कि भवानीसिंह का क्रोध शांत हो जाये मगर भवानीसिंह गुस्से में आग-बबूला तेज-तेज कदमों से चलता हुआ वहाँ से चला आया। भवानीसिंह के द्वारा दी धमकी का पन्नालाल पर कोई असर नहीं हुआ इसीलिये वह व्यंग्य करता हुआ बोला, **“चीज न राखे आपनी चोरन गारी देय”**। पन्नालाल के शब्द अभी पूरी ही हुये थे कि धन्नालाल का हाथ हवा में लहराया और सीधे पन्नालाल के गाल पर झन्नाटेदार हो गया। पन्नालाल को इस बात का कतई अंदाजा नहीं था इसीलिये संभल नहीं पाया और लुढ़कते हुए पूरी चार पल्टी खा गया। किन्तु धन्नालाल का क्रोध आज सातवें आसमान पर था। धन्नालाल

को दुःख था कि पन्नालाल ने इतनी गिरी हुई नीच हरकत की है; किन्तु उससे भी अधिक अफसोस था कि पन्नालाल बजाय खुद ही भूल स्वीकार कर सुधारने का प्रयास करे, भवानीसिंह और उसकी बेटी पर ही व्यंग्य के बाण चला रहा है। आखिर दुःख हो भी क्यों न! जिस हेमलता को भवानीसिंह की बेटी होते हुये भी धन्नालाल ने बाप से बढ़कर चाहा, पिता से बढ़कर प्यार दिया। भवानीसिंह ने तो हेमलता को जन्म देने से पिता होने का काम किया था। वास्तव में हेमलता की हर जरूरत, हर सुख-सुविधा, पढ़ाई-लिखाई, दवा एवं खान-पान एवं पहिनावे तक का ध्यान तो धन्नालाल ने ही रखा था। यही वजह थी कि धन्नालाल स्वयं को इस आघात से संभाल न सका तथा पक्षाघात का शिकार हो गया।

मोतीलाल को बड़े भाई के पक्षाघात की खबर लगी तो बिना विलम्ब किये घर आ गया। उस समय पक्षाघात भयावह बीमारी थी। जिसका इलाज बहुत लम्बा और बहुत सब्र का था; परन्तु जब चोट मन मस्तिष्क और हृदय पर एक साथ पहुँचे तो बीमारी का प्रभाव भी उतना ही गहरा होता है। बस, पन्नालाल को इससे अच्छा अवसर कहाँ मिलना था। बड़े भाई की बीमारी का भरपूर लाभ उठाते हुये पन्नालाल ने मोतीलाल को सही बात बताना तो दूर ऐसी मनगढ़न्त कहानी गढ़ी मानों धन्नालाल की बीमारी का भवानीसिंह ही पूरी तरह जिम्मेदार हो। मोतीलाल ने भी खुद की बुद्धि का प्रयोग नहीं किया अपितु छोटे भाई के बहते नकली आँसुओं में स्वयं सचमुच बह गया। मोतीलाल को पूरी तरह विश्वास हो गया कि भवानीसिंह की लड़की हेमलता चरित्र से हीन है तथा धन की लालच में उसने पन्नालाल को गलत काम हेतु प्रेरित किया।

भवानीसिंह को धन्नालाल की पक्षाघात की बीमारी का पता चला तो पहले तो वह उन परिस्थितियों में स्वयं को कठोर बनाये रहा; परन्तु ज्यों-ज्यों धन्नालाल का मासूम चेहरा उसे याद आता, उतना ही अधिक वह पिघलता जाता। आखिर वह दिन भी आ गया जब भवानीसिंह अपने बीमार मित्र से मिलने को अन्दर ही अन्दर तड़प उठा; परन्तु खुद के साथ गुजरे हादसे को भी भूल पाना आसान नहीं था। बार-बार अन्तर्द्वन्द का शिकार होता। एक तरफ सोचता कि चलो एक बार देखने में क्या बिगड़ता है, तभी दूसरी तरफ का विचार हावी हो जाता कि जिसके भाई ने मेरी फूल-सी कोमल बच्ची के कौमार्य को कुचला है उसे क्या देखना ?

इसी उहापोह में कुछ दिन गुजर गये; परन्तु धन्नालाल को देखने या उससे मिलने का निश्चय भवानीसिंह नहीं कर सका। एक दिन वह बैठा-बैठा अपनी ही धुन में खोया था कि उसे लगा मानों धन्नालाल उसे पुकार रहा हो और धन्नालाल के गले से आवाज नहीं निकल रही हो। रोक नहीं सका स्वयं को भवानीसिंह। चुपचाप दूर से बगैर किसी की जानकारी में आये ही धन्नालाल को देखने का निश्चय कर वह चल पड़ा।

धन्नालाल को पक्षाघात हुये अभी कुछ ही समय तो बीता था, मगर सारे परिवार को लगने लगा था कि

धन्नालाल को स्वस्थ होने में जितना प्रभाव दवा का होना है उससे भी अधिक प्रभाव पड़ता है भवानीसिंह की उपस्थिति का। भवानीसिंह ही तो है जो चौबीसों घंटे धन्नालाल की सेवा में समर्पित रहता है। मगर क्या कहें दुष्ट पन्नालाल की उस हरकत को जिसने भवानीसिंह का दिल ऐसा तोड़ा कि भवानीसिंह का आना ही दुश्वार हो गया है।

किन्तु घर वालों से विपरीत पन्नालाल का षड्यंत्र चलता रहा। घर वालों की भावनाओं से खेलना उसे भलीभाँति आता था। पन्नालाल अच्छी तरह जानता था कि मोतीलाल मात्र बड़े भईया धन्नालाल की बात ही मान सकते हैं और धन्नालाल तो बात करना भी दूर इशारे से भी अपनी बात कहने में मजबूर है। अवसर का जी भरकर लाभ उठाया पन्नालाल ने तथा मोतीलाल को समझाया कि देखो भवानीसिंह कितना भावना शून्य, पत्थर दिल इंसान है जिसके कारण जीवन की सम्पूर्ण सुविधाओं का पूर्ण लाभ उठा रहा है आज उस पर बुरा वक्त आया तो एक क्षण को देखने भी नहीं आया, जल्लाद कहीं का। सारे घरवाले पन्नालाल की पापभरी कटुक बातों को सुनकर हतप्रभ रह गये। सभी के मन में भावनाओं का ऐसा ज्वार आया कि अन्दर ही अन्दर खून खौल उठा; परन्तु समय की नजाकत और स्वयं धन्नालाल की हालत का ध्यान धरकर किसी ने भी मुँह से कुछ भी कहना उचित नहीं समझा। यही तो पन्नालाल चाहता था ताकि मोतीलाल के मन में भवानीसिंह के विरुद्ध नफरत पूरी तरह से पैदा कर सके।

अपनी इज्जत, आत्म-सम्मान और पन्नालाल की धोखेबाजी एवं मक्कारी से उत्पन्न भावनाओं तथा धन्नालाल की बीमारी से उत्पन्न सद्भावना के बीच चल रही रस्सा-कस्सी में उलझा भवानीसिंह चुपचाप चलता जा रहा था। अपने परम प्रिय मित्र की बीमारी ने उसके बैर को मार दिया था तथा प्रेम, प्यार में पागल हुआ चला जा रहा था, मन में मित्र से मिलने की चाहत लिये। अचानक एक काली बिल्ली रास्ता काट गयी। ठिठक कर खड़ा हो गया भवानीसिंह, मनौती मनाली दो मिनट ताकि अशुभ टल जाये। सोचने लगा क्या होता है बिल्ली के रास्ते काटने से, निश्चित ही पूर्व में कोई खोटा कर्म किया होगा जो आज उदय में आकर हमें तड़पा रहा है। अब तो ऊपर वाले का ही सहारा है, चाहे अच्छा करे या बुरा। उसकी महिमा वह ही जाने। बस भगवान को भजता हुआ पुनः आगे बढ़ गया।

किसी को पता ही नहीं चला कि अर्द्धरात्रि में कड़कड़ाती ठंड में भी भवानीसिंह घर में आ गया है तथा पिछवाड़े से प्रवेश कर खिड़की से चुपचाप धन्नालाल को देख-देख आँसू बहा रहा है। उसी समय पन्नालाल को लघुशंका हुई तथा कमरे से बाहर शंका निवृत्ति हेतु निकला तो उसे लगा कोई धन्नालाल के कमरे के बाहर खड़ा है। आहिस्ता-आहिस्ता पास पहुँचा तो भवानीसिंह को पहचानते देर न लगी पन्नालाल को। जो अपने आँसुओं को पोंछ रहा था; परन्तु पन्नालाल तो मौके का लाभ उठाने में माहिर था, उसका शैतानी दिमाग चलने लगा। तेजी से मोतीलाल के कमरे की तरफ पहुँचा तथा बिना आवाज किये मोतीलाल को

उठाकर कहा कि भईया घर में चोर घुस आया है। इतना कहकर उसने जोर-जोर से चिल्लाना शुरू कर दिया तथा नौकरों को हड़काया कि चोर को पकड़ो, भागने न पाये।

भवानीसिंह अपनी ही उधेड़बुन में खोया, धन्नालाल की हालत से इतना दुःखी था तथा उसकी कुशलता के लिये मन ही मन भगवान से दुआयें माँग रहा था। इसीलिये बाहर चोर-चोर-चोर की आवाजें भी उसके कानों में नहीं पड़ी तथा नौकरों ने उसे अँधेरे में ही पकड़कर पीटना शुरू कर दिया। भवानीसिंह जब तक कुछ समझता उसकी इतनी पिटायी पन्नालाल ने कर दी कि सफाई देने लायक भी नहीं रहा। पन्नालाल ने जान-बूझकर किसी को उसका चेहरा न दिखे इसलिये उजाला नहीं करने दिया तथा नौकरों को भेजकर पुलिस को बुलाया और उसे पकड़वा दिया।

भवानीसिंह ने बहुत सफाई दी पुलिसवालों के समक्ष, मगर उसकी एक नहीं सुनी। पन्नालाल तो पहले ही पुलिस को पैसे देकर साध चुका था। तभी तो पुलिसवालों ने किसी की कुछ भी नहीं सुनी एवं भवानीसिंह को हवालात में बन्द कर दिया। सुबह जब घरवालों को पता चला तो सभी को घोर आश्चर्य हुआ कि भवानीसिंह भी क्या कभी इस घर में चोरी करने आ सकता है? इस बात पर किसी को तनिक भी विश्वास नहीं हो रहा था; परन्तु मोतीलाल और पन्नालाल के कारण कोई कुछ कह न सका।

सारी बस्ती में यह समाचार आग की तरह फैल गया कि भवानीसिंह को पुलिस ने धन्नालाल के घर चोरी के प्रयास में घुसने पर गिरफ्तार कर लिया है। बस्ती के बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी भवानीसिंह की वफादारी तथा पन्नालाल की मक्कारी से अच्छी तरह परिचित थे। स्वतः स्फूर्त थाने के सामने भीड़ बढ़ती गयी तथा धीरे-धीरे पुलिसवालों के मुर्दाबाद के नारे लगने लगे। थानेदार ने ऊपर के अधिकारियों को सूचना दी। आनन-फानन में भारी पुलिस बल बाहर से रवाना किया गया तथा स्वयं उच्चाधिकारी भी थाने पहुँच गये। बड़ी मुश्किल से जनता के आक्रोश को शांत कराया गया। स्वयं थानेदार को पन्नालाल के साथ मिली-भगत में शामिल देख उच्च अधिकारी हैरान रह गये तथा अपना दामन साफ रखने के लिये थानेदार को तो वहाँ से हटा दिया गया तथा कुछ समय तक उसके ऊपर पाबन्दी लगा दी गयी। साथ ही जनता का विश्वास अर्जित करने के लिये भवानीसिंह को भी ससम्मान रिहा कर दिया गया।

भवानीसिंह पुलिस से तो रिहा होकर बाहर आ गया, मगर अपने ही विचारों की कैद में गिरफ्तार होकर रह गया। बार-बार सोचता कि क्या दुनिया में वाकई कभी बुराई का अन्त नहीं हो सकता? जब तक पन्नालाल सरीखे लोग रहेंगे तब तक अपराध बढ़ते रहेंगे, माँ, बहिन, बेटियों की इज्जत लुटती रहेगी। पुलिस वाले पैसे में बिककर अपराधी को पकड़ेंगे नहीं तथा भोली-भाली जनता इनके भय और आतंक के कारण कोई भी विरोध न कर चुपचाप बेबस जुल्म और अत्याचार सहकर सिसकती रहेगी, लेकिन कब तक? हम जैसे मर्द कब तक कायर बने रहेंगे? कब तक सहन करेंगे इनकी मनमानी और अन्याय को? क्या हममें

साहस नहीं? क्या हम मर्द नहीं जो चूड़ियां पहनकर औरतों की तरह घर में बैठ जाये? मृत्यु तो एक न एक दिन आनी ही है फिर क्यों न पल-पल, तिल-तिल, घुट-घुट कर मरने से एक ही बार मृत्यु को गले लगाया जाय। अरे मेरी लाड़ो तो बर्बाद हुई, मगर किसी और की बेटी पापी पन्नालाल बर्बाद करे, इससे पहले मुझे उसका अन्त करना ही होगा। यदि धन्नालाल ठीक होता तब भी कुछ आशा थी मगर अब तो मोतीलाल बगैर सत्य समझे पन्नालाल का साथ ही नहीं दे रहा 'साँप को दूध' पिलाकर जहर ही बढ़ा रहा है। किन्तु मैं ऐसा हर्गिज नहीं होने दूँगा, सर्प की दाढ़ क्या सर्प का फन ही कुचलकर रहूँगा, भले ही मुझे कितनी भी बड़ी सजा मिले मगर समाज में बिनब्याही बेटी का बाप कहलाने से तो पापी का अन्त कर मौत को गले लगाना अच्छा। मन ही मन दृढ़ निश्चय कर लिया भवानीसिंह ने तथा अपने निश्चय की किसी को खबर भी नहीं लगने दी।

भवानीसिंह की भावना से बेखबर पन्नालाल ने मोतीलाल को भड़काकर फर्जी रूक्का तैयार करवाया और भवानीसिंह पर पूरे बीस हजार का दावा कर दिया। भवानीसिंह की तो अदालत का सम्मन पाकर पैरो तले जमीन ही खिसक गई। मगर अदालत में निश्चित तिथि पर पहुँचा तथा न्यायाधीश के सामने नतमस्तक होकर बोला-श्रीमान्, मैंने आज तक मोतीलालजी से एक पैसा भी उधार नहीं लिया; परन्तु मुझे अपमानित करने की गरज से पन्नालाल के उकसावे पर मोतीलाल ने झूठा मुकदमा कायम किया है। मोतीलाल की एक ही औलाद है, यदि मोतीलाल उसके सिर पर हाथ रखकर कहदे कि रूक्का सच है तब मैं भी इसे स्वीकार कर लूँगा। मोतीलाल भवानीसिंह की बात सुनकर काँप उठा तथा पन्नालाल की तरफ देखने लगा और मुँह से कुछ बोल न फूटा तो अदालत के सामने सच्चाई खुद-ब-खुद सामने आ गयी और उसने भवानीसिंह के खिलाफ मुकदमा ही खारिज कर दिया।

अदालत से बाहर निकले तो सहसा पन्नालाल ने फिकरा कसा, यहाँ से छूटा तो क्या हुआ, है तो बिनब्याही बेटी का बाप! बेशर्म को मौत भी नहीं आती। इतना सुनना था कि ठाकुर भवानीसिंह का आत्म-सम्मान ललकार उठा, धिक्कार है तुझ पर, अब क्या और भी जलालत बाकी है या ऐसी ही जलालत भरी जिन्दगी जीना चाहता है। देख समय है और तेरा निश्चय भी, कर प्रहार और दे दे जुर्मी को जुर्म की सजा। इससे आगे ठाकुर भवानीसिंह कुछ सोच न सका और सिंह की तरह दहाड़ता हुआ बोला-रे नीच, पापी, दुष्ट, कुकर्मि, पापात्मा आज तक धन्नालाल की मित्रता तुझे माफ करने से रोक रही थी; किन्तु तूने सारी मर्यादा, सारे बंधन समाप्त कर दिये, अब मौत मेरी नहीं, अपनी जिन्दगी की परवाह कर। आज भी कहता हूँ कि अपना पाप कबूलकर और मेरी बेटी को अपना ले।

पन्नालाल भी कहाँ चूकने वाला था। उसने भी भरी भीड़ में भवानीसिंह की इज्जत उछालते हुये कहा- अपनी बेटी के पाप को मेरे सिर मढ़ना चाहता है मूर्ख! न जाने तेरी बेटी कहाँ मुँह काला कर आयी, तू मेरी

गलती बता रहा है **“जैसी बेटी वैसा पाप”**। बेटी की कमाई खाकर परिवार पालता होगा तभी तो मेरे पास भेजता था उस वेश्या को। वेश्या शब्द गर्म शीशे की तरह उतर गया कानों में भवानीसिंह के। फिर तो भवानीसिंह को न कुछ सुनायी दिया, न दिखाई दिया। बला की फुर्ती से उछला तो सीधा पन्नालाल के गले पर उसके बलशाली पंजे कस गये। भवानीसिंह ने पूरी ताकत से चिल्लाकर कहा—ले मैं बताता हूँ कि मेरी बेटी को सती समान होते हुये भी वेश्या बतलाने वाले का क्या अन्त होता है, मगर भवानीसिंह पन्नालाल का गला दबाता कि उससे पहले पुलिस वालों ने भी झपटकर भवानीसिंह के हाथ उसके इरादे पूरे करते, पन्नालाल के गले से अलग कर दिये तथा पन्नालाल को सुरक्षित घर भेजा एवं भवानीसिंह को उसके घर रवाना कर दिया।

मगर भवानीसिंह का तो पूरा शरीर जल रहा था, रोम-रोम में आग की चिंगारियाँ टूट रही थीं, खून का कतरा-कतरा खौल रहा था, बार-बार एक ही शब्द कानों में टकरा रहा था—वेश्या, वेश्या, वेश्या। भवानीसिंह कब घर पहुँचा पता ही नहीं चला। घर के अन्दर तो भवानीसिंह गया; परन्तु किसी से कुछ कहे बगैर अपनी दोनाली बन्दूक उठाई और बाहर आकर सीधे बस्ती से बाहर आ गया। बहुत खोजने पर भी भवानीसिंह का पता नहीं चला। एक दिन धन्नालाल के घर एक चिट्ठी आयी जिसमें लिखा था—**“पापी पन्नालाल के पाप की गिनती पूरी हो चुकी है, अब कर सकता है तो करे मौत का इन्तजार।”**

**आगाह अपनी मौत का, कोई वसर नहीं।
सामान सौ बरस का, पल की खबर नहीं॥**

पत्र क्या प्रत्यक्ष मौत का पैगाम था। पैगाम भेजने वाले का नाम भी स्पष्ट लिखा था जिसे सभी ने भारी आश्चर्य से पढ़ा तथा सभी के मुख से बड़े दुःख के साथ बरबस निकल गया **“बेचारा”** भवानीसिंह क्या करता। दुष्ट पापी पन्नालाल ने भवानीसिंह को कहीं का नहीं छोड़ा, एक अच्छे इंसान को ऐसी बदनामी के कूप में ढकेला कि उसका जीवन ही नरक बन गया। समाज में तो सम्मान से रहने नहीं दिया। अब जंगल में जाकर भवानीसिंह का क्या बिगाड़ेगा खुद ही बचले तो बहुत है।

पिता के फरार होने की खबर हेमलता को पता चली तो वह गश्त (चक्कर) खाकर गिर पड़ी। होश आता तो केवल पिता को ही पुकारती। कई बार तो उसने आत्म-हत्या की भी कोशिश की मगर घरवालों की सतर्कता एवं सावधानी से वह सफल नहीं हो सकी। हेमलता की माँ तेजकुँवर तो मानों पागल ही हो गयी। एक तरफ बेटी का बढ़ता पेट, ऊपर से पति की फरारी, ये ही नहीं घर की आर्थिक रूप से तंग होकर बौराई तेजकुँवर बस आकाश में घूरती या दरवाजे के बाहर देखती मानों उसका पति वापिस आने वाला हो।

घर के हालात की जानकारी भवानीसिंह को हुई तो उसका दिल रो उठा। मन ही मन चीत्कार कर उठा; किन्तु उसके तो होश उड़ गये यह सुनकर कि उसने जिस पापी की हत्या का प्रण लिया है उसकी बेटी

ने उसी को पति मानकर अपनी मांग में सिन्दूर भर लिया है तथा यह प्रण भी कर लिया है कि यदि मैं सच्चे क्षत्रिय की बेटा हूँ तथा भगवान के प्रति मेरी आस्था सच्ची है तो पन्नालाल को मुझे पत्नी के रूप में स्वीकार करना ही होगा। लगभग दीवार से सिर को मार दिया भवानीसिंह ने कि यदि मैं अपना प्रण पूरा नहीं करता तो मेरा क्षत्रिय होना बेकार है और यदि अपने प्रण को पूरा करता हूँ तो मेरी ही प्यारी पुत्री के प्रण का क्या होगा? अपनी किस्मत के द्वारा किये क्रूर मजाक ने उसे अन्दर से बुरी तरह तोड़ दिया। गम का सैलाब इतना तेज उठा कि वह गम के भारी बोझ को संभाल नहीं सका और गम गलत करने के लिये नशे को गले लगा लिया।

बार-बार होने वाले नशे ने गम दूर तो नहीं किया; हाँ गम को क्रोध में इस तरह बदल दिया कि जो कुछ वह पन्नालाल के साथ करना चाहता था वही काम उसने पन्नालाल जैसे समाज के प्रतिष्ठित, सम्मानित, धनवान मगर भावनाओं से शून्य तथा सदैव गरीबों की जिन्दगी से खेलने वालों के साथ करना शुरू कर दिया। अब तो भवानीसिंह आतंक की पर्याय बन गया। पुलिस और समाज के ठेकेदार सफेदपोश धनाढ्यों की आँखों की किरकिरी मगर गरीब, मजूदर, शोषित, पीड़ित और असहायों का सहारा तथा अन्याय, अत्याचार एवं असमानता के विरुद्ध संघर्ष करने वाला लोकनायक बन गया।

एक से बढ़कर खूँखार तथा दुर्दान्त दस्यु शामिल थे भवानीसिंह के गिरोह में। दस्यु सरदार भवानीसिंह पर सरकार की ओर से पूरे तीन लाख की इनाम जिन्दा या मुर्दा लाने हेतु रखी गयी। मगर भवानीसिंह के नेक काम तथा चरित्र इतना उत्कृष्ट था कि आम आदमी उस पर अपनी जान छिड़कता था। इसीलिये पुलिस चाहकर भी उसका पता हासिल नहीं कर सकी थी। सरदार भवानीसिंह किसी भी वारदात को करने के पूर्व बाकायदा सूचना देता और सूचना के अनुरूप कार्य न होने पर ही वारदात को अन्जाम देता था। कभी कोई गरीब उसके पास पहुँच जाता तो उसकी भरपूर मदद करता। खाने को अनाज की, पहनने को कपड़ों एवं खर्च हेतु धन की भी व्यवस्था बनवा देता। किसी भी गरीब की लड़की की शादी पैसे के अभाव में रुकना उसके कारण संभव नहीं थी। धनवान भी अगर दहेज की लालच में बारात लौटाते तो वापिस लड़के की लाश पहुँचती। इसीलिये लड़के वाले भूलकर भी दहेज का नाम मुँह से नहीं निकालते।

एक बार लूट के लिये सरदार भवानीसिंह गाँव पहुँचा। जिस घर में लूट चल रही थी उसी घर में एक बहुत ही सुन्दर, गजब की खूबसूरत कन्या थी जिसकी उम्र मात्र अठारह वर्ष की थी। उसी कन्या की शादी के लिये घर में खूब दान-दहेज तथा गहना जोड़ा गया था। सरदार भवानीसिंह बाहर घोड़े पर बैठा साथियों को शीघ्रता हेतु आदेशित कर रहा था, फिर भी अन्दर काफी देर हो रही थी। सरदार भवानीसिंह ने सोचा इतनी देर तो कभी नहीं हुई, स्वयं चलकर देखना चाहिये आखिर बात क्या है? भवानीसिंह अन्दर पहुँचा तो एकदम यह देखकर सन्न रह गया कि उसका साथी दस्यु जालिमसिंह उसी लड़की की इज्जत से खेलने की कोशिश कर रहा है तथा बाकी डाकू जालिमसिंह के खौफ से चुप है। एक भी सैकिण्ड की देरी किये बगैर

सरदार भवानीसिंह ने पूरी शक्ति से चीखते हुये कहा—ठहरो जालिमसिंह ! यह लज्जाजनक काम बन्द करो वर्ना परिणाम बहुत बुरा होगा । मगर कामान्ध जालिमसिंह बोला—सरदार क्या बात है, क्यों इतने परेशान हो, तुम धन लूटते हो मैं इज्जत, हैं तो हम लुटेरे ही, फिर क्यों तुम्हें तरश आता है? क्या ये भी तुम्हारी लड़की लगती है या बहिन जो इतना परेशान हो रहे हो ?

आगे कुछ न सुन सका भवानीसिंह, उसकी आँखों में आ गया उसकी ही बेटी हेमलता का चेहरा । भवानीसिंह को लगा, सामने और कोई नहीं उसकी अपनी बेटी हेमलता है जिसे लूटने का प्रयास करने वाला पन्नालाल है । फिर तो ट्रेगर पर उँगली दबते देर नहीं लगी । गोली की आवाज के साथ ही जालिमसिंह का सिर टुकड़े—टुकड़े बिखर गया । उसके पाशविक चंगुल से मुक्त हुई युवती भी चाचू—चाचू कहती हुई दौड़कर भवानीसिंह से लिपट गई और जोर—जोर से फफक—फफक कर रोने लगी । भवानीसिंह का भी दिल भर आया और उसने भी अपना ममता भरा हाथ उस लड़की पर फेरते हुये कहा—बेटी निश्चित रहो, कुकर्मों को उसके कुकर्म की सजा मिल गयी है । तुम अपना पूरा गहना पहनलो, मैं इसे नहीं लूट सकता ।

तपाक से युवती ने बड़ी मासूमियत से पूछा कि चाचू यदि किसी की इज्जत लूटना कुकर्म है तो किसी का धन लूटना क्यों कुकर्म नहीं है? शायद इस तरह का प्रश्न सुनने की मनःस्थिति में नहीं था सरदार भवानीसिंह । तभी तो एकाएक भवानीसिंह की आँखों में आँसू छलछला आये और बगैर कोई उत्तर दिये लूट का सारा सामान वहीं छोड़ जालिमसिंह की लाश घोड़े पर लदवा बीच चौराहे पर फिकवा दी एवं स्वयं साथियों सहित वापस जाने को मुड़ा कि वही भोली सुकुमार कन्या उसके आगे रोती हुई हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी । भवानीसिंह अवाक् उसे देखकर बोला—बेटी, क्या बात है? मुझे जाने दो, रास्ता छोड़ो; परन्तु युवती भी एक राजपूत क्षत्रिय कन्या थी, वह भी पूर्ण निर्भीकता से बोली—नहीं चाचू, मैं आपको इस तरह नहीं जाने दूँगी, आपको मेरे यहाँ से जाने से पहले या तो ये दुष्कृत्य त्यागना होगा अथवा मेरी लाश पर गुजर कर जाना होगा ।

सहसा और सहज निर्मित इस परिस्थिति का तो भवानीसिंह को गुमान भी नहीं था । उसका कोमल हृदय भी बच्ची की निडर और तेजस्वी तथा सत्य वाणी से प्रभावित हुये बिना नहीं रहा । परन्तु उसी समय एक डाकू बोल उठा—सरदार ये लड़की बहुत बड़बड़ करती है, आपकी भावनाओं को कुरेदकर आपको जाल में फँसाना चाहती है । हमारे जीवन में भावना का कोई स्थान नहीं यदि हम इसी तरह भावनाओं में बहने लगे तो आम आदमी और हममें क्या अन्तर रह जाएगा ? शीघ्र चलो वर्ना यह चुपचाप पुलिस बुलाकर हमें पकड़वा देगी । भवानीसिंह से कुछ कहते न बना, अन्दर ही अन्दर वह विचित्र भावनाओं का शिकार हो गया । एक तरफ मानवता थी तो दूसरी तरफ दानवता वह कुछ भी सोचने—समझने की स्थिति से बचने की कोशिश करने लगा और इसी झुंझलाहट में उसने उस युवती को हटाने के लिये झटका दिया तब गजब का

साहस और फुर्ती दिखाते हुये उस युवती ने सरदार भवानीसिंह की बन्दूक की नाल सीधे अपने सीने पर लगाते हुए कहा, “दीदी हेमलता की कसम चाचू मैं सच्चे क्षत्रिय की संतान हूँ और दीदी हेमलता की तरह पवित्र हूँ तो आपको मेरी बात माननी ही पड़ेगी।”

अचानक क्रोध से फुंफकारते सरदार भवानीसिंह के अन्दर का डाकू जाग उठा और हाथ बन्दूक के ट्रेगर पर पहुँच गया; परन्तु ऊँगली दबाते-दबाते न जाने क्या चमत्कार हुआ कि बन्दूक की दिशा बदलकर दीवार की ओर स्वयं भवानीसिंह ने कर दी। गोली की आवाज तो आयी; परन्तु खुद वह युवती हैरत में रह गयी कि आखिर क्या हुआ मगर खुद को सुरक्षित देख खुशी से उसके आँसू झर-झर बहने लगे। भवानीसिंह भी खुद को रोक नहीं सका और घोड़े से उतरकर युवती को छाती से चिपकाकर जोर-जोर से रोने लगा। एक खूँखार, दुर्दान्त, हृदयहीन, निर्मम और निर्दय दस्यु सरदार को इस तरह बिलखता देख वहाँ पर उपस्थित समस्त स्त्री-पुरुष भी स्वयं के आँसू नहीं रोक सके। कुछ ही देर में सरदार भवानीसिंह ने अपनी बन्दूक उस बिटिया के पैरों में रखी और चुपचाप साथी डाकूओं के साथ जंगल की ओर रवाना हो गया।

आज के इस संपूर्ण घटनाचक्र की चर्चा ज्यों-ज्यों फैलती गई चारों तरफ लोगों की जबान पर बस भवानीसिंह की तारीफ के ही शब्द सुनने को मिलते। कोई उसे दयालु कहता, कोई वात्सल्यहृदय, कोई मानवता का प्रेमी, कोई नारी की अस्मत्त का रखवाला, कोई कुकर्मियों का काल, कोई दीन-दुःखियों का पालनहार तो कोई बहू-बेटियों का तारणहार; इसी प्रकार न जाने कितनी कथायें भवानीसिंह के बारे में प्रचलित हो गयी; परन्तु वास्तव में कोई भी स्वयं भवानीसिंह के अन्दर धधकी अन्तर्मन की व्यथा को नहीं जान पाया। किसी को सहज विश्वास ही नहीं होता था कि एक जल्लाद जैसे कठोर डाकू के हृदय में सुन्दर भावनाओं का बहता ऐसा पवित्र और निर्मल दरिया भी हो सकता है। ऐसी ही प्रशंसा की कथायें तो सुन रखी थी उस युवती ने भवानीसिंह के बारे में। उसे तो भवानीसिंह के बारे में गुजरी एक-एक घटना की जानकारी थी। आखिर क्यों न हो उसी के पड़ोसी के दूर के रिश्तेदार भवानीसिंह के मित्र धन्नालाल जो थे।

भयभीत मोतीलाल ने पन्नालाल की शादी की बात सोची तथा पन्नालाल को लड़की भी मिली तो उसी गाँव में जहाँ भवानीसिंह के साथ यह हादसा गुजरा था। युवती मधुमिता को भी पन्नालाल के द्वारा हेमलता के साथ किये कुकृत्य की पूर्ण जानकारी थी। इसीलिये उसने मन ही मन पन्नालाल को उसके पाप का प्रायश्चित्त कराने तथा हेमलता का प्रण पूर्ण कराने का स्वयं संकल्प कर लिया। अपने माता-पिता तथा भाइयों को भी सारी बात विस्तार से बताते हुए चुपचाप हेमलता को अपने यहाँ लाने को राजी कर लिया। ताकि एक ही मंडप में बैठकर उसकी और हेमलता की शादी हो सके तथा कानों कान किसी को पता भी न चले।

इसी के साथ मधुमिता ने बड़ी ही होशियारी से एक कार्य और किया तथा पन्नालाल की ससुराल वाले अपने पड़ोसियों को पन्नालाल की दुष्टता से हेमलता के प्रति किये अन्याय की जानकारी विस्तारपूर्वक दी तो उन्होंने भी पन्नालाल से रिश्ता जोड़ने की बजाय तोड़ना उचित समझा। परन्तु मधुमिता ने बात फैलने के डर से उन्हें उसी तिथि में उसी मंडप में किसी दूसरे लड़के को देखकर अपनी लड़की की शादी करने को राजी कर लिया तथा उनकी शादी में स्वयं भी भारी दहेज देने का वायदा भी कर लिया। मगर यह भी हिदायत कर दी कि यदि लड़के वालों ने मुँह से एक बार भी दहेज की बात की या लालच प्रगट की तो बारात बैरंग लौटा दी जायेगी।

इसी के साथ मधुमिता ने अपनी शादी का निमंत्रण सरदार भवानीसिंह को भेजते हुए यह सख्त हिदायत कर दी कि यदि शादी में नहीं आये तो बारात तो खाली लौटेगी ही वह भी आजीवन कुँवारी रहेगी। भवानीसिंह को निमंत्रण मिला तो खुशी का पारावार नहीं रहा, मगर उसी समय याद आयी अपनी लाड़ली बेटी हेमलता की तो सारी खुशी काफूर हो गयी। अपने मन में कितने अरमान सँजोये थे—बेटी की शादी के; परन्तु सभी धूल-धूसरित हो गये। अब वह और बेटी दोनों ही खून के आँसू पीने को मजबूर हैं। अभी वह खुद को सँभाल भी नहीं पाया था कि निमंत्रण वाले के मुँह से मधुमिता की शर्त सुनकर पहले तो चिंता में पड़ गया। साथियों ने भी सुनकर एक स्वर से वहाँ जाने को मना किया। मगर सरदार भवानीसिंह ने पूरी दृढ़ता से कहा कि भले मुझे पुलिस पकड़ ले या मुझे गोली मार दे, मगर मैं बिटिया मधुमिता का अपने ही हाथों कन्यादान करने अवश्य जाऊँगा।

अभी मधुमिता की शादी का आमंत्रण मिले एक ही दिन गुजरा था कि मुखबिर ने एक ऐसी सूचना भवानीसिंह को दी कि उसकी आँखों में तेज चमक पैदा हो गयी। खबर थी कि पन्नालाल की शादी मधुमिता के गाँव में मधुमिता के ही पड़ोसी से हो रही है। अब तो पन्नालाल ने यह भी पता लगवा लिया कि पन्नालाल और मधुमिता की शादियों की तारीख/तिथि एक ही है। फिर क्या था पूरे गिरोह को अभी से अच्छी तरह तैयार रहने को कहा गया।

इधर मोतीलाल ने पन्नालाल की शादी पूरी तरह गुप्त रखी थी। फिर भी उसे भय था कि किसी तरह भी भवानीसिंह को पता चला तो कोई अनहोनी न हो जाये। इसीलिये कुछ नौकरों की देखरेख में पन्नालाल को छोड़ वह समस्त परिवार को शादी तक के चार माह व्यतीत करने के लिये अज्ञात स्थान पर चला गया। इतना ही नहीं मोतीलाल ने ऊपर तक राजनीतिक पहुँच लगाकर भवानीसिंह को जान से मारने अथवा गिरफ्तार करवाने हेतु पुलिस पर दबाव बढ़ा दिया।

ऊपर दबाव में पुलिस कप्तान भी बहुत तेज-तरफट और सख्त मिजाज का भेजा गया ताकि वह शीघ्र भवानीसिंह का किस्सा खत्म कर सके। अपनी शैली के अनुरूप कप्तान ने ऐसा जाल बुना कि सरदार

भवानीसिंह का सुराग शीघ्र हाथ लगे। उसने रणनीति बदलते हुये गरीबों का दिल जीतना शुरू किया ताकि किसी तरह गरीबों को वश में कर जानकारी हासिल हो सके। फिर भी सफलता न मिलती देख वेष बदलकर स्वयं बीहड़ों की खाक छानना शुरू कर दिया।

पुलिस कप्तान को गंभीर हैरत थी कि लोग भवानीसिंह का नाम सुनते ही या तो चुप हो जाते हैं या बात बदलने की कोशिश करते हैं अथवा उसे ही शक की नजरों से देखने लगते हैं। क्या बस्ती, क्या वन, पूरा एक माह बीत गया था कप्तान को गलियों की धूल खाते मगर भवानीसिंह के बारे में मात्र इतना ही जान सका कि वह बुरों को बहुत बुरा तथा भलों को बहुत भला इंसान है। निर्दोष को कभी सताता नहीं, औरतों से कभी बोलता नहीं, हमदर्दी में कभी पीछे नहीं रहता।

कप्तान भी कम चतुर नहीं था वह अच्छी तरह जान गया कि इस तरह का चलने वाला नहीं। कोई न कोई युक्ति लड़ानी पड़ेगी। बस कप्तान ने रख लिया स्वयं डाकू भवानीसिंह का वेश और एक ग्रामीण को रास्ते में इतनी पिटाई की कि वह गिर पड़ा तथा उसके पास जो कुछ भी था उसे छीनकर कप्तान बोला—**“मैं हूँ डाकू भवानीसिंह, याद रखना मेरे बारे में किसी से कुछ कहा तो तुम्हारी खैर नहीं।”**

कप्तान की युक्ति काम कर गयी। गाँव वाले ने अपनी बीती सभी को रो-रोकर सुनायी। बात स्वयं उड़ते-उड़ते भवानीसिंह तक पहुँची। यही तो कप्तान चाहता था। इसीलिये उसने उस गाँव में भिखारी का वेष धारण कर भवानीसिंह का इन्तजार करना शुरू कर दिया।

पूरी बात सुनकर सरदार भवानीसिंह का माथा ठनक उठा। उसे लगा दाल में जरूर कुछ काला है। मेरे ही इलाके में मेरा ही वेश बनाकर, मेरे ही गरीब भाइयों पर हाथ उठाने की हिम्मत कोई साधारण आदमी तो कर नहीं सकता; तुरन्त गुप्तचर भेजकर पता लगवाया कि देखो उस गाँव में उन दिनों कौन नया आदमी आया है तथा किस-किस के यहाँ कहाँ-कहाँ से रिश्तेदार आये थे।

गुप्तचरों से प्राप्त सूचना के आधार पर समस्त रिश्तेदारों के यहाँ खोज की तो सभी निर्दोष निकले। हाँ, एक भिखारी अवश्य नया-नया आया था। मगर उसकी अर्द्धविक्षिप्त हरकतें देख कोई भी उसे भिखारी के अलावा कुछ भी मानने को तैयार नहीं था। हाँ, भवानीसिंह को सब कुछ समझ में आ गया और पूरे गिरोह के साथ एलान करवा के गाँव पहुँच गया। अपने गुप्तचरों से भिखारी पर गहरी नजर रखने की हिदायत भी उसने दे दी। पल-पल की खबर गुप्तचर उसे दे रहे थे। सारे गाँव को सरदार ने एक मैदान में इकट्ठा किया। छिपते-छिपते भिखारी बना कप्तान भी वहाँ एक पेड़ की ओट में खड़ा भवानीसिंह को देखने और पहचानने की कोशिश करने लगा। कप्तान चाहता था कि किसी तरह भवानीसिंह अकेला उसकी तरफ आ जाय तब वह नकाब उतारकर उसे पकड़ ले। सरदार भी यही चाहता था कि भिखारी की असलियत सबके सामने आ जाये।

सरदार भवानीसिंह एकाएक भारी भीड़ में गरजदार रोबीली आवाज में बोला—भाइयों, आज आप स्वयं अपनी आँखों से देख लें कि मैं ही भवानीसिंह हूँ तथा मैंने आज तक किसी बेकसूर पर हाथ नहीं उठाया। फिर मेरे होते हुये कौन है, जिसने मेरे नाम का उपयोग कर एक निर्दोष को पीट दिया। मैं आज उसकी पहचान कराने आया हूँ। अभी सरदार भवानीसिंह की बात पूरी भी नहीं हुयी थी कि गाँव के चारों तरफ पुलिस की सीटियाँ गूँज उठीं। भवानीसिंह को पलक झपकते सब कुछ समझ में आ गया। पहले ही नये पुलिस कप्तान के बारे में उसने सुन रखा था, अब तो उसे उसने पूरी तरह पहचान भी लिया। इसीलिये घोड़े को एड़ मारता हुआ सीधा पीपल के पेड़ के नीचे खड़े कप्तान के पास पहुँचा तथा उछलकर उसे घोड़े पर लादकर ललकार कर बोला—खबरदार अगर किसी ने गोली चलाई या अपनी जगह से हिलने की कोशिश की। सरदार की चेतावनी को गाँव वालों ने अजीब नजरों से देखा कि क्या सरदार पागल हो गया है जो एक भिखारी को अपनी ढाल बना रहा है, मगर पुलिस वालों को साँप सूँघ गया तथा सभी ने अपने हथियार नीचे रख दिये। गाँव वालों को घनघोर आश्चर्य हुआ पुलिस वालों की इस हरकत पर। उसी सरदार की गोली आसमान की तरफ गरज उठी और गोली चलाते हुये सरदार बोला—मैं चाहता तो यह गोली इस भिखारी के सिर में मार देता मगर आपको असली—नकली भवानीसिंह की पहचान कैसे करवाता। इसीलिये अपना और इस भिखारी का असली परिचय मैं नहीं यह भिखारी ही आपको देगा, मैं यही चाहता हूँ।

भवानीसिंह की बन्दूक की मूँठ भिखारी के कंधे पर पड़ी तो खुदबखुद वह बोल उठा—**“मैं भिखारी नहीं हूँ, पुलिस कप्तान हूँ तथा मैंने ही गाँव वाले की मार—पीट की है ताकि डाकू भवानीसिंह तक पहुँच सकूँ।”** इसके आगे भवानीसिंह ने उसे नहीं बोलने दिया बल्कि सुरक्षित साथियों को निकालकर बीच जंगल में पुलिस कप्तान **“तुम मुझे मौत देने आये थे मगर मैं तुम्हें जिन्दगी दे रहा हूँ, आइन्दा ऐसी भूल नहीं करना वना मुझे मेरी बेटा की दी सौगन्ध तोड़ने को मजबूर होना पड़ेगा।”**

कप्तान भी कायल हो गया भवानीसिंह की बहादुरी और जिन्दादिली का, उसने भी प्रत्युत्तर देते हुये कहा—**“भवानीसिंह, मेरी पिस्तौल की गोली कभी तुम्हारा सीना छलनी नहीं करेगी। हाँ, मेरा वादा रहा कि एक दिन तुम्हें जिन्दा गिरफ्तार करूँगा।”**

मधुमिता ने हेमलता को अपने पास बुला लिया तथा सारी बात समझाकर हेमलता से अपनी योजनानुसार कार्य करने को तैयार कर लिया। हाँ, भवानीसिंह से हेमलता का एवं हेमलता से भी भवानीसिंह का भेद गुप्त रखा तथा पन्नालाल एवं भवानीसिंह को भी एक दूसरे की खबर भी नहीं होने दी। मधुमिता ने मात्र अपनी बुद्धि व कौशल से सारा कार्य इतने गोपनीय तरीके से किया, किसी को किसी बात की कानोंकान खबर भी नहीं हुई तथा हेमलता का विवाह पन्नालाल से हो गया और स्वयं हेमलता एवं पन्नालाल को भी पता नहीं चला। हाँ, सप्तपदी का अन्तिम फेरा बाकी था, जो प्रारम्भ हो गया था।

भेद खुलता इसके पहले ही एक अजीबो गरीब घटना घटी। धन्नालाल की धीरे-धीरे ठीक होने वाली तबियत यकायक तेजी से ठीक होने लगी। अभी पूरी तरह ठीक भी नहीं हुआ था धन्नालाल कि नौकरों से पन्नालाल की किसी और जगह शादी की बात सुन खून खौल उठा तथा शादी रोकने एवं हेमलता के साथ हुये अन्याय का प्रतिकार करने वह शीघ्रता से पहुँचा। उधर दूल्हों के सिर फूलों से ढके होने से भवानीसिंह पन्नालाल को पहचान नहीं सका। हाँ, उसका हाथ बार-बार बन्दूक पर जाता मगर मधुमिता के मना करते ही मन मसोसकर रह जाता। सातवाँ फेरा भी प्रारम्भ हुआ तो भवानीसिंह की हिम्मत जवाब दे गयी। मधुमिता को दिये वचन से अधिक अपनी बेटि हेमलता का चेहरा उसकी आँखों में आकर ठहर गया। उसी समय एक साथ दो घटनायें हुयीं। एक तरफ भेष बदले भवानीसिंह के हाथ से चली गोली से पन्नालाल के सिर का साफा उड़ गया तो उसी समय धन्नालाल की कड़कती आवाज गूँज उठी—“रुको ! रुको ! रुको ! ये शादी हर्गिज नहीं हो सकती। पन्नालाल की शादी होगी तो हेमलता से अन्य किसी से नहीं। मैंने पन्नालाल के पाप का प्रायश्चित करने के लिये हेमलता को अपनी भाई की पत्नी बनाने का निर्णय कर लिया है। इतना ही नहीं हेमलता की कोख में पलने वाले बच्चे को भी पन्नालाल के रूप में पिता का नाम तो मिलेगा ही, मेरी हिस्से की संपूर्ण संपत्ति का स्वामी भी वही संतान होगी।”

यही शब्द सुनने को तरश गया था ठाकुर भवानीसिंह। एकपल भी विलम्ब न करता हुआ दस्यु सरदार भवानीसिंह बच्चों की तरह बिलखता हुआ धन्नालाल के पैरों में गिर पड़ा। पन्नालाल भी इस अचानक बदली परिस्थिति से भौंचक्का रह गया, मगर मोतीलाल ने जब बड़े भाई देवता समान धन्नालाल के मुँह से पन्नालाल की काली करतूत सुनी तो उसका सिर ही चकरा गया। पन्नालाल से उसका पूरी तरह विश्वास उठ गया। यही नहीं मोतीलाल का क्रोध चरम पर पहुँच गया और देखते ही देखते उसने भवानीसिंह की बन्दूक उठाकर पन्नालाल के सीने पर रखते हुए कहा—“कुलकलंकी, आज तुझे मारकर ही कुल का कलंक मिटाऊँगा। तूने हम सबको तो धोखा दिया ही, देवता सरीखे बड़े भईया की मजबूरी का लाभ उठाया तथा सगे खून से भी बढ़कर वफादार भाई भवानीसिंह को डाकू बनने पर मजबूर कर दिया।”

अभी मोतीलाल की ऊँगली ट्रेगर पर दबती कि फेरा छोड़कर मधुमिता ने बन्दूक की नाल पन्नालाल के सीने से हटाते हुये कहा—“चाचू, आप अन्जाने में ही बहुत बड़ा अनर्थ कर रहे हैं। जरा दूल्हा-दुल्हन का चेहरा तो देख लो, फिर गोली मार देना। इसी के साथ मधुमिता ने हेमलता के चेहरे से पर्दा हटाया तो धन्नालाल, भवानीसिंह, मोतीलाल क्या पन्नालाल भी हेमलता का चेहरा देखते रह गये। जहाँ सभी की खुशी का ठिकाना नहीं था वहीं पन्नालाल को काटों तो खून नहीं। उसकी चोरी पकड़ी ही नहीं गयी थी, सारी मक्कारी धरी रह गयी, जिससे धोखा किया वही दुल्हन बन गयी।

इससे पहले कि कोई कुछ कहता पुलिस कप्तान ने हवा में फायर करते हुए कहा—ठाकुर भवानीसिंह

अपनी जगह से हिलना मत। देखो, पुलिस ने चारों तरफ से घेर लिया है। सचमुच सभी ने देखा कि भेष बदले बन्दूक ताने सिपाही भवानीसिंह के चारों तरफ मौजूद हैं। सभी भय एवं सक्ते में आये ही थे कि सरदार भवानीसिंह बोला—कप्तान साहब, क्या आपके अपने ही सिपाही नजर आते हैं मेरे नहीं। जरा देखो, चारों तरफ पेड़ों पर, सचमुच एक-एक पेड़ पर दस-दस बन्दूकधारी डाकू बन्दूक व निशाना कप्तान की तरफ किये मुश्तैद थे। तभी भवानीसिंह बोला—कप्तान साहब, मरने से पहले मैं अपनी बेटी का कन्यादान करना चाहता हूँ; किन्तु कप्तान हाथ आया मौका जाने नहीं देना चाहता था इसीलिये उछलकर भवानीसिंह की छाती पर पिस्तौल उठाकर बोला—डाकू की कोई बेटी नहीं होती तो बेटी का कन्यादान कैसा? अभी कप्तान के शब्द पूरे भी नहीं हुये थे कि धन्नालाल की लोहे की छड़ी हवा में लहरायी और कप्तान की पिस्तौल सीधे जमीन पर लौटती नजर आयी। मगर पिस्तौल से गोली चल चुकी थी जो भवानीसिंह की बांह के पार चली गयी। अभी भवानीसिंह कप्तान पर गोली चलाता कि पुनः धन्नालाल की छड़ी ने कमाल कर दिया। भवानीसिंह की बन्दूक की नाल अपनी छाती पर करता हुआ धन्नालाल बोला कि यहाँ अब किसी की लाश नहीं बिछेगी। आज मेरी एक नहीं तीन-तीन बेटियों की शादी का शुभ अवसर है, मैं अपनी जान देकर भी इस अवसर को जाने नहीं दूँगा।

इसी के साथ धन्नालाल ने अपनी पगड़ी सिर से उतारी और कप्तान के पैरों में रखते हुये कहा—आपको गिरफ्तार करना है तो भवानीसिंह को नहीं मुझे ही करिये; क्योंकि मेरे भाई की काली करतूत ने ही भवानीसिंह को बीहड़ों में जाने को मजबूर किया। इसी के साथ यह कहते हुये धन्नालाल भी रो पड़े कि भवानीसिंह को शादी की रस्म अदायगी तक आप छोड़ दें, मैं उसकी जिम्मेवारी लेता हूँ। मौके की गंभीरता और धन्नालाल की वजनदारी का ख्याल कर कप्तान भी सहमत हो गया तथा शादी पूर्ण करने की इजाजत दे दी।

जीवन में पहली बार पन्नालाल ने धन्नालाल की आँखों में आँसू देखे थे, उसका ही प्रभाव था कि पन्नालाल का हृदय एकदम व्यथित और द्रवित हो गया। सचमुच पन्नालाल को अपनी भूल का अहसास हुआ तो फफकता हुआ धन्नालाल के चरणों में गिरा और क्षमा, क्षमा, पिता... कहता हुआ बेहोश हो गया।

गमगीन और बोझिल वातावरण में अचानक खुशी की ऐसी किरण फूटी, तीनों लड़कियों की शादी यादगार बन गयी। डाकुओं ने समर्पण ही नहीं किया, जीभर शादी में नाचे भी। पुलिस वाले भी बेखौफ डाकुओं के साथ नृत्य में सम्मिलित हुये। सातों भांवर पूरी हुई मगर जब कन्यादान की बारी आई तो धन्नालाल ने कहा—कन्यादान तीनों बेटियों का भवानीसिंह करेगा। मगर भवानीसिंह कहा मानने वाले थे बोले—“जहाँ स्वयं देवता मौजूद हों वहाँ मुझ जैसे पापियों की क्या हिम्मत जो इन प्यारी बेटियों पर अपने पाप और कलंकित जिन्दगी की छाया भी पड़ने दे।”

सहसा धन्नालाल के नेत्र आँसुओं से भीग गये। अचानक मिली खुशी मानों आँसू बनकर बह रही हो। बचपन से आज तक का दृश्य उनकी आँखों में उभर आया। धन्नालाल के मन के भाव जो आँसू बनकर छलक रहे थे वही शब्द बनकर जुबान पर आने लगे। मगर इससे पूर्व कि धन्नालाल कुछ कहते, कहानी के अन्त के पूर्व ही कई प्रश्न जिज्ञासा बनकर मन में छा गये जिनका उत्तर सहज संभव नहीं था। काफी प्रयास के बाद मुझे लगा कि.....।

यह वही कहानी है जिसे सुनकर मैंने जाना कि समाज में अपराध कैसे होते हैं तथा एक सज्जन पुरुष भी किस प्रकार डाकू बनकर जंगलों की खाक छानता है। क्या अपराध करने वाले अपने अपराध के प्रति स्वयं संपूर्ण दोषी हैं या अपराधी के बारे में। यही तो हमारी विसंगति है जो हमें सत्य की तह तक पहुँचने ही नहीं देती। इसीलिये सुधार भी आधा ही होता है तथा निष्कर्ष भी अधूरा रह जाये तो परिणाम तो अधूरा रहेगा ही। अधूरा फल तो सदा हानिकारक ही होता है। अधूरा परिणाम बजाय समस्या समाधान के समस्या को और अधिक उलझा देता है। अपराध के बारे में अकेले विचार करें तो अपराधी उस अपराध में खो सा जाता है; क्योंकि उस तरह के अपराध करने वालों की नहीं, उस अपराध की प्रकृति से समानता ही हम खोजा करते हैं तथा आगे का कार्य रुक जाता है। इसी प्रकार मात्र अपराधी पर विचार करते हैं तब अपराधी के जीवन से संबंधित अपराधों की सूची के आगे जिस अपराध पर हम विचार करना चाहते हैं वह अपराधी के अपराधों की भीड़ में खो जाता है। इसीलिये न पूर्णतः अपराध का परिचय हो पाता है और न ही पूर्णतः अपराधी का।

अपराध और अपराधी का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिये दोनों पर एक साथ विचार करना आवश्यक है। प्रत्येक अपराधी जन्मजात अपराधी नहीं होता। कभी पूर्व जन्म के संस्कार किसी को कोई ऐसा कार्य करने पर विवश करते हैं जो अपराध है; किन्तु हमारे पास मौजूद विवेक हमें उस अपराध के संबंध में हित-अहित, हानि-लाभ बताकर रोकने का प्रयास करता है। अन्दर से अपनी आत्मा की आवाज विवेक के रूप में सुनने, समझने एवं पहचानने वाले विवेक को आधार बनाकर बुरे कार्य कर अपराध नहीं करते अपितु पूर्व कर्मजनित संस्कार का उदय आते ही बड़े ही सहज और शांत भाव से समता परिणाम धारण कर कर्म की उदीरणा कर देते हैं। आत्मा की आवाज को सुनकर भी विवेक से काम न करने वाले प्रथम आत्मा के शुद्ध परिणामों का ही घात करते हैं। तत्पश्चात् वह पूर्वजनित कर्मबन्ध का संस्कार उदय की प्रकृति में वह कृत्य करते हैं जो उन्हें मानसिक संतुष्टि प्रदान करता है। उनकी यही मानसिक संतुष्टि ही अपराध का उद्गम है; क्योंकि उनका वह कृत्य ही अपराध है, दूसरे के परिणामों को घात करने वाला है, प्रत्यक्ष हिंसा का उदाहरण है। अगर क्षणभर भी कोई विवेक का प्रयोग करलें तब न तो उससे ऐसा कृत्य होगा जिससे उसे अपराधी कहलाना पड़े और न ही उसका कृत्य इस कोटि का होगा कि वह अपराध की श्रेणी में समाहित हो जाय।

वस्तुतः कोई भी अपराधी सदैव एक समान अपराध नहीं करता। एक समान अपराध करने वाला तो आदतन अपराधी होता है। आदतन अपराधी का अपराध मजबूरी नहीं आदत बन जाती है जो अधिकांशतः मृत्यु के साथ ही जाती है। हाँ, अपराधी को अपने कृत्य की प्रकृति, कृत्य का प्रभाव तथा कृत्य से होने वाले सामने वाले के अभाव का अनुभव हो जाये और उसमें उसे करने में मानसिक संतुष्टि से अधिक अपने ही आत्मपरिणामों का घात महसूस हो तब यही अपराध बोध उसे उसकी उस बुरी आदत से निजात दिला देता है। इसका अर्थ यह भी है कि अपराधी का एक ही तरह के अपराध से कितना भी गहरा जुड़ाव हो फिर भी वह सदाकाल नहीं रह सकता। जिस समय भी अपराधी को अपना ही कृत्य स्वयं या परद्वारा हिंसक या अहित करने वाला अनुभूत होगा, वह उस अपराध से विरक्त हो जायेगा।

इसी प्रकार प्रत्येक अपराधी जब अपने जीवनकाल में एक नहीं, अनेक प्रकार के कृत्य इस प्रकार करता है कि वह कृत्य उसे बार-बार अपराधी की श्रेणी में खड़ा करते हैं तब वह भी कभी एकान्त में अपने ही कृत्यों का स्मरण कर उनका बारीकी से निरीक्षण करता है तब पाता है कि यदि एक बार भी विवेक से काम लिया होता या थोड़ा भी संयम रख लेता अथवा जरा-सी कषाय का मरदन कर लिया होता तब वह विकट परिस्थिति भी सहजता से गुजर जाती और उसके द्वारा वह घृणित कृत्य होने से बच जाता जिसके कारण वह आज अपराधी बना और सबकी नजर में घृणा का पात्र हो गया। हाँ, परिस्थिति का दास नहीं बनकर परिस्थितियों को ही दास बना लेता तब नफरत की नहीं सम्मान की जिन्दगी जीता। इसका मतलब तो यह हुआ कि एक ही तरह का कृत्य किसी परिस्थिति में अपराध होता है और किसी परिस्थिति में वही कृत्य निरपराध होता है।

मानलो किसी ने अनजाने में किसी की हत्या कर दी। अगर मरने वाला समाज में भय, आतंक फैलाने वाला निकला तो उसका कृत्य अपराध की कोटि में नहीं आयेगा; किन्तु यदि मरने वाला सज्जन पुरुष है तब तो मारने वाले के भाव भले उसे मारने के नहीं हो फिर भी वह अपराधी तो हो ही गया। राजा दशरथ ने श्रवणकुमार को मारने का भाव नहीं किया, फिर भी वह हत्या का अपराधी बन बैठा। हत्या तो भावों में बसती है अथवा यूँ कहो कि आपके अन्दर हत्या का भाव आ गया फिर हत्या हो या न हो हत्या के दोषी तो आत्मा में आप ही हो गये। अपराध और अपराधी का रिश्ता भी इसी में छुपा है। जब भी आप अपराधी का अपराध से रिश्ता जोड़ना चाहेंगे तब आपको अन्त में निष्कर्ष प्राप्त यही होगा कि कोई भी अपराधी सीधे-सीधे नहीं बन जाता। पहले अपराध करने का भाव आता है यही भाव ही व्यक्ति का संबंध अपराध से जोड़ देता है।

हमारे स्वभाव में तो सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया, वात्सल्य का वास है फिर अपराध का भाव कैसे आ जाता है? इसी प्रश्न का उत्तर हमें बतलाता है कि हम जब कभी अपने स्वभाव भाव सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया, वात्सल्य में विचलित हुये और अपराध का भाव हमारे अन्दर जागृत हो गया। शुद्ध भावसहित शुद्ध

आत्मा तो मात्र सिद्ध भगवन्तों की है जो लोकाग्र में विराजमान हैं। अरहन्त, भगवन्त भले भावों से पूर्णतः शुद्ध हों; परन्तु आत्मा का शरीर में वास होने से पूर्ण शुद्धता की कोटि में नहीं आते। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि वह किंचित भी अशुद्ध है। हाँ, शरीर कुलदोष होते हुए भी भावों की पूर्ण शुद्धि के कारण कषाय का अभाव होने से स्वभाव से सदा कालशुद्ध रहते हैं। इसीलिये कर्म बन्धन की उस कड़ी को काट चुके हैं जिससे पुनः-पुनः कर्मबन्ध को हम सभी प्राप्त होते हैं। रही बात शेष प्राणियों की तो आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण तो प्रत्यक्ष मोक्षमार्गी हैं। त्यागी, व्रती एवं सच्चे श्रावक भी मोक्षमार्ग के अनुगामी हैं। अन्य समस्त आमजन निजकल्याण के उत्सुक हो जावें, उनके द्वारा संसार, शरीर और भोगों से विरक्ति का भाव आ जाय तब उनका भी संबंध अपराध से मिट जाता है। पूर्वकृत अपराध का दोष भी वह प्रायश्चित्त आदि तप के द्वारा मेट देता है एवं भविष्य में कोई अपराध भूलकर भी न हो इसके लिये सतत सावधान रहता है।

जिन्हें विषय-वासनाओं में ही सुख की अनुभूति हो रही है। गहरे कष्ट, घात-परघात, हिंसा-प्रतिहिंसा को ही जो प्रमुखता देते हैं तथा बदले की विषबेल जन्म-जन्मान्तर तक पाले रहते हैं, वे मोक्षमार्ग के अनुगामी नहीं अननुगामी हैं अथवा सीधे-सीधे कहें तो शुद्ध संसारी नरकगामी हैं। सदा सर्वदा हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह को आधार बना क्रोध, मान, माया, लोभ के रास्ते पर चलते हैं। किसी आदर्श, किसी मर्यादा, किसी प्रकार के संयम या अनुशासन में बंधना वह पसन्द ही नहीं करते। अपने जीवन को सुन्दर और सुसज्जित करने वाले नैतिक मूल्यों और आदर्शों की जो परवाह नहीं करते अपितु पराई वस्तु पर ही सदा नजर रखने वाले या फिर परवस्तु का अवसर मिलते ही स्वयं की बना लेने वाले भी अपराधी ही हैं। ऐसा अपराध करने वाले यह सोचकर खुश होते हैं कि उन्हें किसी ने नहीं देखा अथवा उन्हें कोई दबा ही नहीं सकता; किन्तु अज्ञानी यह नहीं जानता कि तू स्वयं तो देख रहा है और तेरे कर्म तो तुझे प्रतिपल कसते जा रहे हैं।

अपराध करने वाले और अपराध से विरत रहने वालों में मूल अन्तर ही यह होता है कि अपराध करने वाले कार्य तो स्वयं के लिये करते हैं फिर भी देखने वालों में स्वयं को नहीं मानते। इसीलिये निर्भय होकर अपराध करते हैं। अपराध से विरत रहने वाले इससे ठीक विपरीत आचरण वाले होते हैं। वह पर को नहीं, स्वयं को ही देखते हैं, स्वयं को ही करते देखते हैं, स्वयं ही उसका आधार बनते हैं। यहाँ तक कि हरसंभव कोशिश कर पर से पूरी तरह नाता तोड़कर स्वयं में ही उतरने की एवं स्वयं की अनुभूति करने का ही पूर्ण प्रयास करते हैं। इस तरह की साधना एवं अपनी साधना के अनुरूप ही जीवनचर्या को अपनाने वालों का संबंध अपराध से स्वतः समाप्त हो जाता है। कोई देखे या न देखे अपनी आत्मा को घात करने वाले या आत्म-परिणामों को मलिन कर क्षति पहुँचाने वाले अपराधजन्य भावों को वह स्वयं देख लेते हैं तथा कभी भी स्वयं पर प्रभावी नहीं होने देते।

दुनिया की इतनी बड़ी भीड़ में अपराध से रहित आत्मोन्मुखी प्राणी हजार में एक या यूँ कहें कि विरले ही हैं। कोई स्वयं अपराधी बनता है या कोई परिस्थितिवश अपराधी बन जाता है; परन्तु बहुमत कहें या पूर्णमत से आंशिक क्रम संख्या ऐसे ही प्राणियों से भरी पड़ी है जो अपराध को जीवन का आवश्यक अंग मानते हैं, अपने स्वभाव का अंश मानते हैं और ईश्वर प्रदत्त कृत्य स्वीकार करते हैं, यही मिथ्यात्व है, यही जड़ता है, यही मूर्खता है, यही अज्ञान है। क्या कभी कोई ईश्वर किसी भी प्राणी को कोई भी गलत कार्य करने की प्रेरणा दे सकता है या कभी भी किसी प्राणी को गलत कार्य करने पर उपकृत कर सकता है। प्रत्यक्ष में हम भले कहें कि हमने तो सामने वाले के कृत्य का बदला लिया है। उसने जो अपराध मेरे साथ किया था, वही अपराध मैंने उसके साथ करके कोई गलत नहीं किया। क्या यही सच है?

आपके यहाँ किसी ने चोरी की दुनिया की नजरों में तो वह गिरा ही है, कानून में भी अपराधी सिद्ध हुआ और जेल के सींखचों में सजा पाने चला गया। अगर आप भी उसके घर चोरी करने जाय तब क्या समाज आपको अपराधी इसलिये नहीं मानेगा कि आपने तो अपनी चोरी का बदला लिया है? अथवा कानून आपको इसलिए अपराधी नहीं मानेगा कि आपने अपराध का बदला अपराध से चुका दिया। नहीं ! नहीं ! कभी नहीं ! बल्कि समाज और कानून आपको उससे भी बड़ा अपराधी एवं उससे भी अधिक सजा का पात्र मानेगा एवं उससे भी अधिक नफरत की दृष्टि से आपको देखेगा।

स्वयं ही गहराई तक विचार कर देखो कि अपराध को भूलने एवं क्षमा करने एवं स्वयंकृत अपराध का बोध करने एवं कृत अपराध का प्रायश्चित्त करके साथ ही भविष्य में अपराध न हो इसकी सावधानी आचरण में बरतने से अपराध मिटेगा या अपराध के बदले अपराध करने से अपराध समाप्त होगा। भवानीसिंह ने पन्नालाल के अपराध को खत्म करने के लिये स्वयं अपराध करना स्वीकार किया, मोतीलाल ने पन्नालाल के अपराध में साथ देकर भी अपराध किया। यहाँ तक कि धन्नालाल भी भाई के कारण स्वयं को पूर्ण निर्दोष नहीं रख सका। क्या भवानीसिंह के डाकू बनने से पन्नालाल का अपराध मिट गया या मोतीलाल अपराध से मुक्त हो गया अथवा धन्नालाल को अपने अपराध का बोध हुआ? नहीं न ! क्योंकि पन्नालाल, भवानीसिंह के अपराध से नहीं सुधरा, न ही मोतीलाल को उसके अपराध का बोध भवानीसिंह का अपराध करा पाया। यहाँ तक कि धन्नालाल भी भवानीसिंह के अपराध से स्वयं को और अधिक अपराधी अनुभूत करने लगा। यही वो वजह बनी उन समस्त अपराधों के समाप्त होने की। तभी तो धन्नालाल की एक ललकार पर न सिर्फ मक्कार पन्नालाल की मक्कारी, बदमाशी, बेईमानी और झूठ गुम हो गई बल्कि भवानीसिंह जैसा क्रूर, बेरहम, दुर्दान्त दस्यु भी क्षणभर में फफक-फफक कर रो पड़ा, सिर्फ रो ही नहीं पड़ा बल्कि अपने अपराधों से सदा के लिये तौबा कर ली, मोतीलाल को तो ऐसा लगा मानों अनजाने में ही उसने अपने देवता समान भाई के अरमानों का गला घोट दिया हो।

सचमुच कथानक के उस मर्माहत करने वाले अन्त ने मेरा परिचय ही बदल दिया। सदैव हास्य-परिहास, परपीड़न, पर-उत्पीड़न, झूठ एवं हिंसा पर आधारित कृत्यों को ही जीवन का आवश्यक एवं अभिन्न अंग स्वीकार करने वाले मेरे मन में अचानक ही एक अज्ञात भय, एक अज्ञात आशंका एवं एक अपूर्व अनुभूति का ऐसा संचार हुआ जिसने मेरे जीवन की दिशा ही नहीं दशा भी बदल दी। मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था कि नैतिक मूल्यों एवं सामाजिक रिश्तों को तार-तार कर देने वाले पन्नालाल के मक्कारी भरे भाव एकाएक ही बदल सकते हैं। विश्वास तो मुझे उस पर भी नहीं हो पाया कि जिसकी अपनी इकलौती लाड़ली बिटिया के साथ इज्जत का ही खेल खेलने वाले पन्नालाल से बदला लेने की पूरी शिद्दत से शपथ लेने वाले भवानीसिंह को ऐसा क्या हुआ कि वह बिल्कुल मोम की तरह पिघल गया। सर्वाधिक आश्चर्यजनक बात तो मुझे यह समझ नहीं आई कि स्वयं धन्नालाल की पक्षाघात की बीमारी अचानक ही ठीक हो गयी और उसके ठीक होते ही सारा नजारा ही बदल गया। एक दूसरे की जान लेने पर उतारू, एक-दूसरे को जान देने पर उतारू हो गये। पर के ऊपर पलभर भी विश्वास न करने वाले पर के विश्वास के आधार बन गये।

कई-कई घंटों अनेकों दिन तक गहन विचार-विमर्श एवं सूक्ष्म मन्थन करने पर सब कुछ मेरे लिये सहजता से समझ में आ गया। पन्नालाल पैदायशी मक्कार नहीं था, भाइयों के लाड़-प्यार एवं अनावश्यक आजादी ने ही उसे अपराधी बना दिया। पन्नालाल को अज्ञानता में साथ देने वाले मोतीलाल से अज्ञानता में असावधानी के कारण अपराध बन गया। भवानीसिंह को परिस्थितियों ने मजबूर कर दिया अपराधी बनने को। इन तीनों को यदि अपराध के कारक कारण नहीं मिलते तब निश्चित ही वह उन अपराधों के अपराधी नहीं बनते। क्या कहा, तीनों अपराधी नहीं बनते बड़ा ही सहज; किन्तु चकित कर देने वाला प्रश्न अनायास ही मेरे अन्तर्मन में उभर आया। तुरन्त मेरे मन ने ही उसी सहजता से उत्तर दिया कि हाँ-हाँ वह अपराधी नहीं बनते। किन्तु इसका मतलब यह भी नहीं कि वह किसी भी प्रकार के अपराधी नहीं बनते। यदि उन्होंने अन्य कोई ऐसा कृत्य किया होता जो अपराध की कोटि में आता, तब वह निश्चित ही इन अपराधों के नहीं, हाँ अन्य अपराधों के दोषी होते।

कोई भी व्यक्ति मात्र एक बार अपराध करने से ही अपराधी नहीं हो जाता। बार-बार अपराध करने पर व्यक्ति बार-बार अपराधी बनता है। एक बार का अपराध यदि स्वीकार कर उसका प्रायश्चित्त आदि करले अथवा कानून में प्रदत्त दंड को भोग ले तभी वह संबंधित अपराध से मुक्त हो जाता है। एक बार का प्रायश्चित्त या दंड हर बार के अपराध से मुक्त नहीं करता। जितनी बार भी अपराध किया जाये उतनी ही बार परिहार करना आवश्यक है। इतना अवश्य है कि कोई जीवन भर अपराध करके आवश्यक नहीं कि अपराधी की मौत मरे। जीवन के अन्त में भी सम्पूर्ण अपराधों के प्रति घृणा इतनी बढ़ जाये कि फिर कभी किसी भी जीवन में कोई भी अपराध न करने का भाव हृदय में समा जाये। समझलो कि न अपराध रहेगा न ही

अपराधी; क्योंकि अपराध का भाव रहना ही वास्तविक अपराध है। जब भाव ही समाप्त हो गया, अपराध से आसक्ति मिट गयी, कुकृत्य की स्याह घटा तिरोहित हो गयी, फिर तो सुकृत्य का उजाला ही प्रगट होगा। पूर्वकृत कुकृत्य या अपराध में बँधे दण्ड की प्राप्ति में भी परिणाम मलिनता को प्राप्त नहीं होंगे।

हमारी सामाजिक मान्यतायें तथा समाज का नजरिया इस संबंध में बड़ा ही विडम्बनापूर्ण एवं ऊहापोहयुक्त है। एक बार यदि किसी के द्वारा अपराध हो गया तो समाज उसे आजीवन अपराधी घोषित कर देता है। प्रायश्चित्त कराने के बाद भी समाज में वह पूर्व स्थान को प्राप्त नहीं कर पाता। एक बार से दोबारा वही अपराध उसी के द्वारा हो जाय तब तो समाज उसे प्रायश्चित्त देने को भी तैयार नहीं होता। ऐसा अपराधी आदतन अपराधी कहलाता है तथा सदा समाज में हेय होता है। घृणा एवं उपहास का पात्र बनकर जीवन बसर करता है। फिर तो उसका प्रायश्चित्त भी प्रदर्शन कहलाने लगता है।

धर्म का नजरिया समाज से एकदम अलग है। धर्म समाज की तरह कठोर नहीं होता। समाज जहाँ अपराधी को कठोर से कठोर दण्ड के भय से गुजारकर अपराध के दण्ड का भय प्रदर्शित करता है। इसका सुपरिणाम इतना अवश्य होता है कि अपराधी के दण्ड की भयावहता देखकर अपराध करने से आमजन भयभीत हो जाते हैं तथा कुछ समय के लिये अपराध अवश्य रुक जाता है। इस उपाय में आवश्यक नहीं कि अपराधी दण्ड प्राप्ति के पश्चात् सुधर जाय और पुनः अपराध नहीं करे। जब-जब उसका मन विचलित होगा, पूर्व संस्कार उदय में आवेंगे वह पुनः अपराध कर गुजरेगा भले बाद में पछताना पड़े। धर्म इस तरह नहीं करता अपितु धर्म तो व्यक्ति को नहीं व्यक्ति की विचारधारा को बदलता है। धर्म अपराध के दण्ड के भय के बारे में नहीं अपराध के गुण-अवगुण, अच्छाई-बुराई तथा नियत और नियति के बारे में बतलाता है। धर्म तो वह मार्ग प्रशस्त करता है कि अपराध पनप ही न पाय। अपराध का भाव भूलकर भी मन में नहीं आये।

धर्म पूरी तरह स्पष्ट करता है कि अपराध का सीधा संबंध मन, मस्तिष्क और बुद्धि से है जबकि अपराध से निवृत्ति का संबंध पूरी तरह आत्मा, अन्तर्मन एवं विवेक पर आश्रित है। अपराध की कृति एवं अपराध की निवृत्ति पूरी तरह व्यक्ति पर निर्भर है। अर्थात् व्यक्ति चाहे तो मन, मस्तिष्क एवं बुद्धि के आधार पर चले एवं अपराध करता रहे अथवा व्यक्ति चाहे तो अन्तर्मन, आत्मा एवं विवेक से कार्य करे एवं अपराध से निवृत्त रहे। मन, बुद्धि हमेशा मस्तिष्क में हर कार्य के सांसारिक लाभ-हानि का चित्रण करते हैं। कोई भी व्यक्ति हानि उठाना नहीं चाहता, न ही हानि उठाकर मूर्ख कहलाना चाहता है इसीलिये सदैव लाभ को प्राप्त करना चाहता है। अपने लाभ के लिये फिर भले ही पर की कितनी ही हानि हो जाये इसकी तनिक भी परवाह उसे नहीं रहती। लाभ का लोभ उसे इस कदर से ग्रसित करता है कि व्यक्ति को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह में आनन्द आने लगता है। पाँचों पापों को वह पाप मानता ही नहीं; क्योंकि यदि भूलकर भी पाप माना तो छोड़ना पड़ेंगे। इसीलिये जीवन की आवश्यक आवश्यकता बताकर विषयों की पूर्ति में लगा रहता

है। इतना ही नहीं जितना आनन्द व्यक्ति को स्वयं की विषयपूर्ति में नहीं आता जितना आनन्द वह दूसरों की विषय-सामग्री छीनकर स्वयं भोगने में मनाता है।

मानव मात्र सामग्री छीनकर ही सन्तोष नहीं करता, वह तो दूसरे का सुख-चैन छीनकर स्वयं को सुखी एवं सन्तप्त मानता है। स्वयं की विषयपूर्ति हेतु पराई विषय-सामग्री का हरण कर लेना अथवा बलपूर्वक छीन लेना तो साधारण-सी बात है। व्यक्ति का वश चले तो सामने वाले को साँस भी नहीं लेने दे। कोई भी ऐसा कार्य या कोई भी ऐसी घटना जिससे दूसरे को सुख मिले, शांति प्राप्त हो, यह व्यक्ति सहन ही नहीं कर पाता तभी तो अपनी जलन शांत करने हेतु उस कार्य एवं घटना को प्रभावित करने से नहीं चूकता। यही अपराध है और इस अपराध को करने वाला अपराधी जो स्वयं में सीमित नहीं रहता, स्वयं को प्राप्त आनन्द को नहीं भोगता। सदैव दूसरे को प्राप्त आनन्द को भंगकर स्वयं सुख महसूस करता है। स्वयं को तो नादान धोखा देता ही है, दूसरों को भी धोखा देकर व्यर्थ ही कर्मबन्ध करता रहता है। जो विवेकवान अन्तर्मुखी आत्मा कर्मबन्ध से छुटकारा पाना चाहते हैं वह निश्चित ही किसी भी कार्य को मन, मस्तिष्क और बुद्धि के आधार पर ही नहीं करते। अपने अन्दर की आवाज के आधार पर अपने स्वभाव को महत्त्व प्रदान करते हैं। प्रत्येक कार्य सांसारिक लाभ या सांसारिक हानि के लिये भी नहीं करते। किसी भी कार्य को करने के पूर्व स्वयं के परिणामों की निर्मलता के साथ-साथ सभी के परिणामों में निर्मलता बनी रहे और उनका कार्य भी पूर्ण हो, इस बात का पूर्ण ध्यान रखना ही धर्म है जो हमारे अन्दर स्थित है, हमारे अन्दर से प्रगट होता है और हमें अविकारी बनाये रखता है।

धर्म ही वह अमृत है जो सभी को सदैव निज स्वभाव में स्थिर रखता है। मन चंचल होता है, चंचल मन जब मस्तिष्क में स्थित बुद्धि का प्रयोग करता है तब उसे निज स्वार्थ के सिवा कुछ भी नहीं सूझता। विषयों की पूर्ति में साधक सामग्री के अनगिनत विकल्पों में इतना उलझा रहता है कि स्वयं की भावनाओं को वासना में परिवर्तित कर लेता है। स्वयं इतना निष्ठुर, इतना कठोर हो जाता है कि सामने वाले की भावनाओं को रोंदने में स्वयं को सुखी समझता है। विवेकी प्राणी को निष्ठुर, निर्दय, कठोर होना संभव नहीं। अन्तर्मन से आत्मा की सुनकर किया जाने वाला कार्य स्वयं को तो संतुष्ट करता ही है दूसरों के परिणामों की मलिनता का कारण भी नहीं बनता।

दुनियाँ में जितने भी अपराध होते हैं उनका बाहरी कारण कुछ भी रहे, अपराध करते समय मन, मस्तिष्क और बुद्धि की प्रधानता होती है। मन के गुलाम लघु स्तर के अपराधी के मस्तिष्क में भी बुद्धि विकारों को जन्म देती है। यही विकार भविष्य में अपराध का वृहद् आकार गृहण कर लेते हैं। जो जीव को चारों गतियों के पंच परावर्तन रूप नित्य चौरासी लाख योनियों की ऐसी यात्रा कराता है कि जीव जिस गति को प्राप्त करता है, जीव की मति उसे ही अपना मान लेती है। जब वही गति उसका उसके अनुरूप साथ नहीं

देती तब पछताता है। परन्तु मोह-ममता में ग्रसित जीव न तो स्वयं को जान पाता है, न ही स्वयं में स्थित अनन्त, अखण्ड, अक्षय और अविनाशी गुणों को जानता। यदि थोड़ा भी विवेक का प्रयोग कर ले तब दुःख को दूर करने में समर्थ हो जाये।

विवेकी प्राणी बुद्धि की सुनता अवश्य है; परन्तु चलता सदैव अपने आत्मा की आवाज के अनुसार ही है। अपने आत्मा की आवाज के अनुरूप कार्य करने वाला कभी भी स्वपथ से च्युत नहीं होता। कदाचित् कभी मार्ग से भटक भी जाय तब विवेक के सहारे स्वयं को भी संभालता है, साथ ही दूसरों को भी संभलने और सुधरने का मजबूत आधार बन जाता है। विवेकी प्राणी का आत्मविश्वास अर्थात् श्रद्धान इतना सुदृढ़ और मजबूत होता है कि बुराइयाँ स्वतः उससे दूर भागती हैं। बुराइयों की तो विसात ही क्या हैं? बीमारियाँ भी उसके साथ रहने से घबराती हैं।

धन्नालाल भी पूर्ण विवेकशील, धर्मपरायण एवं प्रभु पर अगाध श्रद्धाधारी थे। पूर्वभव के संस्कार कर्मरूप परिणत होकर उदय में आते हैं तथा सुख-दुःख रूप परिणत होकर ही खिरते हैं। धन्नालाल विवेकवान तो थे मगर पूर्व कर्मों के संस्कार उदय में आये तब अपना ही सगा भाई पन्नालाल दगा दे गया। धन्नालाल के प्राणों से प्यारे मित्र भवानीसिंह की बेटे की आवाज की कोई कीमत ही पन्नालाल ने नहीं रहने दी। धन्नालाल को अपना आदर्श मानने वाला मोतीलाल भी बहक गया। इतना ही नहीं कठोर कर्मों ने अपना क्रूर पंजा इतने जोर से मारा कि धन्नालाल पक्षाघात से पीड़ित हो गया।

विवेक की इससे कठिन और चुनौतीपूर्ण परीक्षा कहाँ संभव है? धन्नालाल ने भी हिम्मत नहीं हारी, न भाईयों के विश्वासघात से विचलित हुआ और न ही प्रियमित्र की सन्तप्त करने वाली शत्रुता से। सदैव मन में दृढ़ विश्वास और अटल श्रद्धान से प्रभु के गुणों का स्मरण करता। नित्य अपने पापों को प्रभु के सामने प्रगट करता और मन ही मन प्रायश्चित्त के गरम-गरम आँसू बहाता रहता। पन्नालाल को अपनी शरारती और खोटी बुद्धि का नाज था कि अपने स्वार्थ की खातिर वह कोई भी अपराध करे उसे न तो कोई पकड़ सकता है और न ही कृतकर्म की सजा ही दे सकता है। पन्नालाल की मक्कार मति धन्नालाल के सुदृढ़ श्रद्धान के आगे उसी तरह हार गयी जैसे सिंह के आगे बकरी। अतिक्रूर और कर्कश परिणामी भवानीसिंह का वागीपना भी धन्नालाल के अहिंसक, निर्मल, शांत स्वभाव के आगे बागी बुद्धि से बगावत कर बैठा। मोतीलाल की तो मानों मति ने मुँह चुरा लिया हो तभी तो भाई में उसे भगवान नजर आने लगे।

स्वयं पुलिस कप्तान अचंभित रह गया कि इतना वृद्ध और जीर्ण-शीर्ण, जर्जर शरीर से संयुक्त उस साधारण से मानव में इतनी फुर्ती कि न सिर्फ डाकू की बन्दूक उसने नीचे रखने पर विवश कर दिया बल्कि स्वयं उसे (पुलिस कप्तान) भी अपने हथियार चलाने से रुकने को मजबूर कर दिया। जिस कप्तान के रौब के आगे दुर्दान्त से दुर्दान्त अपराधी भी नजर मिलाने से कतराते थे, वही पुलिस कप्तान आज उस धन्नालाल

की आँखों में छाये तेज का सामना नहीं कर पा रहा है। स्वयं धन्नलाल भी आश्चर्यचकित था कि उस पर छाया पक्षाघात पंख लगाकर भाग गया अथवा प्रभु ने ही आकर स्वयं कोई चमत्कार कर दिया। धन्नलाल के उस रौद्र, निष्कंपरूप मुद्रा के सामने भवानीसिंह, पन्नलाल एवं मोतीलाल ऐसे गिरे कि धन्नलाल के पावन चरणों का उनकी अश्रुधारा से पाद-प्रच्छालन हो गया। देखते ही देखते धन्नलाल के चेहरे पर असीम शांति के भाव ऐसे उभरे कि धन्नलाल के नेत्रों से भी अश्रुधारा बह निकली। उस पावन अश्रुधारा का ऐसा अद्भुत प्रभाव हुआ कि तीनों ने पापों से हमेशा के लिये क्षमा माँग ली।

पुलिस कप्तान की जिज्ञासा शांत करते हुये धन्नलाल बोल उठेहमन्यवर मेरे हृदय में अपने भाई के कुकृत्य से इतनी पीड़ा हुई और ऐसी शर्म बैठी कि मित्र को मुँह दिखाने लायक नहीं रहा। लगातार अपने पूर्वकर्मों का स्मरण करता तथा भाई के कृत्य से अधिक स्वयं के पूर्वकर्मों का फल उदय जान समता परिणाम धारण करता। प्रायश्चित्त की अविरल धारा प्रारम्भ हुई तभी पक्षाघात हो गया; किन्तु मन और बुद्धि को शरीर की असहाय अवस्था का बहाना बनाकर हावी नहीं होने दिया। सदैव आत्मा की आवाज अन्दर से आती कि पर्याय क्षण-भंगुर है। अच्छा हुआ कि पक्षाघात ही हुआ मृत्यु नहीं आयी अन्यथा प्रायश्चित्त का भी अवसर प्राप्त नहीं होता। भले ही शरीर साथ नहीं दे रहा था; परन्तु शरीर का इतना उपकार तो था कि मन ही मन मस्तिष्क में प्रभु को बारम्बार नमन करता। बारम्बार प्रभु के गुणों का भक्ति और श्रद्धा से स्मरण करता। अपने दोषों को प्रगटकर अपने प्यारे प्रभु से क्षमा माँगता तथा यही कामना करता कि भगवान मेरे साथ-साथ सभी की भूलों को क्षमा कर दो। सभी को ऐसी सदबुद्धि प्रदान करो कि सभी पापों से डरें। पाप की सजा के नाम से काँप उठें। सदा ही ऐसे कार्य करें कि अन्तर के परिणाम और उज्ज्वल हों।

लगता है प्रभु ने मेरी सुनली तभी तो चमत्कार हो गया। जो किसी ने सोचा भी नहीं था वह संभव हो गया। बुरा समय तूफान की तरह पूर्ण वेग से आया तथा अपने साथ बुराइयों की आँधी तथा बीमारी की वर्षा भी झूम-झूमकर करता रहा। मगर सच्ची श्रद्धा के समक्ष शैतान भी नहीं ठहर सकता तब फिर अन्य किसी की तो क्या बिसात। शायद मेरी श्रद्धा सच्ची थी इसीलिये मेरे भाई भी सन्मार्ग पर आ गये, मेरे प्राणों से प्यारा मित्र भी मुझे वापिस मिल गया। मेरी आबरू, मेरी इज्जत मेरी बेटि भी मेरी बहू बनकर मेरे पास आ गई। इन सबसे अधिक रोमांचकारी कार्य तो आपकी कृपा से संभव हुआ कि आपका अपराधी होते हुये भी आपने मुझे सगे बड़े भाई से बढ़कर सम्मान दिया तथा इन प्राणों से प्यारी बेटियों का कन्यादान करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। काश ! मेरी श्रद्धा, सम्यक् श्रद्धा हो जाये तथा मैं अपना आत्मकल्याण कर सकूँ।

आज धन्नलाल के मुँह से सिर्फ शब्द ही नहीं निकल रहे थे, प्रत्येक शब्द में जो अनुभव का अमृत झर रहा था, सभी पूर्ण मनोयोग से उसका रसपान कर रहे थे। धन्नलाल एकाएक अपने अन्दर में खो गये मगर वचन-वर्गणायें यथावत मुखरित होती रहीं। लग रहा था कि आज धन्नलाल नहीं स्वयं धन्नलाल की पवित्र

आत्मा निर्दोष सन्मार्ग का दिग्दर्शन करा रही है। वातावरण में पूर्ण शांति छा गई थी। स्वयं पुलिस कप्तान धन्नालाल के समक्ष हाथ जोड़ ऐसे बैठ गये मानों शिष्य पूर्ण श्रद्धा और समर्पण के साथ गुरु के समक्ष बैठ गया हो। धन्नालाल का स्वर प्रस्फुटित हुआ, “जीवन का यह अन्तिम पड़ाव है मेरा, पूरे-पूरे अस्सी वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका हूँ अथवा यूँ कहूँ कि मेरी अस्सी वर्ष की आयु खो चुकी है अब वह लौटकर आने वाली नहीं है। पूरी अस्सी वर्ष की कमाई हुयी जमा पूँजी भी खर्च कर दूँ तब भी गया हुआ एक पल भी वापिस आने वाला नहीं है। शेष समय आयु का जितना बचा यह भी मुझे पता नहीं। नहीं कह सकता कि इस पौद्गलिक शरीर को छोड़कर मेरे अन्दर की आत्मा कब निकल जाय।”

जो रक्खा जोड़कर तुमने, साथ में कुछ नहीं जाए।
कि दिखता है यहाँ जो कुछ, साथ में आप क्या है तुम लाए॥
पड़ा रह जायेगा सारा, तुम्हारा यह झमेला है।
उजड़ जायेगा एक दिन सब, यह चार दिन का मेला है॥

कहते-कहते धन्नालाल के नेत्र बन्द हो गये, फिर भी वह अपनी ही धुन में कह रहे थे, “पूरा का पूरा जीवन संसार की जरूरतों, शरीर की आवश्यकताओं तथा विषयों की पूर्ति में चला गया। बचपन में पूज्य पिताजी की छत्रछाया में कभी भी किसी भी वस्तु का अभाव अनुभूत नहीं हुआ। परम पूज्य माताजी का उपकार मैं कैसे भूल सकता हूँ जिसने मुझे न सिर्फ जन्म दिया अपितु जीवन को सुन्दर तथा धर्ममय बनाने के वे पूर्ण संस्कार दिये जो एक सच्चे सद्मार्ग पर चलने के लिए आवश्यक हैं। मेरी माँ जानती थी कि बचपन कच्ची मिट्टी की तरह है जिसे जिस तरह चाहे तोड़-मरोड़ लो, घुमालो, बदल लो, लम्बा कर दो, छोटा कर दो, पतला कर दो या मोटा कर दो। कच्ची मिट्टी अपने स्वभाव अनुसार सब कुछ करने में युक्त है। इसी तरह एक बालक को साधु बनालो या शैतान, कृतज्ञ बनालो या कृतघ्न, अहिंसक बनालो या हिंसक, शाकाहारी बनालो या मांसाहारी, शांत बनालो या उग्र, समता परिणामी बनालो या अशांत, सन्तुष्टि का भाव भर लो या परिग्रही बना दो, सत्यवादी बना दो या असत्वादी, परोपकारी बना दो या परपीड़क, उदार बनालो या अभिमानी, क्षमावान बनालो या क्रोधी, सरल बनालो या कपटी, यह माता-पिता पर निर्भर है।”

मात-पिता बैरी भये जो न पढ़ाए बाल।
समझ गये वह पुत्र भी बन जाते हैं काल॥

बच्चा पहला शब्द बोलने के लिये होंठ फड़फड़ाता है, मेरे भी होंठ जब फड़फड़ाये तब मेरी माँ ने मुझसे बा-बा-बा-बा-बा बोलने को कहा। जब बाबा बोलने लगा तब माँ ने बाबा (भगवान) की जय कहना सिखलाया। सिर्फ जय मुँह से ही नहीं बुलवायी, मेरे दोनों हाथ जुड़वाकर भगवान की तस्वीर के आगे घर में तथा भगवान की मूर्ति के आगे मन्दिर में मेरा सिर झुकवाया। मैं अगर जिद में आकर रोने लगा तब माँ बड़े

प्यार से मेरे सिर पर हाथ फ़ैरती तथा कहती—“न मेरे बेटे न, अच्छे बच्चे नहीं रोते। अच्छे बच्चे भगवान की जय करते हैं। अच्छे बच्चे भगवान के हाथ जोड़कर झुककर पैर पड़ते हैं। भगवान सबसे बड़ा है, भगवान बहुत दयालु है, भगवान सबकी मदद करता है, भगवान सभी को बुराइयों से बचाता है। भगवान की शरण में जो भी सच्चे मन से समर्पण करता है, भगवान उसकी सारी बाधाएँ दूर कर देते हैं। भगवान हमें वह रास्ता दिखाता है कि हम भी भगवान बन सकें।”

संस्कार से ही संसार का विनाश होता है।

संस्कार से ही अर्थ कर्म का नाश होता है ॥

संस्कारों को जीवन में कौन नहीं चाहता है।

संस्कार जिसके पास है उसका ही विकास होता है ॥

अगर पिताजी ने मेरे सामने माँ से भूलकर भी कोई अभद्र हास्य-परिहास किया तब माँ, पिताजी को भी झिड़क देती थी कि शर्म नहीं आती, बच्चा क्या सोचेगा, बच्चे पर क्या असर होगा? माँ ने ही मुझे पिताजी, दादाजी, दादीजी, चाचाजी, चाचीजी, फूफाजी, बुआजी आदि समस्त बड़ों व श्रेष्ठ तथा गुणी जनों का सम्मान सहित अभिवादन जय जिनेन्द्र, जय महावीर, जुहार, नमस्कार करते हुये पैर पड़ना सिखाया। यदि कभी मेरा मन न हुआ अथवा किसी के तंग करने पर मैं रो दिया तब माँ ने ही बड़े प्यार से थपकी लगाते हुए शांत कराया तथा मुझे पुचकारती एवं बोलती—मेरा राजा बेटा सबकी इज्जत करता है, मेरा अच्छा लल्ला सबके पैर पड़ता है, मेरा प्यारा राजदुलारा सभी का आशीर्वाद लेता है। मेरी माँ इतनी प्रशंसा मेरी करती कि मैं रोते-रोते हँस पड़ता और फिर तो माँ जैसा कहती बस वैसा करने में मुझे भी अच्छा लगता।

बस्ती में कभी कोई विद्वान् या गुणवान आये अथवा धर्म की राह दिखाने वाला तब माँ मुझे लेकर ही उनका आशीर्वाद लेने जाती। साधु, मुनि महाराज, आर्यिका माता आ जायें तब माँ उनके आहार के लिये चौका लगाती। साधु के आहार के समय मुझे पिताजी के साथ बाहर भेज देती ताकि उनका चौका या सामग्री मेरे कारण अशुद्ध न हो जाये अथवा मेरे रुदन से महाराज का अन्तराय न हो जाय। मगर मेरे पिताजी भी कम साधु भक्त नहीं थे। आहार देखने के बहाने मुझे भी चौके के बाहर ले आते तथा वहीं से मुझे भी महाराज को नमोऽस्तु करवाते, दूर से ही मेरे हाथ जुड़वाकर, मेरा सिर झुकाकर वह महाराज का अभिवादन करवाते। मैं महाराज को देखता तो पहले तो देखता ही रहता कि ये कौन हैं, मगर जब माँ को उन्हें आहार देते देखता तो किलकारी देकर हँसने लगता। माँ भी स्वयं को रोक नहीं पाती तथा वहीं से कहती कि बड़े होकर तुम भी मेरी तरह महाराज को आहार देना।

कभी-कभी तो मेरी चंचलता एवं बार-बार हाथ जोड़कर पैर पड़ते देखकर स्वयं महाराज भी मुस्कुराये बिना नहीं रहते। एक बार तो मेरी वजह से बड़ी ही असहनीय एवं विडम्बनापूर्ण स्थिति पैदा हो

गयी। नित्य की तरह महाराज अपने समय पर आहार हेतु नहीं निकले। मन्दिर में धार्मिक कार्यक्रम ऐसा चला कि महाराज समय से दो घंटे देर से आहारचर्या हेतु निकले। माँ भी असमंजस में थी कि क्या करूँ, कही बच्चा भूख से तड़पने लगा और मैं उसे दूध पिलाने लगी, उसी समय महाराज भी आहारचर्या हेतु निकल पड़े तब क्या होगा? या तो बच्चे को बिलखता छोड़कर महाराज का पड़गाहन कर आहार करवाऊँ या फिर महाराज के आहार छोड़कर पाप की भागीदार बनूँ। बिल्कुल वही हुआ जिसकी कल्पना करके ही मुझे कँपकँपी छूट रही थी। महाराज का मेरे यहाँ आहार प्रारम्भ हुआ, पिताजी स्वभाववश मुझे आहार दिखाने चौके के बाहर ले गये। पहले तो हँसी-खुशी किलकारी दे देकर मैं महाराज का नमन-वंदन करता रहा। सभी खुश थे, खासतौर से महाराज के आहार के साथ मेरी चंचलताओं को देख सभी लोट-पोट हो रहे थे। ज्योंही दूध का आहार महाराज के हाथ में क्या गया, दूध देखते ही मेरी भूख जाग उठी, समय तो दूध पीने का वैसे भी बहुत पहले हो गया था, अचानक मैं इतनी जोर से रोया कि पिताजी जबरदस्ती मेरे मुँह पर हाथ रखकर लगभग भागते हुए बाहर निकल गये। उस समय महाराज के आहार का अन्तिम दौर चल रहा था। फिर महाराज ने अन्तराय का कारण उपस्थित होने से आहार वहीं पर छोड़ दिया जिससे बेहद दुःखी होकर माँ की आँखों से आँसू निकल आये। महाराज की अनुभवी आँखों में माँ की हालत छिपी नहीं रह सकी। आहारचर्या पूर्ण होते ही महाराज ने मुझे बुलवाया तथा माँ को संबोधित करते हुये कहा कि तेरा बालक बहुत ही होनहार, भाग्यवान एवं दयालू है।

आज इस बच्चे के पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण यह स्वयं भूख सहता रहा तथा हँसता हुआ नाना क्रीड़ाये करता हुआ मेरी क्षुधा शांत करवाता रहा। इसके कारण मेरा अन्तराय नहीं हुआ बल्कि मेरी ही पूर्वभव की किसी भूल से बँधा हुआ अन्तराय कर्म उदय में आया और अन्तराय हो गया। किन्तु मेरे अन्तराय कर्म से बच्चे का शुभ कर्म इतना प्रबल था कि अन्तराय कर्म का उदय भी आहार के अन्त में हुआ, आहार के प्रारम्भ में हुआ ही नहीं। तेरे इस बच्चे का भाग्य बतला रहा है कि इसके पूरे जीवन में भरपूर सुख प्राप्त होंगे। भोगों की सामग्री का कभी अभाव नहीं होगा; किन्तु आयु के अन्त में आहार की इसे आवश्यकता नहीं रहेगी; क्योंकि आयु के अन्तिम समय में ऐसी घटना घटेगी कि यह वैराग्य धारण कर स्वयं ही आहार का परित्याग कर देगा।

वही हुआ धन्नालाल के जीवन के अन्त में मुनि महाराज की धन्नालाल के बचपन में की गयी भविष्यवाणी पूरी तरह फलित हो गयी। 'अपनी कहानी अपनी जबानी' सुनाते हुये धन्नालाल बोले-मैं आज से अपने आत्मकल्याण के मार्ग पर चलूँगा। इस शरीर को भोजन बहुत दिया अब तो आत्मा के भोजन की आवश्यकता है। कब, किस क्षण प्राण-पखेरू उड़ जायें कि शरीर के भोजन में ही वक्त बरबाद हो जाये। एक भी पल मैं अब जाया नहीं करूँगा। जो भी जीवन की जरूरी जिम्मेवारियाँ थी वह मैंने भरपूर निभायीं। जो कुछ

भी किया उसमें कभी भी झूठ का सहारा नहीं लिया। दूसरे की भूल या स्वयं की जरूरत पर भी क्रोध से बचता रहा। संसार की सामग्री सौभाग्य से स्वयंमेव आती रही उसमें भी मुझे परिग्रह या आसक्ति न तो पूर्व में रही और न आज है। आज से मैं संपत्ति क्या इस शरीर की किसी भी ऐसी जरूरत को पूर्ण नहीं करूँगा जिसे करने के लिये मुझे आरंभी हिंसा भी करना पड़े। मन-वचन-काय तथा कृत-कारित अनुमोदना से मैं हिंसा का पूर्ण त्याग करता हूँ। आत्मकल्याण के इस महान् और पावन पथ में कपट या मायाचारी का तो किंचित् भी स्थान नहीं है इसीलिये मैं किसी आशा, अभिलाषा, आकांक्षा, अपेक्षा सहित नहीं अपितु अपने प्रति सभी के मोह या राग-द्वेष के प्रति पूर्ण शुद्ध भावों से क्षमा माँगता हूँ। न मुझे अब किसी से कोई राग है, न रोष और सभी मेरे प्रति अपने राग व रोष का परित्याग करें तथा मात्र धर्मभाव रखते हुये धर्मरागपूर्वक सरल परिणामों सहित मुझे मेरे आत्मकल्याण हेतु अब मुक्त करें।

**रिमझिम बरसात में मोती पिरोता है कोई-कोई।
अंधेरी रात में दीपक जलाता है कोई-कोई॥
यूँ तो दुनियाँ में लोग आते हैं चले जाते हैं।
धर्म और सदाचरण से जीवन सजाता है कोई-कोई॥**

धन्नालाल ने अचानक ही अपने समस्त वस्त्रों का परित्याग करते हुये वीतरागी प्रभु को साक्षी मानते हुये स्वयं निर्वस्त्र, निर्ग्रन्थ, निःशंकित दिगम्बर वीतरागी मुद्रा धारण कर ली तथा पंच परमेष्ठी को नमन कर पुनः-पुनः अपने ही आराध्य को बारम्बार स्मरण करते हुये कहने लगे-“हे दयासिन्धु, करुणासागर, वात्सल्यमूर्ति, क्षमा के धारी वीतरागी प्रभु ! अच्छा होता कि मैं स्वयं आपके पावन, पुनीत चरणों में दिगम्बरी दीक्षा धारण कर पाता परन्तु मेरा दुर्भाग्य तो देखो ! आप ही क्या, कोई भी आचार्यवर, उपाध्यायजी अथवा महाव्रती मुनिवर भी मुझे दीक्षा देने हेतु समीप नहीं हैं। आयु साथ छोड़ रही है, किंचित भी परिग्रह सहित मैं मरना नहीं चाहता। समाधि से रहित मृत्यु मुझे पुनः भव-भव के चक्कर लगवायेगी। मैं तो वैसे ही दुःखभरी चौरासी लाख योनियों के चक्कर लगा-लगाकर थक गया हूँ अब तो यही अन्तिम अभिलाषा है कि कम से कम भव प्राप्त करूँ और भव-भव का चक्कर समाप्त कर मुक्तिवधू का वरण करूँ।

**मुझे अपने जीवन में आत्मा का ज्ञान मिल जाए।
इस तन को छोड़ चेतन की पहिचान मिल जाए॥
भ्रमण करते हुए अनन्तकाल हो गया संसार सागर में।
अब शीघ्र ही विशद मोक्षमार्ग का सोपन मिल जाए॥**

मेरे लिये सम्बोधन करने वाले वीतरागी गुरु भी मेरे समीप नहीं हैं, फिर भी मेरा अध्ययन और पूर्व जन्मों के संस्कार तथा जीवन में किया गया सत्संग की पूँजी अवश्य मेरे पास है। यही तो मेरे वैराग्य को पुष्ट

करते हुये कह रही है कि बस ! बहुत हो गया इन्द्रियों के विषयों का सेवन, अब तो जरूरत है संयम की, स्वयं पर नियंत्रण करने की। जन्म से लेकर कोई दिन ऐसा नहीं गया जब मैंने रसना-इन्द्रिय की पूर्ति मनमाने खाद्य, स्वाद्य, लेह, पेय भोजन से नहीं की है। किन्तु आज तक रसना-इन्द्रिय की पूर्ति ही नहीं हुई। अभी तक सम्पूर्ण जन्मों का खाया हुआ भोजन संगृहीत करता तो सारा अनाज ही मेरे खाये अनाज से कम पड़ जाता। सम्पूर्ण सागरों में उतना जल नहीं है जितना मैंने अब तक जन्म धारण कर पी लिया है। आज तक कितना ही अन्न खाया, कितना ही जल पिया; परन्तु मेरे परिणाम इसको लेने से अशुभ या शुभ ही रहे। शुद्ध परिणाम तो बाहरी पदार्थों ने होने ही नहीं दिये। मतलब पूरी तरह स्पष्ट है कि भोजन कितना भी शुद्ध हो, मगर है तो भोजन ही। भोजन शुभ या अशुभ परिणाम देगा, शुद्ध नहीं।

भोजन पुद्गल पदार्थ है जो आत्मा में नहीं होता। इसका मतलब यह नहीं कि आत्मा का कोई भोजन ही नहीं। हाँ, है भोजन आत्मा का; किन्तु वह नहीं जिसे हम मानते हैं। जो भोजन हम आत्मा के नाम पर ग्रहण करते हैं वह तो मुँह के माध्यम से जाता है, पाचन संस्थान में पचता हुआ, पाचन नली से कुछ भोजन शरीर के अंग ग्रहण कर लेते हैं, शेष भोजन नली से बाहर निकल जाता है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में आत्मा की तो कोई भूमिका ही नहीं रही। हाँ, इतना सत्य है कि यदि शरीर में आत्मा नहीं हो तब शरीर भी भोजन ग्रहण नहीं कर सकता। लगी न मेरी बात आपको पहेली-सी; किन्तु क्या करूँ सत्य यही है अन्त में सभी को इसे स्वीकार करना पड़ेगा। आत्मा के वगैर शरीर भोजन ग्रहण नहीं करता; किन्तु शरीर के माध्यम से जो भोजन किया जाता है उसमें आत्मा उपस्थित होते हुये भी आत्मा उस भोजन का स्पर्श तक नहीं करती।

अरे भाई ! सीधी-सी बात है शरीर को शक्ति की जरूरत है। उसी शक्ति, उसी बल, उसी ऊर्जा की प्राप्ति हेतु शरीर भोजन करता है। आत्मा तो स्वमेव अनन्त शक्ति की धनी है। अनन्तबल, अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन की खान है। अनन्त चतुष्टय की मालिक है। जिसके पास स्वयं शक्ति का अन्त नहीं वह क्यों बाहर से शक्ति प्राप्त करने का प्रयास करेगा। नहीं करेगा, कभी भी नहीं करेगा, न ही आत्मा को ऐसा करने की जरूरत है।

शरीर को चाहिये इसीलिये शरीर कार्य का कर्ता, कर्म और करण है जबकि आत्मा के पास स्वयं सब कुछ है इसीलिये आत्मा कृत्कृत्य है, आत्मा को कुछ भी नहीं करना। मात्र ज्ञाता, दृष्टा रहना ही पर्याप्त है। सिद्ध प्रभु के पास संसार का कुछ भी नहीं है, फिर भी वह संसार के स्वामी हैं जबकि संसार में चक्रवर्ती और इन्द्र समान विभूति के स्वामी अपने ही मन के गुलाम हैं। तब फिर आत्मा ही श्रेष्ठ हुई न। हाँ, इतना अवश्य है कि आत्मा स्वामी तब ही बन सकती है जब वह कर्मों से मुक्त हो जाए। कर्म रहित आत्मा पिंजड़े में बन्द कैदी के समान है। जब तक कर्म नहीं कटेंगे आत्मा को शरीर की गुलामी करनी ही पड़ेगी।

किन्तु मैं नहीं करूँगा, अब आत्मा को छोड़ शरीर की गुलामी। गुलामी को गर्त में धकेलने का ही सबसे सुन्दर उपाय है समाधि। समाधि में लीन होकर साधना करने से ही कर्म कट सकेंगे। मेरे अन्दर अनुभव का अपार भंडार है, चाहता भी हूँ कि आप सभी को भी धर्म की शरण प्राप्त कराने के लिये आत्मकल्याण के मार्ग पर आरूढ़ होने के लिये वह अनुभव का पिटारा खोल दूँ। यदि ऐसा करूँगा तो समय बहुत चाहिये; परन्तु मेरे पास लगता है कुछ पल ही बाकी हैं। आप सभी से अपने दोषों के लिये पुनः क्षमा माँगता हूँ। इसके बाद धन्नालाल ने आँखें बन्द कर ली।

सभी टकटकी लगाकर केवल धन्नालाल को देख रहे थे। स्वयं पुलिस कप्तान तो इतने गहरे आश्चर्य में डूब गया कि पलभर में यह क्या हो गया? देखते ही देखते सारी बुराइयाँ लोप हो गईं, अच्छाइयों से आकाश आच्छादित हो गया। धन्नालाल की वीतरागी मौन मुद्रा को देखते-देखते जब कुछ समय गुजर गया तब भवानीसिंह से नहीं रहा गया और उसने बड़ी बुलन्द आवाज में उत्साहपूर्वक जयकारा लगाया—महात्मा धन्नालाल की, तभी मानों आकाश चारों तरफ जयकारों से गुँजायमान हो गया। सभी जोर-जोर से कह रहे थे—महात्मा धन्नालाल की जय।

**बहुत अच्छा हुआ दुनियाँ से बेवफाई हो गई।
सारे रिश्तों और नातों की सफाई हो गई ॥
खून के रिश्ते बने हैं खून चूसने के लिए।
खून के व्यापार में दुनियाँ बर्बाद हो गई ॥**

जब अधिक देर हो गयी तब पुलिस कप्तान को जाने की याद आई तो उन्होंने सहज भाव से पुकारा—महाराज धन्नालाल जी, कृपया आँखें खोलिये और हमें जाने की अनुमति दीजिये। बार-बार पुकारने पर भी धन्नालालजी के न तो नेत्र खुले, न ही उन्होंने मुँह से कुछ कहा, न ही धन्नालाल ने हाथ का ही कोई इशारा किया। भगवान के प्रति ऐसी अगाध श्रद्धा, इतनी असीम भक्ति तथा इतनी अटल तपस्या से पुलिस कप्तान की भी धन्नालाल को स्पर्श करने की हिम्मत नहीं हो रही थी। उसे भय था कि कहीं धन्नालाल की तपस्या भंग होने से उसे श्राप का दंड नहीं भोगना पड़े।

अचानक धन्नालाल के होंठों से ब्रह्म वाक्य, ब्रह्मसूत्र बनकर उद्घाटित हुआ—“ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः, ॐ नमः सिद्धेभ्यः।” बस इसके बाद शब्द पूरी तरह निस्तेज हो गये। शरीर में किसी भी तरह का कंपन, किसी भी प्रकार का हलन-चलन अथवा किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ; किन्तु किसी को भी कुछ समझ नहीं आ रहा था।

एकाएक एक अद्भुत और आश्चर्यजनक घटना घटित हो गयी। देखते ही देखते श्री धन्नालालजी के शरीर से चारों ओर दिव्य धवल चमचमाता हुआ गोलाकार तेज प्रगट हुआ तथा देखते ही देखते वह लघुरूप

लेता हुआ आकाश की ओर उठने लगा और ऊपर उठते-उठते सभी की आँखों से ओझल हो गया। उसी समय पुलिस कप्तान का सिर झुक गया हाथों के साथ उस दिव्य आत्मा के नमन के लिये। किन्तु यह क्या, पुलिस कप्तान का हाथ ज्यों ही धन्नालालजी के शरीर से लगा, धन्नालाल का पूरा शरीर ही पुलिस कप्तान पर झुक गया।

धन्नालाल का सिर क्या झुका चारों ओर सिसकियों की आवाज आने लगी। देखते ही देखते वातावरण में रुदन से चीखती आकाश को भी हिला देने वाली आवाजों से कंपायमान होने लगा। सहसा भवानीसिंह उठा और कोई कुछ समझ पाता उसके हाथ पूरी तरह श्रद्धा के साथ धन्नालाल की ओर जुड़कर नमन् करने लगे। भवानीसिंह गम में अपनी सुध-बुध खो चुका था। पूरी तरह शांत सा नजर आता भवानीसिंह अचानक अशांत नजर आने लगा और धन्नालाल के चरणों में मस्तक रखता हुआ कहने लगा- “देवतुल्य मेरे भैया, मुझे छोड़कर जा ही नहीं सकते, नहीं जा सकते, हाँ-हाँ कभी नहीं जा सकते। अगर वही चले गये तो मेरा तो जीवन ही शून्य हो गया। मुझे नहीं जीना पलभर भी बड़े भैया के बगैर।

जाने क्या हुआ भवानीसिंह को, पैर पड़ते-पड़ते अपना सिर धन्नालाल के पैरों में इतने जोर-जोर से मारने लगा कि भवानीसिंह का सिर फट गया। पुलिस कप्तान क्या, कोई भी कुछ कर पाता भवानीसिंह भी भैया-भैया कहते-कहते वहीं गिर गया। गिरा भी ऐसा कि फिर कभी उठने का अवसर ही नहीं आया।

सहसा दो-दो मौतों से वातावरण अत्यधिक शोकमग्न हो गया। धन्नालाल स्वयं को इसके लिये दोषी मान रहा था। धन्नालाल सोच रहा था कि धन्य है भवानीसिंहजी अपने मित्रता के बंधन में अन्तिम क्षण तक बँधा रहा। न जीते जी मित्रता मिटी, न जीवन के अन्त में। काश ! कि मैं भी अपने प्राणों का परित्याग भईया के पावन चरणों में कर पाता। कितना घोर कष्ट मेरे द्वारा भईया को हुआ? अब जब भईया की सेवा का अवसर आया, भैया ही मुझे छोड़कर सदा के लिये चले गये।

अन्तिम यात्रा प्रारम्भ होते-होते कई गाँव से इतनी भीड़ इकट्ठी हुई कि बस्ती में तिल धरने की भी जगह शेष नहीं रही। धन्नालालजी का धार्मिक स्वभाव, व्यापक प्रभाव सैकड़ों गाँवों में व्याप्त था तो भवानीसिंह के आतंक एवं परोपकार की भावना से भी सैकड़ों गाँव वाले बहुत अधिक प्रभावित थे। किसी को पता ही न चला और अत्यधिक अल्प समय में धन्नालाल, भवानीसिंह की मृत्यु का समाचार चारों ओर फैल गया। जो भी सुनता वह महाराज धन्नालाल के अन्तिम दर्शनार्थ जिस हालत में होता उसी हालत में चल देता।

अर्थी तैयार हुई महाराज धन्नालाल को महाव्रती की भाँति पालकी सजाकर बैठाया गया तथा भवानीसिंह की अर्थी भी लाल कफन पर फूल रखकर सजायी गयी। शवयात्रा प्रारम्भ हुई तब चारों तरफ यही शब्द गुँजायमान हो उठे-“अरहन्त नाम सत्य है, राम नाम सत्य है, सत्य बोलो मुक्ति है।” शवयात्रा जितनी आगे बढ़ी “अरहन्त नाम सत्य है, राम नाम सत्य है, सत्य बोलो मुक्ति है” का उच्चारण भी उतना ही तेज

होता गया। रास्ते के मध्य में अन्तिम यात्रा रोक दी गई। अर्थात् नीचे उतारकर, आगे वाले कंधा देने पीछे कंधा बदलकर पहुँचे तथा पीछे वाले कंधा बदलकर आगे पहुँचे। शवयात्रा पुनः प्रारम्भ हुई तथा शमशान स्थल पर पहुँचकर अलग से बनाये गये चितास्थल पर पहुँची। सभी के हाथों में इतनी लकड़ी थी कि देखते ही देखते लकड़ी का ढेर लग गया।

धन्नालाल की चिता पूरी तरह पवित्र चंदन आदि की लकड़ी से तैयार की गयी तथा उस पर नारियल की जटाओं का सबने अम्बार लगा दिया। पवित्र मंत्रों के उच्चारण तथा संस्कारों के द्वारा घी प्रवाहित करते हुये अग्नि प्रज्वलित की गयी। शव को प्रथम अग्नि देने का पावन कार्य मोतीलाल के द्वारा महाव्रती धन्नालाल की चिता को अग्नि छुवा कर किया गया। वहीं पन्नालाल ने झर-झर आँसू बहाते हुये भवानीसिंह की चिता को प्रथम मुखान्नि दी तथा बार-बार अपने दोषों के लिये क्षमा माँगने लगा।

**धर्म का उपदेश देने वाला विद्वान होता है।
क्षमा जो धारता मन में 'विशद' इंसान होता है।।
क्षमा शुभ धर्म है उत्तम इसे धारण करे मन में।
वह एक न एक दिन इंसान भी भगवान होता है।।**

उसी समय पुलिस कप्तान के साथ समस्त सिपाहियों ने महात्मा धन्नालाल की चिता के समक्ष खड़े होकर सशस्त्र सलामी दी एवं उनकी बन्दूकों की गरजती गोलियों की आवाज ने वातावरण को ऐसा बोझिल बनाया कि कठोर से कठोर मनुष्य भी अपने आँसुओं को रोक नहीं सका।

कहानी सुनाते-सुनाते मैं भी अपने आँसू नहीं रोक सका। मेरा नन्हा मन बार-बार मुझसे प्रश्न कर रहा था। मैं स्वयं एक भी प्रश्न का उत्तर खोजता उससे पूर्व सैकड़ों प्रश्न मेरे जेहन में उभर आते। सोच ही नहीं पा रहा था कि **“जब मृत्यु सत्य है, जीवन मिला है उसके प्रारम्भ के क्षण से ही एक-एक पल मृत्यु को प्राप्त हो रहा है। जीवन एक निश्चित समय के लिये मिलता है। समय पल-पल गुजरता हुआ अन्तिम पल गुजरते ही जीवन मिट जाता है। यह अटल सत्य है फिर भी मृत्यु से भय कैसा?”**

“मृत्यु किसी की भी हो, मृत्यु अपनी अमरता का सन्देश हमेशा हमें बार-बार आकर देती रहती है कि जीवन से मोह छोड़ो। जीवन में कुछ ऐसा कर लो कि मृत्यु का चक्कर ही मिट जाय। सभी यह भली-भाँति जानते हैं तथा मृत्यु का चक्कर छुड़ाने के स्थान पर जीवन भर धन के पीछे चक्कर लगाते रहते हैं।”

“मानव मृत्यु के अहसास के पलों में भी छल करता है। मुँह से कहता जाता है, एक दिन सभी का यही हाल होना है, कोई भी अमर नहीं है, जीवन क्षण भंगुर है। यह कहते हुये भी वह मृत्यु का वास्तविक अनुभव नहीं करता। मानव के चेहरे पर छाये छल के भाव उसके अन्दर के सत्य को स्वतः प्रगट करते जाते हैं।”

“धन से जीवन सजता है, सँवरता है, संभलता है तथा धन के लिये मानव पागल बना फिरता है, फिर भी यह धन न तो जन्म के साथ आता है और न ही मृत्यु के साथ जाता है। जीवन में कमाया धन जीवन में ही खो जाता है, फिर भी धन को सर्वाधिक महत्त्व मिलता है।”

**इंसान धन के प्यार में आज पागल हो गया है।
मोह की मदिरा को पीकर घायल हो गया है।।
आत्मा परमात्मा के ध्यान की फुरसत कहाँ है।
भोग विषयों का इंसान 'विशद' कायल हो गया है।।**

“स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और श्रवण का सुख देती हैं। धन इन इन्द्रियों के खराब होने पर ठीक हो सकने की स्थिति में ही उपचार हेतु खर्च किया जा सकता है। धन स्वयं न तो किसी इन्द्रिय का स्थान ले सकता है और न ही किसी इन्द्रिय के विषय का, फिर धन का इतना मोह क्यों?”

मानव नैतिक मूल्यों, आदर्शों, न्याय, ईमान, सत्य सभी कुछ भली-भाँति जानता है, फिर भी इन्द्रिय-विषयों की पूर्ति हेतु इनका विस्मरण कर देता है। पतित से पतित कार्य करने से भी नहीं हिचकता। पवित्र रिश्तों को पलभर के छद्म सुख की खातिर खत्म कर देता है। पूरी तरह कलंकित कर देता है। अपने ही इस धिनौने कृत्य पर अफसोस भी नहीं करता, क्यों?

जब मानव मित्र होता है तथा एक-दूसरे पर मर मिटने को तैयार भी रहता है वही मानव ऐसा क्या हो जाता है कि मित्रता को शत्रुता में बदल देता है। एक-दूसरे को जान देने के स्थान पर, एक-दूसरे की जान लेने पर उतर आता है।

जिस मानव मन में परोपकार, दया, क्षमा, करुणा, वात्सल्य तथा प्रेम की भावनाओं का दरिया बहता हो, उसी मन में क्षुद्र स्वार्थ, क्रूरता, कठोरता, ईर्ष्या, रूखापन तथा नफरत का नाला कैसे बहने लगता है?

मानव मन में कभी मानव का मानव से तो कभी मानव का पशुओं से भी गहरा मोह हो जाता है वही मोही मन में ऐसा क्या घटता है कि या तो निर्मोही हो जाता है अथवा उसे संसार, शरीर और इन्द्रियों के सुख से ही विश्वास उठ जाता है तथा वह वैरागी बन जाता है, क्यों?

जीवन में प्रत्येक पल की कीमत करने वाला मानव खोटी आदतों का शिकार होकर पलभर में अपना जीवन खो देता है तथा जीवन को अमूल्य समझने के बावजूद कोई पल ऐसा नहीं आने देता जब जीवन का मूल्य हो सके।

प्रत्येक मानव को पूरी पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त होती हैं, फिर भी कोई मानव एक ही इन्द्रिय के विषय में

इतना आनन्द मनाता है जितना दूसरा पाँचों इन्द्रियों के विषयों में भी नहीं प्राप्त कर पाता। फिर भी इन्द्रिय का यह सुख अतृप्त और अधूरा ही रहता है जितना-जितना भी पूर्ण करो, बार-बार इच्छा और चाहत, फिर-फिर वही विषय सुख प्राप्त करने की लालसा बढ़ती ही जाती है। कभी भी पूरी क्यों नहीं होती?

इन्द्रियों से प्राप्त सुख को पंडित, विद्वान् और महाव्रती आदि अपने उपदेशों में सुख नहीं मानते। जबकि इन्द्रियों के विषयों से सुख और प्रसन्नता तो सभी को प्राप्त होती है तब फिर इन्द्रिय सुख को मान्यता क्यों नहीं देते?

क्या इन्द्रियों के अलावा भी कोई सुख है जो मन को संतप्त करता हो तथा जिस सुख की खातिर इन्द्रिय सुख को सुख नहीं, सुखाभास कहा जाता है?

यही शरीर है, इसी में मन है, इसी में इन्द्रियाँ हैं तथा इसी में आत्मा रहती है। फिर भी आत्मा को शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न क्यों कहा जाता है जबकि आत्मा के बगैर कोई इन्द्रिय कार्य नहीं करती तब भला आत्मा इन्द्रियों से अलग क्यों है?

इस जन्म से न हमें आगे का पता है और न ही इस जन्म से पूर्व का, फिर भी हम जीव को अनादि, अनन्त कहते हैं तथा जीवन को नाशवान, ऐसा क्यों?

शरीर पाँच तत्त्वों से मिलकर निर्मित होता है तथा विखण्डित होकर पाँचों ही तत्त्वों में विलीन हो जाता है तब उसे भी अनादि, आनन्द क्यों नहीं माना जाता?

क्षिति जल पावक गगन समीरा, पञ्च भूत से बना शरीरा।

पाँचों तत्त्वों से निर्मित शरीर के समापन के पश्चात् जब जीव तत्त्व पृथक् रह जाता है तब फिर पुनः क्यों पाँचों तत्त्वों के संयोग में आ जाता है?

मानव जीवन में स्वयं को प्राप्त संपत्ति से ही संतुष्ट क्यों नहीं होता? क्यों वह पर की ओर निहारा करता है तथा परायी संपत्ति को अपना मानकर किसी भी प्रकार प्राप्त करने का नैतिक या अनैतिक, सामाजिक या असामाजिक प्रयास करता है?

मानव जमीन के लिये जमीर को त्याग देता है, भगवान को भूलकर शैतान की मनौती मानने लगता है क्यों?

दूसरे की दो आँखें फोड़ने के लिये अपनी एक आँख फोड़ने को तैयार हो जाता है अर्थात् दूसरे का नुकसान करने के लिये खुद का भी नुकसान करने को तैयार रहता है क्यों?

मानव बन्दूक की गोली सहकर भी हँस लेता है परन्तु मुँह से निकली बोली को क्यों सहन नहीं कर

पाता? जबकि गोली तो शरीर के भीतर जाकर प्रहार करती है और बोली शरीर के किसी भाग पर अपना चिह्न तक नहीं बताती, फिर भी बोली से अपने अभिमान का मिटना मान लेता है, क्यों?

**छुरी का तीर का तलवार का तो घाव भरा।
लगा जो जखम जुबाँ का वह सदा रहा हरा॥**

कुछ मानव अपनी दी जबान और कहे गये वचनों का पालन करने के लिये अपनी जान तक दे देते हैं, वहीं कुछ इंसान क्यों अपनी ही बोली, अपने ही दिये वचनों का कोई मूल्य ही नहीं समझते?

मानव के मुँह से निकले दो मधुर शब्द गहरी से गहरी विष समान पीड़ित मानव को अमृत बन जाते हैं तब क्यों मानव कठोर और कर्कश तथा अप्रिय वचन का प्रयोग करता है तथा दूसरे की पीड़ा में भी सुख महसूस करता है?

**कागा किसका धन हरे, कोयल किसको देय।
मीठी वाणी बोलकर, जग अपना कर लेय॥**

जितनी आवश्यकता मानव को होती है उससे बहुत ज्यादा प्राप्त करने की आशा सदा मानव मन में क्यों पालता रहता है?

जीवन के अन्त में कुछ भी साथ नहीं जाता फिर भी जीवन भर क्यों जोड़ता रहता है? यहाँ तक कि जो वर्तमान में है वही जीवन भर से ज्यादा है तब भी वह कई जीवन तक उपभोग हेतु सामग्री प्रयोग करता है, क्यों?

कभी मानव अनजाने में भूल करता है तो कभी जानबूझकर। भूल करके भूल को भुलाने का प्रयास न करना मानव को पतित करता है तथा जीवनभर तनाव में रहकर तमाम विपत्तियाँ आमंत्रित करता है। दिन का चैन, रात्रि की नींद भी भूल जाता है। अपनी भूल को भूलकर भी न दोहराने वाले तथा भूल को सुधारने वाले जीवन में सदा संतुष्ट, सुखी और प्रसन्न रहता है। खूब जीभर हँसता है, पूरी नींद लेता है, खाना खाता है एवं स्वस्थ रहता है क्यों, मानव भूलकर भी अपनी भूल भुलाना नहीं चाहता?

वर्षा ऋतु में जिस तरह एक घटा मेघ की छाकर गिरती नहीं कि वहीं अनेकों घटायें पुनः छाकर बरसने को उद्धत (तत्पर) रहती हैं। बस यही स्थिति थी उस समय मेरे बाल मन की। जिस तरह मछली सागर के जल में भी छटपटाती रहती है तथा अपनी सुरक्षा या अपनी आवश्यकता को पूर्ति हेतु यहाँ-वहाँ भागती रहती है, बस उसी तरह मेरे मन में एक प्रश्न का समाधान हो नहीं पाता कि अनेक प्रश्न मुँह बाँये खड़े हो जाते। मैं अपने परिवार के स्नेह में पूर्ण संतुष्ट और प्रसन्न होते हुये भी अपने अन्दर उठ रहे प्रश्नों से बैचेन हो जाता। कभी कोई प्रश्न जोर मारता तब कोई और प्रश्न उसे ढकेलते हुये मेरे जहन में छा जाता। अजीबोगरीब स्थिति थी वह मेरे बालपन की।

कहानी को बच्चे बड़े रुचि से सुनते हैं। सुनाने वाले बच्चों को कहानियाँ सुनाते हैं या तो मनोरंजन के लिये या समय पास करने के लिये या ज्ञानवर्द्धन हेतु या बच्चों में उनके अन्दर छिपी क्षमता को उद्घाटित करने हेतु अथवा बच्चों के गुणों में विकास हेतु। सुनाने वाले का अपनी कहानी सुनाने का मन्तव्य विशेष रहता ही है, सुनने वाले बच्चों के मन, मस्तिष्क पर कहानी का अत्यधिक गहरा प्रभाव पड़ता है। इसीलिये कहानी सुनाने वाले भी बच्चों की पसन्द को ध्यान में रखकर ही कहानी सुनाते हैं।

कहानी सुनाने वाले, कहानी सुनने वाले का एक-दूसरे से तथा दोनों का कहानी से तादात्म्य बैठना आवश्यक है अन्यथा सारा विषय ही एकांगी बनकर रह जाएगा। कहानी सुनाने वाला कहानी के अनुसार अपनी भाव-भंगिमा न बनाये तब भी कहानी कहने वाले पर वह असर नहीं पड़ता जिस असर की अपेक्षा कहानी सुनने वाले से की जाती है। कहानी सुनने वाला भी कहानी सुनते समय पूर्ण एकाग्रता न रखे तब भी कहानी का प्रभाव वह नहीं होता जिसकी अपेक्षा कहानी सुनने वाले से की जाती है। कहानी के अन्दर जो भाव है वह तभी प्रगट होता है जब कहानी के अन्दर कोई छेड़छाड़ या काँट-छाँट या वृद्धि नहीं हुयी हो।

जीव की तरह कहानी की भी आत्मा होती है। वह आत्मा प्रत्येक कहानी में जीवन्त होती है। कहानियाँ सत्य हों अथवा मनगढ़न्त, कहानियों के पाठ मूल हों या छद्म, कहानी का स्थान, परिस्थितियाँ और काल भी मनगढ़न्त हों, परिवर्तित हों अथवा यथार्थ; किन्तु कहानी की आत्मा कभी भी मनगढ़न्त, काल्पनिक या असत्य नहीं होती। क्योंकि प्रत्येक कहानी में जुड़ी घटनायें कभी न कभी, किसी न किसी के साथ घटित अवश्य हुयी हैं। पूर्व में घटित घटनायें अपने में संगृहीत कर प्रस्तुत की जाती है वही कहानी कहलाती है। जिस घटना का संबंध एक कहानी से होता है आवश्यक नहीं कि उसी घटना का संबंध उसी समान प्रत्येक कहानी से हो। कई-कई कहानियाँ इस तरह की होती हैं कि उनमें अनेक घटनायें एक समान हुआ करती हैं। अनेक कहानियाँ इस प्रकार की भी हैं जिसमें पात्र एक समान होते हैं। कुछ कहानियाँ ऐसी भी हैं जिनमें काल होता है। जैसे भरत चक्रवर्ती के सामने एक ही समय तीन अलग-अलग घटनायें घटित हुयीं। प्रथम आदि तीर्थंकर ऋषभदेव को केवल्यज्ञान की प्राप्ति, द्वितीय चक्रवर्ती भरत को पुत्र-रत्न की प्राप्ति तथा आयुधशाला में चक्ररत्न का उदय।

तीनों ही घटनायें जीवन्त हैं, प्रत्येक घटना एक कहानी सी बनकर उभरी है। प्रत्येक घटना ही स्वतंत्र कहानी का रूप ले गयी है; क्योंकि प्रत्येक घटना भले ही प्रत्येक कहानी से नहीं जुड़ी हो, मगर प्रत्येक कहानी में घटित घटनायें विभिन्न कहानियों में घटित घटनाओं का अंश अवश्य होती हैं। कहानी की हर एक घटना का अस्तित्व हो आवश्यक नहीं है; परन्तु प्रत्येक घटना किसी भी कहानी से जुड़कर मूर्त हो जाती है। घटनायें, कहानियों में जुड़कर, कहानियों को ठीक उसी प्रकार साकार करती हैं, जीवन्त बनाती हैं जैसे मानव के साथ जुड़े पुद्गल के अजीव तत्त्वरूपी अंश। मानव की रचना भी बिल्कुल कहानी की तरह है।

मानव मूर्त है कहानी मूर्त है, मानव जीवन्त है, कहानी जीवन्त है। न मृत मानव की कीमत होती है न ही मृत कहानी की। कहानी घटनाओं से मिलकर बनती है तो मानव भी छह तत्त्वों से मिलकर बनता है। जिस तरह मानव के छह तत्त्वों में मात्र जीव द्रव्य नहीं हो तब मानव, मानव नहीं रहता, मृत मानव की देह कहलाने लगता है। उसी प्रकार किसी भी कहानी में कहानी की आत्मा नहीं हो तब वह कहानी भी मृत कहलाने लगती है या दूसरे शब्दों में शून्य या प्रभावहीन कहलाती है।

मानव शरीर में स्थित आत्मा के साथ वर्तमान में जो द्रव्य जुड़े हैं, वही द्रव्य न तो अपने उन अंशों में भूतकाल में जुड़े थे और न ही द्रव्यों के वर्तमान अंश भावी पर्याय में जुड़ेंगे। हाँ, कहलायेंगे उन्हीं द्रव्यों के अंश; क्योंकि द्रव्य तो हैं ही छह : जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। आकाश द्रव्य के अवगाहनत्व में शेष पाँचों द्रव्य अवस्थित हैं तथा जीवद्रव्य की तरह प्रत्येक द्रव्य आकाश द्रव्य के लोकाकाश में प्रत्येक स्थान पर मौजूद है। इसीलिये जीवद्रव्य जहाँ भी पहुँचता है शेष द्रव्य जीवद्रव्य के साथ वहीं पर पहुँच जाते हैं तथा वह द्रव्य अपने मूल द्रव्य की अपेक्षा तो उसी नाम से जाने जाते हैं; परन्तु वास्तव में वह उस मूल द्रव्य के वही अंश नहीं होकर अन्य अंश हुआ करते हैं। ठीक इसी प्रकार कहानी की आत्मा से घटना रूपी जो द्रव्य जुड़ा करते हैं वह भी प्रत्येक जगह मौजूद हैं; क्योंकि ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ घटना नहीं घटती हो। इसीलिये घटना के मूल द्रव्य की अपेक्षा घटना एक होती है; परन्तु प्रत्येक जगह, प्रत्येक परिस्थिति में प्रत्येक काल में घटना के अंश अलग-अलग स्थान पर अलग-अलग होते हैं तथा घटना के यही अंश जब जिस स्थान पर जिस समय घटना घटती है एक रूप होकर कहानी बन जाते हैं। परन्तु आवश्यक नहीं कि प्रत्येक कहानी में कथा समान होते हुये भी, घटना भी एक सी होते हुये भी, वही मूल घटना हो जो पहले घटी थी अथवा वही घटना आगे भी घटे जो आज घट रही है।

कहने को तो आदिनाथ या चौबीस तीर्थकरों में किसी भी एक तीर्थकर की कथा होती है; परन्तु क्या किसी एक घटना के द्वारा तीर्थकर की कहानी पूर्ण हो सकती है या एक ही कथा में सैकड़ों, हजारों घटनायें जुड़ती रहें तब वह एक कथा या कहानी का पूर्ण रूप ग्रहण करती है। किन्तु यह भी आवश्यक नहीं कि एक तीर्थकर के साथ जो घटना घटी वह घटना दूसरे तीर्थकर के साथ नहीं घटे। घटना के पात्र बदल सकते हैं, घटना का स्थान बदल सकता है, घटना की परिस्थिति भी बदल सकती है; परन्तु घटना की आत्मा एक ही रहती है। जैसे प्रत्येक तीर्थकर के जीवन में वैराग्य उत्पन्न करने वाली घटनायें अलग-अलग तरह से घटीं। किसी को नृत्य करते मृत्यु देख जीवन की क्षण भंगुरता का ज्ञान हुआ तो किसी ने क्षणभर में चमक कर विलुप्त हुई विद्युत से जीवन की क्षण भंगुरता जान ली। किसी ने सिर पर सफेद बाल देखते ही जीवन को क्षण भंगुर जाना तो किसी ने चेहरे की झुर्री से ही जीवन की क्षण भंगुरता जान ली। किसी ने आकाश से गिरते तारे में जीवन की क्षण भंगुरता जान ली तो किसी ने गुजरती मृत देह में जीवन की क्षण भंगुरता जान ली। कहा भी है—

कोई दर्पण देख विरक्ति कोई मृतक देह वैरागी । बिन कारण दीक्षा धारे वह पूर्व जन्म का त्यागी ॥

प्रत्येक घटना अलग थी परन्तु प्रत्येक घटना का प्रभाव एक था, प्रत्येक घटना की व्यापकता में घटना में छिपी आत्मा एक थी। इसीलिये सभी को अलग घटनाओं से नहीं अपितु घटनाओं में छिपी मूल आत्मा का साक्षात्कार करने से वैराग्य हुआ। अन्यथा वही घटनायें रोज घटती हैं, बार-बार घटती हैं परन्तु वैराग्य नहीं होता, तो इसलिये कि हम घटना में अन्तर्निहित आत्मा का साक्षात्कार नहीं करते। घटना में छुपी मूल आत्मा का नहीं घटना से जुड़ी बाहरी वस्तुओं में ही घटना का अच्छा-बुरा परिणाम ज्ञात करते हैं तथा घटना के मूल तत्त्व का स्पर्श ही नहीं करते।

तारा टूटा, हमने यह सोचा कि तारा कहाँ गिरा या तारा क्यों गिरा एवं तारा गिरने से कोई हानि तो नहीं हुई। यह सोच बाहरी ही है, अन्दर की सोच लगाते तो ज्ञान हो जाय कि तारा इतना चमकदार था फिर भी एक दिन उसकी चमक भी तारे के साथ समाप्त हो गयी। इसी तरह शरीर में स्थित जीवन की चमक भी आयु पूर्ण होते ही समाप्त हो जाएगी। सिर पर बाल देखकर बुढ़ापे का अनुमान कर लेते हैं या चेहरे की झुर्रि देखकर पसिग्रह जोड़ने का कार्य तेज कर देते हैं; किन्तु यह नहीं सोचते कि सिर का एक बाल सफेद नहीं हुआ अपितु बाल की सफेदी हमें उस धवलता का अहसास कराती है कि जीवन में सारे रंग फीके हैं, अब तो जैसा बाहर वैसा ही अन्दर से बन जा। सफेद रंग ज्ञान कराता है कि अन्दर कषाय की जो कालिमा है उसे धोले। जब बाल का काला रंग भी सफेद हो सकता है तब काली कषायों को तू धवल गुणों में क्यों नहीं बदल सकता। काला रंग तो मिथ्यात्व का प्रतीक है, सफेद रंग सम्यक्त्व का, फिर स्वयं सोच सम्यक्दृष्टि बनना है या मिथ्यादृष्टि।

मिला है मौका बदल ले दृष्टि जिस दिन तेरी दृष्टि बदल जायेगी उस दिन सृष्टि भी बदल जायेगी। कषाय की कालिमा मिट जायेगी, समता रूपी सम्यक्त्व का सूर्य उदय होगा, समझ इंसान से भगवान बनते देर नहीं लगेगी। तारा को तारा न समझ, किस्मत को बदलने वाला सितारा समझ। मान्यता बदल ले; क्योंकि सारा झगड़ा ही मान्यता का है। हम जो कुछ मानते हैं वह सत्य नहीं है और जो सत्य है हम उसे स्वीकार नहीं करते। बिजली चमकती है, हम मानते हैं कि कुछ समय को प्रकाश हो गया और पुनः छा गया वही घोर अंधकार। आखिर क्यों न मानें हम ऐसा ही प्रत्यक्ष, दिखता भी तो ऐसा ही है। अरे भाई ! मैं कहाँ कह रहा हूँ कि ऐसा नहीं दिख रहा है, मैं तुमसे दृश्य की कहाँ, दृष्टि की चर्चा कर रहा हूँ। सच्ची दृष्टि से देखोगे, अन्तर के चक्षु खोलेंगे तब तुम्हें तुम्हारे ही बाहर के इन्द्रिय चक्षुओं से देखा दृश्य झूठा लगने लगेगा।

सत्य ऐसा ही है प्रकाश कहाँ प्रगट हुआ, क्या कहीं बाहर से आया और बाहर ही चला गया अथवा अंधकार के कारण प्रकाश नजर नहीं आता था और अंधकार के हटते ही प्रकाश छा गया तथा अंधकार होते ही प्रकाश लोप हो गया। यहाँ स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि अंधकार मिटने से प्रकाश प्रगट हुआ अथवा

प्रकाश प्रगट होने से अँधकार लोप हुआ। अगर आप कहें कि अँधकार मिटने से प्रकाश प्रगट हुआ तब प्रश्न उठता है कि प्रगट हुआ प्रकाश पुनः लुप्त क्यों हो गया? प्रगट हुये प्रकाश को तो शाश्वत रहना चाहिये फिर पलक झपकते अदृश्य क्यों हो गया तथा वापिस अँधकार छा गया।

अब पुनः प्रश्न उठता है कि यदि अँधकार मिटने से प्रकाश प्रगट नहीं हुआ अपितु प्रकाश प्रगट होने से अँधकार विलुप्त हुआ तब पुनः प्रश्न उठता है कि यदि प्रकाश प्रगट होने से अँधकार विलुप्त हुआ तब अब तक यही प्रकाश कहाँ था? क्या अँधकार के अन्दर प्रकाश था या प्रकाश के अन्दर अँधकार? बोलो भैया! उलझ गई न पहली, ढह गई मान्यता या खो गया अपना ही माना सच, जो हम मान रहे थे कि अँधकार विलुप्त हुआ और प्रकाश प्रगट हो गया अथवा प्रकाश प्रगट हुआ और अँधकार खो गया।

हमारा ही सत्य हमें निर्णय तक नहीं ले जा रहा तब क्या हम अपने ही सत्य को असत्य मान लें अथवा अपनी ही आँखों से देखे और कानों से सुने हुये को झूठ मान लें। मैंने पहले ही कहा था, आपको दृश्य बदलने की नहीं, दृष्टि बदलने की जरूरत है। न तो दृश्य गलत है, न ही आपका देखा हुआ गलत है। गलत है तो आपकी मान्यता। यदि प्रकाश शाश्वत है तो अँधकार भी शाश्वत है; किन्तु उतना ही शाश्वत है जितना प्रकाश शाश्वत है। जहाँ प्रकाश होता है वहाँ अँधकार नहीं होता तथा जहाँ अँधकार होता है वहाँ प्रकाश नहीं होता। यही सत्य है और हमें भी सत्य की खोज इसी को आधार बनाकर करनी होगी। हमारी दृष्टि केन्द्रित होगी तो सत्य अवश्य मिलेगा।

बिजली चमकी तब बिजली का प्रकाश अलग बाहर से नहीं आया अपितु अँधकार को चीरता हुआ प्रगट हुआ और अपनी काल की मर्यादा को पूर्णकर अँधकार में ही विलुप्त हो गया। इस सम्पूर्ण घटना में न तो प्रकाश के परमाणु प्रगट होने से अँधकार के परमाणु समाप्त हुये और न ही अँधकार के पुनः छा जाने से प्रकाश के परमाणु विनाश को प्राप्त हुये। हमारी आँखों में इतनी क्षमता नहीं कि वह अँधकार में छुपे प्रकाश को देख सकें अथवा प्रकाश को घेरे हुये अँधकार को देख सकें। मगर सर्वज्ञ प्रभु, अरहन्त देव से कुछ भी नहीं छुपा है। वह सत्य को सत्य रूप में ही देखते हैं, सत्य के स्वरूप में ही जानते हैं तथा सत्य को सत्य रूप में ही मानते भी हैं।

सर्वज्ञ की दृष्टि ही हमें दर्शाती है कि अँधकार के परमाणु प्रकाश के परमाणुओं को उसी समय तक रोक सकते हैं जितने समय तक प्रकाश अपने स्वभाव को भूलकर विकारी अवस्था में रहता है। जब कभी भी प्रकाश विकारी पर्याय को छोड़ता है तथा अपने स्वाभाविक स्वरूप में आता है, अँधकार स्वतः उसे प्रगट होने का मार्ग प्रशस्त कर देता है। विद्युत अल्प समय की मर्यादा वाला प्रकाश है तो सूर्य, चन्द्रमा भी सीमित समय तक प्रकाश देते हैं। सूर्य, चन्द्रमा ग्रह हैं तथा ग्रहों की स्थिति ही ऐसी होती है कि वह एक-दूसरे की राह में आ जाते हैं तथा एक-दूसरे के प्रकाश को ग्रहण करते हैं।

सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध, बृहस्पति, शनि, वरुण अथवा अन्य कोई भी ग्रह हो या प्रकाश से चमकता हुआ द्रव्य; सभी पुद्गल हैं, अजीव हैं, अचेतन हैं। अचेतन में प्रकाश भी तो अपूर्ण और अनियमित होता है। जीव की स्थिति इससे भिन्न है। चेतन का प्रकाश जब प्रगट होता है तब अचेतन इन्द्रियों का अँधकार उसका सामना नहीं कर सकता। किन्तु प्रकाश की तरह ज्ञानरूपी प्रकाश पर भी जब तक कर्मरूपी अँधकार का आवरण छाया रहता है। जब-जब कर्म का आवरण मध्यम पड़ता है तब-तब जीव का ज्ञानरूपी प्रकाश प्रगट होता है। यही प्रकाश जब कैवल्यज्ञान का स्वरूप लेता है तब अज्ञान का अँधकार भी सदा-सदा के लिये समाप्त हो जाता है।

हमारे चारों तरफ के वातावरण में कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो सदा बदलते रहते हैं, कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो थोड़ा-थोड़ा समय लेकर बदलते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो अत्यधिक लम्बा अन्तराल लेकर बदल पाते हैं वहीं कुछ पदार्थ ऐसे हैं, अनन्तकाल तक वैसे के वैसे ही बने रहते हैं। अनन्तकाल तक चिर स्थायी पदार्थ मात्र छह ही हैं : जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ज्ञान, दर्शन, चेतना से संयुक्त जीव मनुष्य, तिर्यच, देव, नारकी गतियों में कर्मबन्धन सहित है, कर्मबन्धन से रहित होते ही सिद्ध गति को प्राप्त करता है।

**आश्चर्य दिखाने वाला जग में प्रसिद्ध हो जाता है।
मोही जीव सदैव कर्मों से अविद्ध होता है।
संसार चक्र अनादिकाल से चलता आ रहा है प्यारे भाई !
जो आठों कर्मों का नाश कर दे वह सिद्ध होता है।।**

चाहे मनुष्य हो या तिर्यच पर्याय जो हमारे साधारण नेत्रों से भी दृष्टव्य हैं, हम सभी पर्याय को नष्ट होता देखते हैं। पर्याय दो रूपों में नष्ट होती है : एक क्षणिक, एक स्थायी। क्षणिक पर्याय तो क्षण-क्षण नष्ट हो रही है तथा आयु के दौरान हम भी उसे बचपन, किशोरावस्था, युवावस्था, जवानी, अधेड़ावस्था, बुढ़ापा के माध्यम से पहचानते हैं। इनमें से कोई भी अवस्था ऐसी नहीं कि जिसमें एक की समानता दूसरी से की जा सके। हमारा रंग, रूप, आकार, प्रकार, बल, वीर्य, कार्यकुशलता एवं बौद्धिक क्षमता आयु के प्रारम्भिक दौर में बढ़ना शुरू होती है, मध्यमकाल तक पूर्ण वृद्धि को प्राप्त करती है तथा पूर्ण वृद्धि के पश्चात् पुनः हास की ओर उन्मुख हो जाती है तथा क्षण-क्षण मिटती पर्याय आयु के अन्त में पूर्णतः मिट जाती है।

देव पर्याय और नारकी पर्याय में पल-पल बदलती पर्याय में रंग, रूप, आकार, प्रकार, बल, वीर्य, कार्यकुशलता, बौद्धिक क्षमता के अन्दर अनुभव नहीं होता। परन्तु उन्हें प्राप्त अवधि ज्ञान से देव और नारकी स्वतः जानते हैं कि शरीर की स्थिति कितनी भी सटीक हो आयु की स्थिति तो प्रतिपल कमजोर हो

रही है। देवों की तो आयु के अन्त में छह महीने पूर्व ही गले में पड़ी माला मुरझा कर संकेत कर देती है कि तुम्हारा स्वर्ग के सुखों से अल्प समय का नाता है। बस उसी समय से देवों की शरीर की कांति फीकी पड़ जाती है। सौन्दर्य और शोभा क्षीण हो जाते हैं तथा आयु के अन्त तक पल-पल पर्याय क्षीण होती जाती है। नारकी जीव तो अपनी प्राप्त आयु में वैक्रियक शरीर होने के कारण एक-एक श्वास में अठारह-अठारह बार अपने शरीर को पारे की तरह बिखरा देते हैं, पुनः पुनः जुड़ते हैं और पुनः पुनः अलग भी हो जाते हैं। अर्थात् बार-बार मृत्यु को प्राप्त होकर भी आयुकर्म के कारण घोर दुःख भोगते हुए भी जीवित बने रहते हैं। मृत्यु शब्द का प्रयोग उनके शरीर के बार-बार बिखरने की अपेक्षा किया जाता है; क्योंकि नारकी की आयु जब तक है तब तक शरीर के बिखरने, खंडित होने या अंग उपांगों के विलग होने की स्थिति होते हुये भी जीवन स्थायी रहता है।

सर्वोच्च स्थान और तीन लोक में सर्वोच्च ऊँचाई को प्राप्त सिद्धगति भी वलय और सिद्धालय को लिये सिद्ध जीवों को अविचल, अपरिवर्तनीय बनाती है। सिद्ध जीवों के पास तो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य मौजूद है तथा समस्त द्रव्यों की वर्तमान, भूत, भविष्यत् पर्याय के वह ज्ञाता, दृष्टा भी हैं; परन्तु सिद्ध जीवों का उपयोग मात्र स्व अर्थात् अपने ही आत्मस्वरूप की ओर है। इसीलिये कर्म के किसी भी बन्धन से वह स्वतंत्र हैं और कर्म के बन्धन से स्वतंत्र होने के कारण ही आयुकर्म का बन्धन उन पर नहीं है, न ही उन्हें पैदा होना है और न ही उनका अवसान होना है। इसीलिये पल-पल का परिवर्तन सिद्ध गति में नहीं है और न ही आयु के अन्त का अन्तिम परिवर्तन।

कर्म के बन्धन आत्मा से जुड़ने और कर्म के बन्धन से आत्मा के मुक्त होने के बाद भी आत्मा का न कभी जन्म होता है और न ही कभी मरण। अर्थात् जीवद्रव्य जीव तत्त्व और जीव पदार्थ चिर स्थायी हैं। संयोगी अवस्था कर्म के साथ का ही उत्पाद व्यय होता है, स्वतंत्र द्रव्य जीव का नहीं।

पुद्गल द्रव्य में हमें परिवर्तन अल्पकालिक और दीर्घकालिक दोनों ही तरह के अनुभव में आते हैं। पर्वत, नदी, समुद्र आदि स्थायी पुद्गल द्रव्य हैं तो सोना, चाँदी, पीतल, ताँबा, रांगा आदि स्थायी धातुओं के साथ-साथ बड़े-बड़े ग्रह सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि भी स्थायी द्रव्य हैं जो लम्बे अन्तराल के बाद भी वैसे के वैसे नजर आते हैं। इन सब में हमें समय के साथ वातावरण के वायु, अग्नि और चुम्बकीय प्रभावों से परिवर्तन नजर आता है। उस लम्बे अन्तराल के परिवर्तन के बाद भी पुद्गल द्रव्य की सत्ता स्थायी रहती है। पुद्गल का रूप, रंग, आकार, प्रकार कुछ भी हो जाय; स्पर्श, रस, गंध, वर्ण गुण स्थायी होते हैं। कभी भी पुद्गल से जुदा नहीं होते।

जीव और पुद्गल दोनों ही द्रव्यों में स्वयं उदासीन रहते हुये चलने में सहायक जीवद्रव्य ही तो है। जो जल की तरह है कि स्वयं स्थिर है फिर भी जल में गमन करते प्रत्येक प्राणी को चलने में सहायक है।

धर्मद्रव्य की तरह अधर्म द्रव्य की सत्ता भी चिरस्थायी है; क्योंकि प्रत्येक चलते हुए जीव और पुद्गल को रुकने की आवश्यकता है, कभी अल्प समय के लिये कभी दीर्घ समय के लिये तो कभी स्थायी समय के लिये। रुकने में जीव और पुद्गल द्रव्य की जो मदद करता है वही तो अधर्म द्रव्य है। धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य अपने गुणसहित मात्र लोकाकाश में ही मौजूद हैं अलोकाकाश में नहीं। इसीलिये कर्म से रहित जीव भी लोकाकाश के अग्रभाग पर जाकर स्थिर हो जाता है, धर्मद्रव्य के अभाव में आगे नहीं जा पाता। धर्मद्रव्य और अधर्म द्रव्य की सत्ता स्थायी है, कभी भी किसी भी कारण से मिटती नहीं।

आकाश द्रव्य के दो भाग हैं : लोकाकाश और अलोकाकाश। चौदह राजू की अवगाहना से युक्त लोकाकाश है। लोकाकाश के तीन भाग हैं : ऊर्ध्व भाग, मध्य भाग और अधोभाग। अधोभाग में पहले निगोद फिर अपने-अपने भारी बिलों सहित सातों नरक घम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्ठा, मघवा, माघवी हैं। इन सभी के ऊपर ठीक मध्य में एक राजू की चौड़ाई लिये मध्य भाग है जिसमें हम सभी रहते हैं। इस मध्य भाग के ऊपर सोलह स्वर्ग, नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश, पाँच अनुत्तर विमान हैं। उसके बारह योजन ऊपर सिद्धशिला है जिसके ऊपर कर्मरहित सिद्ध जीव हैं। जबकि इतर निगोदिया जीव सम्पूर्ण लोकाकाश में ठसाठस भरे हुये हैं। लोकाकाश भी बहुत तीव्र प्रचण्ड वेग वाले तीन वलय, तनुवातवलय, घनवातवलय, घनोदधि वातवलय से घिरा है और लोकाकाश एवं अलोकाकाश भी स्थाई द्रव्य है जो समस्त द्रव्यों सहित लोक को अवगाहना प्रदान करता है।

अन्तिम स्थायी द्रव्य है कालद्रव्य। समस्त लोक में प्रतिपल परिवर्तन हो रहा है। यह परिवर्तन अस्थायी भी है और स्थायी भी। प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय जो वर्तमान में है वह अगले ही पल भूतकाल की हो जाती है तथा वर्तमान पर्याय का स्थान भविष्यकाल की पर्याय ले लेती है। यह क्रम चिरस्थायी है। व्यक्ति और वस्तु अपनी-अपनी आयु की मर्यादा लिये हैं। पल-पल में आयु क्षीण होती है और पल-पल क्षीण होती आयु अन्त में पूरी तरह समाप्त हो जाती है। संयोग वियोग में बदल जाता है तथा पुनः वियोगी जीव और पुद्गल नई आयु को लिये नये संयोग में बंध जाते हैं। जीव के साथ बंधने वाले पुद्गल अजीव कहलाते हैं। अजीव के अलावा शेष समस्त पुद्गल भी दूसरे पुद्गलों के साथ मिलकर एक निश्चित काल का संयोग और उसके पश्चात् वियोग को प्राप्त होते रहते हैं। संयोग-वियोग स्थायी और अस्थायी परिवर्तनों को स्वयं उदासीन रहकर कराने वाला कालद्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में गुच्छों के रूप में मौजूद है तथा कालद्रव्य भी सदा स्थायी रहने वाला अविनाशी द्रव्य है।

इन छह द्रव्यों की सत्ता ही स्थायी है, शेष समस्त संयोगी अवस्थायें हैं। जो अपना संयोग का समय पूर्ण होते ही वियोग को प्राप्त हो जायेंगी। संयोग-वियोग की स्थिति को ही तीर्थकर आदिनाथ ने अपनी राज्यावस्था में बखूबी पहचाना और ऐसा पहचाना कि उनके अलावा अन्य कोई पहचान ही नहीं पाया;

क्योंकि सभी की दृष्टि अलग थी, दृश्य तो एक ही था। साधारण नेत्रों से देखने वालों को नर्तकी नीलांजना ही नजर आ रही थी; परन्तु जब नृत्य करते-करते नीलांजना मृत्यु को प्राप्त हुई तथा बिल्कुल वैसी ही हू-ब-हू रूप, रंग, सौन्दर्य, शोभा युक्त दूसरी नीलांजना उसके स्थान पर नृत्य करने लगी। समस्त जन समुदाय पूरी तरह तन-मन से एकाग्र उस रूपसी के नृत्य में इतना मंत्र-मुग्ध था कि इस परिवर्तन का किसी को पता ही नहीं चला। चलता भी कैसे अगर किसी को कोई अन्तर महसूस होता तभी न।

परन्तु आदिराज की विलक्षण प्रतिभा अपने उपयोग में स्थिर थी। सभी नृत्य का आनन्द उठा रहे थे, मगर आदिराज नृत्यांगना की पल-पल बदलती स्थिति का ज्ञान कर रहे थे। उनके विचारों में स्वयं द्वन्द्व मचा था। बाहर नृत्यांगना अपनी कलाओं सहित इधर से उधर जा रही थी तो उधर आदिराज के मन में विचार भी तेजी से नृत्य करते हुये इधर से उधर आ-जा रहे थे। आदिराज सोचमग्न थे कि देखो, पूर्वजन्म के शुभकर्मों के उदय से रूपसी ने कितना सुन्दर, सलौना अतुलनीय रूप प्राप्त किया है। अपने तीव्र अभ्यास के कारण शरीर के कष्टों की परवाह किये बगैर नृत्य की निपुणता में नित्य नई ऊँचाइयों को प्राप्त किया है। सभी के सम्मान की पात्र बनी है। उसके मादक शरीर के सुर और ताल पर थिरकते ही दर्शक भी झूम उठते हैं, तालियाँ बजाते हैं तथा अपने आवेग को न रोक पाने वाले मर्यादा से विहीन शब्दों का प्रयोग कर जाते हैं तो कुछ शरारती तत्त्व अश्लील आचरण पर भी उतर आते हैं। यह मेरी राजसभा है, यहाँ पर भय के कारण किसी के द्वारा मर्यादा से विहीन आचरण संभव ही नहीं; किन्तु मन तो मन है विचारों के पंख लगे नहीं कि उड़ना शुरू। यहाँ भय है परन्तु हर जगह तो भय नहीं। अपने विकार निकालने के लिये यह अवसर निकाल ही लेते हैं तथा अपनी आत्मा की आवाज अनसुनी कर मन के मारे यही तत्त्व जो कृत्य करते हैं वही अपराध होता है; क्योंकि अपराध वही तो है **“जहाँ राज, समाज और धर्म की मर्यादाओं के विपरीत ऐसा आचरण किया जाये जिसमें दूसरे की सहमति आवश्यक नहीं।”** कोई भी अपराधी हो सकता है, चाहे वह धर्मपालन करने वाला भी हो सकता है।

हाँ-हाँ धर्म कार्य करते हुये जब मानव मन पर अंकुश नहीं रख पाता, संयम से च्युत होकर विषय-वासनाओं का शिकार होता है तब उसकी धर्म से श्रद्धा कमजोर हो जाती है। अपने ही आत्मस्वरूप में आनन्द के स्थान पर पर-संपत्ति और पर की काया में ही आनन्द मानने लगता है। अपने इसी आनन्द की प्राप्ति हेतु वह ऐसा कृत्य करने के लिये दूसरे को सहमत करता है, सहमत न होने पर बलपूर्वक उस कृत्य को करता है। उसका यही कृत्य अपराध है। भले ही वह दूसरे की सहमति से किया गया हो अथवा असहमति से। राज, समाज और धर्म की नीति के विपरीत होने से वह अपराध ही है। मानलो मानव को स्पर्शन इन्द्रिय का विषय सता रहा है इसके लिये वह अपनी पत्नी से अलग अन्य किसी भी नारी से उसकी सहमति से अथवा असहमति से सहवास करता है तो निश्चित रूप से अपराध है।

नास्तिक परमात्मा में श्रद्धान नहीं रखता ।
भोगी योग का ज्ञान नहीं रखता ॥
सवार होता जब इंसान पर वासना का भूत ।
तो वह अपराध का ध्यान नहीं रखता ॥

मानव मन अपराधों से भरा पड़ा है । पाँचों इन्द्रियों के विषयों में इतना अनुरक्त है कि निजकल्याण की बात सोचना भी नहीं चाहता । आत्मा के सुख की पहचान ही नहीं करता केवल इन्द्रिय सुख को ही सच्चा सुख मानता है । नर्तकी नृत्य कर रही है, उसके नृत्य से हमारे विषय विकार उभर कर सामने आते हैं । क्या कोई ऐसा भी दर्शक है जो नर्तकी में अपनी माँ की छवि निहारता हो या बहिन का प्यार देखता हो अथवा पुत्री के वात्सल्य को प्राप्त होता है । यदि कोई भी भद्र पुरुष किसी भी नारी में माँ, बहिन, बेटे के रूप का दर्शन करता है तब निश्चित ही उसका मन विकारों से रहित होता है । उसका मन फिर नृत्य में नहीं, अपने स्वरूप में लीन हो जाता है । उसे न नर्तकी दिखती है न नृत्य । उसके अन्दर मन में दौड़ते विचार भी नृत्य करना बन्द कर देते हैं । उसे सचमुच निराबाध, निराश्रित आनन्द अपने ही अन्दर से आने लगता है ।

जिनकी दृष्टि नृत्य करने वाली के तन पर है, उसके विचारों में वासना भी तो स्वाभाविक है । मनोरंजन भी तो मन की तृप्ति है, सच्चा सुख नहीं । मनोरंजन का अर्थ ही है **“मन का रंजन अर्थात् मन का आरंजन ।”** स्वाभाविक है कि मन स्थिर नहीं होता, यदि स्थिर हो जाय तो रंजन नहीं रहेगा । किन्तु स्थिर कैसे हो मन, जब तक विचारों का प्रवाह बना रहेगा मन स्थिर नहीं होगा । मन के अस्थिर होने का प्रतीक ही है कि मन पर घात हो रहा है, रंजन का अर्थ ही है घात । घात स्वयं हिंसा का प्रतीक है, फिर कोई भी अहिंसक प्राणी हिंसा को कैसे अपना सकता है ? इसीलिये जैनवाङ्मय में मन को घात करने या मन को मारने के लिये नहीं कहा अपितु मन पर संयम करने को कहा । मन का संयम नहीं रखने वाला प्राणी ही बाहर में सुख खोजता है । बाहर में सुख हो तभी तो मिलेगा । बाहर में इन्द्रियाँ जितनी तृप्त होती हैं उतनी ही आग और भड़कती है । इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष अग्निस्वरूप हैं और इन्द्रियों के विषय उनके ईंधन । जितना भी अग्नि में ईंधन डालोगे आग बढ़ती ही जायेगी, बुझेगी नहीं ।

एक स्त्री का नृत्य देखकर जो सुख लोग प्राप्त कर रहे हैं वह सुख कहाँ है, वह वास्तव में मनोरंजन है । एक नर्तकी बेबस है अपने स्वामी के इशारों पर नृत्य करने के लिये तो उसका नृत्य देखने वाले भी बेबस हैं अपने मन को संतुष्ट करने के लिये । मेरी भी महारानी और रानियाँ हैं किन्तु कुछ समय का शारीरिक सम्पर्क भले ही हमें इन्द्रिय सुख की अनुभूति कराता है परन्तु उसी आनन्द का फल भी तो हमें वितृष्णा के रूप में तुरन्त प्राप्त हो जाता है । आनन्द का वह चरण उत्कर्ष ही सत्य होता तब हमें वह शाश्वत प्राप्त होना चाहिये । शाश्वत सुख वह प्राप्त हो नहीं सकता ; क्योंकि यह शरीर ही कर्माधीन है । कर्म की स्थिति समाप्त और

कर्माश्रित शरीर भी समाप्त। शरीर होते हुये भी अनेक प्राणी ऐसे हैं जिन्हें अशुभ कर्म के उदय से वह सुख नहीं मिलता। येन-केन-प्रकारेण सुख मिल भी जाय तो इन्द्रियासक्ति सिर्फ नवीन कर्मबन्ध का कारण होती है।

पूरी आयु हम नृत्य ही तो करते हैं। निगोद में घनघोर दुःखों से निकले तो चौरासी लाख योनियों के चक्कर लगाते रहे। कर्मों ने हमें अपने जाल में ऐसा फँसाया कि चारों गतियों में घुमा-घुमाकर हमें नृत्य करने पर मजबूर किया। जिस तरह कुत्ते को हड्डी चबाते समय अपनी ही दाढ़ से निकले रक्त में आनन्द आता है उसी प्रकार प्राणी को पर से सुख का पान करते समय अपने ही कर्मों के उदय से स्रवित आनन्द का अनुभव होता है। न तो कुत्ते को अपने झूठे आनन्द का ज्ञान है और न ही प्राणी को। कुत्ते की तरह प्राणी भी तो इन्द्रियों का रस पान कर रहा है, दुःख भोग रहा है।

मन को भाने वाला यह नृत्य भी स्थायी नहीं है। कुछ समय का नृत्य है, नृत्य के दौरान कभी सुर से, कभी संगीत से, कभी तन से सभी का मनोरंजन होगा। एक अस्थायी खुशी का संचार होगा। जाने किसके मन में कैसे-कैसे विचार आयेंगे। नर्तकी एक है मगर उसे पाने वाले मन के लोभी, मन के मारे, मन के सताये, मन के प्यारे, मन के गुलाम अनगिनत प्राणी होंगे। सभी के अन्दर वह कुत्सित विचार होगा जो कभी पूर्ण नहीं होगा। नर्तकी के एक-एक अंग के माध्यम से मादक अदाओं का आनन्द उठाने वाले नहीं जानते कि नर्तकी के एक-एक अंग में जमाने के जुल्मों की पीड़ा भरी है। वही पीड़ा चीख-चीखकर चिल्ला-चिल्लाकर कह रही है : **मत सताओ जालिमों ! अब और मत सताओ। कुछ तो दया धरो, मन की गुलामी से आजाद हो, सत्य को स्वीकार करो। सुख मेरे तन में नहीं, मेरे वस्त्रों में नहीं, मेरी इन अदाओं में नहीं। यह तो धोखा है जो तुम्हें छल रहा है और दुःख एवं आश्चर्य है कि हे भोले प्राणी ! तू इस छलिया से बड़ी ही आसानी से छला जा रहा है।**

जरा देख ! बड़ी गौर से देख अपनी ही आत्मा की आवाज सुन, मैं आज इस गिरी स्थिति को प्राप्त हुई हूँ। जहाँ मेरा मजाक उड़ाने वाले तो सभी हैं, मदद करने वाला कोई नहीं। कहीं ऐसा न हो कि तुझे भी मेरी तरह मजाक का पात्र बनना पड़े और तेरी मदद करने वाला कोई नहीं हो। संभल जा मेरे भाई ! अभी भी वक्त है संभल जा ! मेरी तरह दुर्दशा को प्राप्त हो उसके पूर्व ही संभल जा। वर्ना तेरा अन्त आयेगा और तू सिवाय रोने-पीटने, दुःख ढोने के कुछ भी नहीं कर पायेगा।

नर्तकी मूक हो उपदेश दे रही है, सबसे पहले बजने वाले मृदंग से आवाज आती धिक्-धिक् अर्थात् धिक्कार हो। तारों से आवाज आती है किन-किन अर्थात् किन-किन को धिक्कार हो। तभी नर्तकी हाथ फैलाकर चारों ओर घूमती है, वह कहती है- इन सभी को धिक्कार हो जो मुझ जैसी नीच वृत्ति की स्त्री को देखकर मन में वासना जागृत कर रहे हैं।

अभी महाराज आदिकुमार का यह अनुकरणीय, आदरणीय, आदर्श, अनुपम, अति मनग्राही, अनुचिंतन चल ही रहा था कि वह घटना घट गयी जिसने रागी आदिकुमार को वैरागी बना दिया। संसार, शरीर और भोगों का वास्तविक परिचय करा दिया। सत्य का अद्वितीय अनुभव करा दिया। स्व-पर का भेद विज्ञान करा दिया, जीवन के जीते-जागते सत्य और जीवन के मृत्युरूपी अन्त का साक्षात्कार करा दिया। नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा बनने का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

हुआ यह कि नर्तकी नीलांजना की आयु नृत्य करते-करते ही पूर्ण हो गयी। इन्द्र ने अवधिज्ञान से यह जाना तो अपने बल से अन्य नर्तकी को नीलांजना के रूप में बगैर एक भी पल का विलंब या व्यवधान किये नीलांजना की मृत्यु के साथ ही प्रस्तुत कर दिया। नृत्य यथावत चलता रहा। एक नर्तकी मृत्यु को भी प्राप्त हुयी, दूसरी ने उसका स्थान ग्रहण कर बिल्कुल वैसा ही नृत्य जारी रखा। किसी को कुछ भी पता नहीं चला। सभी संगीत-नृत्य के सुर-ताल में ऐसे खोये रहे कि पूरे नृत्य के दौरान केवल वही देखते रहे जो वह देखना चाहते थे। उनका मन, उनकी इन्द्रियाँ जिसके लिये पूरी तरह लालायित थी। सत्य से परे पूरी तरह असत्य, मगर पूरी तरह सत्य सा लगने वाला।

आश्चर्यजनक रूप से आदिकुमार को अपना ही परिचय प्राप्त हो गया। आदिकुमार के मन में विचारों का प्रवाह तीव्र हो गया। राग के बन्धन ढीले पड़ गये, मन वैराग्य की ओर बढ़ गया। आदिकुमार ने जाना-मेरी इस पर्याय की मृत्यु निश्चित है। नीलांजना की मृत्यु, नीलांजना की पर्याय की मृत्यु है, नीलांजना की आत्मा की नहीं। आत्मा तो नर्तकी के शरीर से निकलकर अपने अगले आयुकर्म के अनुसार अपनी अगली गति को प्राप्त हो गयी होगी। मेरी भी यह पर्याय मनुष्य रूप में मुझे पूर्वकृत शुभ कर्म के बन्ध के उदय से प्राप्त हुयी है। अभी भी यह बन्ध नहीं छोड़ा तो यह बन्धन बँधा ही रहेगा। मुक्तिवधू के शाश्वत दर्शन से वंचित इन नर्तकियों और नर्तकियों या सप्तपदी वाला पत्नी के ही दर्शन करता रहूँगा। जिनमें कर्मों के बन्धन तो हैं ही जीवन की आजादी के भी बन्धन के दुःख भरे हैं।

जीव और जीवन दो एक से लगने वाले शब्द हैं। यह दोनों पूरी तरह पृथक हैं किन्तु न तो पूरी तरह पृथक ही हैं न पूरी तरह बंधे हुये। एक ऐसा असत्य जो पूरी तरह सत्य सा लगता तो है मगर सत्य से पूरी तरह दूर है। जीवन में जीव है यह पूरी तरह सत्य है तथा जीवन समाप्त होता है जीव नहीं; यह भी पूरी तरह सत्य है। इससे स्वतः स्पष्ट है कि जीव और जीवन एक ही नहीं है। यदि एक होते तब जीवन के साथ जीव भी समाप्त हो जाता। जीव के बगैर जीवन संभव नहीं; क्योंकि जीव होगा तभी जीवन में बुद्धि, विकास, परिवर्तन, क्रिया संभव है, जब जीव जीवन से अलग हो जाता है तब यह सारे कार्य स्वतः बन्द हो जाते हैं। इसका मतलब है कि जीव और जीवन एक-दूसरे से पूरी तरह पृथक नहीं है। जीव को वह कुछ भी प्राप्त नहीं होता जो जीवन को प्राप्त होता है। स्त्री, पुत्र, नाते, रिश्ते, धन-धान्य, संपत्ति, महल-मकान, वैभव जो कुछ

भी जीवन प्राप्त करता है जीव उसे स्पर्श भी नहीं करता। यहाँ तक कि इन्द्रिय सुख क्या इन्द्रिय ज्ञान की भी जो जीवन के आधार हैं तथा शरीर से संचारित हैं मात्र जीवन की आवश्यकता है जीव की नहीं। क्योंकि जीव तो पूरी तरह अशरीरी है, जीव के अन्दर स्वयं स्वतंत्र केवल्यज्ञान है जिसमें समस्त पदार्थों की समस्त पर्यायें युगपत् झलकती हैं। जीव स्वयं पूर्ण शक्तिवान है, कोई भी बाधा न तो उसे रोक सकती है और न ही कोई उसे किंचित् सुख दे सकता है। वह तो स्वयं ही पूर्ण अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्य का स्वामी है। कभी कोई विश्राम नहीं, कभी कोई आराम नहीं, कभी भी कोई क्रिया नहीं, कर्ता नहीं, कर्म नहीं; पूरी तरह निष्क्रिय, ज्ञाता दृष्टा, स्वयंप्रभ, स्वाश्रित, स्वाधीन। मतलब जीव के पास जो कुछ है जीवन के पास वह बिल्कुल भी नहीं, इसका अर्थ है कि जीव और जीवन पूरी तरह पृथक् है।

आदिकुमार का वैराग्य मुखर हो गया। पर-उपकार और परकल्याण की भावना अब निज-उपकार और निजकल्याण में बाधा प्रतीत होने लगी। दूसरों पर दया, करुणा, क्षमा, प्रेम, वात्सल्य भाव रखना अच्छी बात है मगर दूसरों के लिये कृत शुभ कार्य भी पुण्य बंध के कारण हैं। पुण्य बंध से स्वर्ग का वैभव, इन्द्र, अहमिन्द्र का पद और पृथ्वी पर चक्रवर्तीत्व तो प्राप्त हो सकता है मगर उसे प्राप्त होकर भी तो नष्ट होना है। तब फिर मैं ही मेरा कल्याण क्यों न करूँ जिसमें न पापों का विकल्प, न पाप की कल्पना के निज शुद्ध स्वरूप परम पवित्र आत्मा में स्थित अनन्त, अविनाशी, शाश्वत चिरस्थायी सुख की अव्याबाध अनुभूति और आदिकुमार अपनी ही अनन्त अनुभूति में उतर गये।

भगवान राम की पहचान दस्यु सरदार वाल्मीकि को राम के रूप में नहीं हुयी। उन्होंने मरा-मरा रटते-रटते राम, राम कहा और राम का परिचय प्राप्त किया। जिस किसी को भी वैराग्य हुआ उसने वैराग्य की खोज जीवन से नहीं की। वैराग्य का मूल या वैराग्य की जड़ मृत्यु के परिचय से जुड़ी है। जिस प्रकार एक दीपक जब तक जलता है तब तक किसी को उसकी कीमत समझ में नहीं आती। दीपक के बुझते ही जब अंधकार छा जाता है तब दीपक की कमी का अहसास होते ही दीपक की कीमत पता चलती है।

सच्चे ज्ञानी दीपक बुझने से पहले ही दीपक का विकल्प खोज लेते हैं। इसी प्रकार सम्यक्ज्ञानी की पहचान है कि वह जीवन का अवसान होने के पूर्व ही जीवन के रहस्य को जान लेते हैं। मृत्यु आये उसके पूर्व ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि अब उनकी मृत्यु नहीं होगी अथवा उनके जीवन का अवसान नहीं होगा। जो होना है वह तो अवश्य होगा उसे ज्ञानी भी नहीं रोक सकते; किन्तु ज्ञानी उस होने वाली क्रिया से खुद को हटा लेते हैं। यही वह समझने वाली चीज है जो हमें समझनी है और जीवन में उतारनी है।

क्या ऐसा कभी संभव है कि कोई घटना घटे और हम उसमें शामिल भी हों और कहें कि नहीं मैं शामिल नहीं। जैनदर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और जीव के कल्याण का मूलमंत्र का प्रयोग करने से यह

एकदम असंभव सा लगने वाला रहस्य पलभर में सुलझ जाता है। जन-जन का मंगलकारी वह महान् मूलमंत्र है- **“स्व-पर भेद विज्ञान”** ।

हाँ, हाँ हम मृत्यु में स्वयं को शामिल मानते हैं और भय खाते हैं कि मेरी मृत्यु न हो। मरते समय भी तो यही कहते हैं, मैं मर रहा हूँ, मेरे बाद मेरे बच्चों, मेरी पत्नी, मेरे परिवार, मेरी संपत्ति और मेरी इच्छाओं का ध्यान रखना। मृत्यु होने पर शवयात्रा भी निकाली जाती है, किसी से भी पूछो कि यह अर्थी किसकी है, तुरन्त उत्तर मिलेगा कि अमुक नाम वाला मर गया है उसी को ले जा रहे हैं। श्मशान भूमि में भी दाहक्रिया करने के लिये कहा जाता है कि अमुक के शरीर को अग्नि प्रदान करो। इसके बाद भी उपस्थित समूह अग्नि प्रज्वलित होने पर यह कहते हुये पंच लकड़ी देता है कि जाओ, जाओ मेरा तुम्हें अन्तिम अभिवादन। इसके बाद भी अस्थियाँ विसर्जन हेतु कहा जाता है कि अमुक के फूल सिराने ले जा रहे हैं। यही नहीं शोकसभा एवं तेरहवीं में भी तो कहा जाता है कि मैं अमुक को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ, वही नहीं रहे किन्तु उनका नाम तो शेष है। अपना जीवन सफल बनाने के लिये उनका नाम ही काफी है।

“स्व-पर भेद विज्ञान” इसी सूत्र को प्रयोग कर हम इस संपूर्ण प्रकरण को हल करते हैं। स्व+पर+भेद+विज्ञान=स्व अर्थात् मैं, पर अर्थात् मुझसे भिन्न कोई और, भेद अर्थात् अन्तर, विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान। मतलब स्पष्ट है कि जब मैं और मुझसे भिन्न दूसरे का अन्तर करने वाला विशिष्ट ज्ञान हमें होगा तब हम स्वयं को दूसरे में शामिल नहीं करेंगे और न ही स्वयं में दूसरे को मानेंगे।

बहुत अच्छी तरह हम विवेचन कर चुके हैं कि जीव और जीवन जुदा-जुदा हैं। जीव और जीवन एक-दूसरे के साथ होते हुये भी एक-दूसरे के नहीं हैं। यह एक नापाक गठबन्धन है जो मजबूरी में तब तक निभाया जा रहा है जब तक गठबन्धन का समय पूर्ण नहीं होता। गठबन्धन का समय पूर्ण हुआ और नया गठबन्धन प्रारम्भ।

आमतौर पर हम देखते हैं : शादी, विवाह पवित्र गठबन्धन होता है तथा गठबन्धन तभी सफल होता है जब गठबन्धन में बंधे वर-वधू के गुण एक-दूसरे के पूरक होते हैं। यदि गुण भिन्न हुये तब वह गठबन्धन बेमेल हो जाता है। बेमेल गठबन्धन निभता नहीं, निभाया जाता है। यही स्थिति है हमारी और शरीर की। हमारे अर्थात् जीव के लक्षण हैं : ज्ञान, दर्शन और चेतना जबकि शरीर अर्थात् पुद्गल (अजीव) के लक्षण हैं : स्पर्श, रस, गंध, वर्ण। स्वतः स्पष्ट है कि दोनों के गुण पूरी तरह पृथक् हैं और पृथक् गुण वालों के बीच गठबन्धन भी बेमेल ही हुआ है। मजबूरी है इसे तब तक निभाने की जब तक कि जीव पुद्गल के मिलन की अवधि अर्थात् आयु पूर्ण नहीं होती।

अब स्वयं सोचो आप कि कौन मरा? क्या मैं मरा? यदि मैं मरा तब तो आगे फिर कभी पैदा नहीं

होऊँगा तथा यदि मैं अभी मरा तो मरने के पहले जिया हूँ तथा जीने के पहले पैदा भी हुआ था। यहीं पर प्रश्न उठ खड़ा होता है कि मैं पैदा हुआ था तो कहाँ से हुआ था? क्या पहले भी मैं इसी तरह मरा था, यदि नहीं मरा था तब एकाएक मेरा यह वर्तमान में अस्तित्व कहाँ से आ गया और विनष्ट भी हो गया। हमारे ही कहे गये प्रत्येक शब्द पर हम गौर करें तब पता चल जाता है कि हमारी समस्या हमारी ही पैदा की है तथा इसका समाधान भी हमारे द्वारा ही होगा।

मैं मर रहा हूँ, मेरे पूर्वजन्म में कृत कर्मों का फल मुझे मिला है। मैं इस जन्म में न सही, अगले जन्म में यह कार्य पूर्ण करके ही रहूँगा। क्या हमारे कहे गये यह तीन वाक्य ही हमें यह उद्घाटित नहीं करते कि मैं पहले भी मरा था, मैं आज भी मर रहा हूँ तथा मुझे आगे भी मरना है। इसे हम इस तरह भी कह सकते हैं कि मैं पहले भी पैदा हुआ था, मैं अभी पैदा हुआ हूँ तथा आगे भी मैं पैदा होऊँगा। यही कथन हमें बताता है कि वर्तमान, भूत और भविष्य में मैं हूँ। किन्तु मैं हूँ तब कौन है जो मरा, और कौन है जो पैदा हुआ? मैं हूँ तो मैं ही, मरा कैसे और मैं जब स्वयं हूँ ही तब पैदा कौन हुआ?

निश्चित ही जो है वह न तो पैदा हो सकता है और जिसे आगे भी रहना है वह मर भी नहीं सकता। किन्तु जब मैं न मरा, न ही पैदा हुआ तब मैं क्यों कहता हूँ कि मैं मरा, मैं पैदा हुआ। यही मिथ्या कथन है जो हमारी मिथ्या मान्यता से पैदा हुआ है। अनादिकाल से ही हम इस शरीर को अपना मान रहे हैं, शरीर के सुख को अपना सुख तथा शरीर के दुःख को अपना दुःख मानते हैं। शरीर के जन्म को अपना जन्म तथा शरीर की मृत्यु को अपनी मृत्यु मानते हैं। यही मिथ्यात्व है तथा जब तक हम अपनी इस मान्यता पर कायम हैं तब तक हमारी मान्यतानुसार हम ही मरेंगे, हम ही पैदा होंगे।

हमारी यही मान्यता हमें मिटानी है; क्योंकि जब मैं और यह शरीर एक नहीं है, पूरी तरह पृथक् है। यह तो हमारे अन्दर उठने वाले विकारी भावों की परिणति है जो हमें बार-बार शरीर के साथ पैदा होना पड़ता है तथा शरीर के साथ मरना पड़ता है। क्योंकि बार-बार न तो मैं पैदा होता हूँ और न ही शरीर बल्कि मैं और शरीर जब आयुर्कर्म के साथ संयोगी अवस्था में आते हैं वही हमारा जन्म कहलाता है तथा हमारे मिलन की आयु अर्थात् अवधि समाप्त हो जाती है तब हम मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।

मृत्यु को शत्रु नहीं मित्र समझना चाहिए।

मृत्यु को ठुकराना नहीं गले लगाना चाहिए।।

जन्म और मृत्यु का यह खेल भी खत्म हो सकता है, यदि हम उसे अपना ही समझे, इस स्व और पर के ज्ञान को मात्र ज्ञान ही नहीं रहने दें। इस पर पूर्ण श्रद्धान करते हुये इसे अपने जीवन में उतारें। अपने स्वभाव में मिलाकर चरितार्थ करें। निश्चित ही जन्म-मृत्यु का यह खेल हम ही खत्म कर लेंगे। अशरीरी बन मुक्ति प्राप्त करेंगे।

मुक्ति प्राप्त तो हो जायेगी परन्तु मुक्तिधाम (मोक्षपुरी या सिद्धालय) में मेरी पहचान कैसे होगी ? क्योंकि जैनआगम तो कहता है कि सिद्धशिला में तो आत्मा प्रकाशमय रहती है। एक ही कमरे में जैसे हजारों हजार बल्ब जला दिये जायें और उसमें हम किसी एक बल्ब के प्रकाश की पहचान करें तो क्या संभव है ? नहीं कदापि नहीं। सच कहें तो आवश्यकता भी नहीं; क्योंकि जो आत्मा मात्र प्रकाशमय रह जाती है, अशरीरी हो जाती है उसके अन्दर किसी तरह की वाँछा अवशेष नहीं रहती, पूर्णतः निरवाँछित हो जाती है। वाँछा तो मोह का कारण है, मोह सिद्धों को कहाँ संसारी प्राणी को होता है। संसारी प्राणी अपने इसी मोह के वशीभूत होकर ही अपनी पृथक् पहचान कायम रखना चाहता है। चाहे स्वर्ग में हो, चाहे नरक में और चाहे मध्यलोक में पृथ्वी पर उसे अपनी पहचान से इतना मोह होता है कि वह इस पहचान को कायम रखने के लिये जिस पर्याय में होता है उसी पर्याय में रहना चाहता है। अनन्तों दुःख प्रतिपल सहता है परन्तु पर्याय का पर्यवसन नहीं करना चाहता।

भला हो आयुर्कर्म का जो हमें पर्याय के इन दुःखों से दूर कर देता है। अन्यथा कैंसर के फोड़े के फूट जाने पर असहनीय वेदना को झेलने वाला प्राणी भी कामना तो करता है कि फोड़ा मिट जाय, रोग मिट जाय, दर्द मिट जाय; परन्तु किंचित् भी यह कल्पना नहीं करता कि यह पर्याय मिट जाय। पर्याय तो पहचान के लिये आवश्यक मानता है। पहिचान नहीं तो परिचय कैसा ? परिचय का मोहताज, परिचय का लोभी, परिचय का आसक्त मूढ़ प्राणी अगर इतना भर सोच ले कि एक ही जन्म में मिलने वाले जितने भी प्राणी हैं क्या वे सभी उसे जन्म से मिले हैं और मृत्यु तक साथ चलेंगे ? नहीं न ! अरे ये तो अपने पूर्व कर्मों के उदय से अपने कर्म के उदयकाल के साथ हमारे संग जुड़ते हैं और कर्मों के विपाक (कर्मफल के देते ही) के साथ ही हमसे दूर भी चले जाते हैं। फिर इनसे मोह कैसा ? इनसे परिचय की स्थिरता क्यों ?

कदाचित् कोई जीवनकाल में लम्बे समय तक भी हमारे साथ रहा तब भी हमें क्या मिला, उसने हमें क्या दिया और उसने हमसे क्या लिया ? जो भी हमें मिला वह हमें हमारे भाग्यानुसार प्राप्त होना था, अन्य तो उसे मिलने में मात्र निमित्त ही रहा। इसी तरह मैं भी पर का निमित्त तो बनता हूँ परन्तु यदि दूसरे के भाग्य में मेरे द्वारा दी वस्तु का उपयोग नहीं लिखा तो वह मुझसे वस्तु प्राप्त करके भी उसके उपयोग से वंचित रह जाता है। किसी को बहुत जोर की भूख लगी, हमारे दरवाजे पर आया, हमने उसे यथायोग्य भोज्य सामग्री भी दी जिसे प्राप्त कर वह कूप के पास रखकर नहाने लगा। इतने में एक कुत्ता आया और जब तक उसकी नजर पड़ती कुत्ते ने भोजन साफ कर दिया। स्वयं सोचो किसका भाग्य कहाँ जुड़ा है, किसे मालूम ? फिर इस पर्याय से मोह कैसा ? इस परिचय के खोने का कैसा डर ? आज खोता है, आज मिटता है तो खो जाय, मिट जाय मुझे क्या ? मैं तो अजर-अमर हूँ, फिर इस परिचय का मोह कैसा ?

आज इस मनुष्य पर्याय को पाकर किसे पता है कि वह कहाँ से आया है और उसे कहाँ जाना है? अगले-पिछले जन्म की तो बात ही छोड़ो, इतनी भी खबर नहीं कि बचपन में मेरे साथ क्या-क्या घटित हुआ, जवानी का जोश तो जैसे भी मदहोश कर देता है कि सिवाय भोग के कुछ भी याद नहीं रहता और बुढ़ापे में तो पल-पल आयु ही नहीं घटती, याददाश्त भी घटती जाती है। स्वयं सोचो, जब स्वयं को स्वयं का ज्ञान नहीं रहता, स्वयं को स्वयं का परिचय विस्मृत हो जाता है तब हम क्यों करें दूसरे से अपने परिचय की अपेक्षा? क्यों करें हम दूसरों से अपनी पहचान की कामना?

मैं भी दूसरों से परिचय और पहचान की कामना नहीं करता। अपने ही बीते समय में झाँककर अपनी ही यादों को तरोताजा कर अपना ही भविष्य सुनिश्चित करना चाहता हूँ। मुझे इससे भी मोह नहीं; क्योंकि जो बीत गया सो बीत गया, वह पुनः लौटकर नहीं आने वाला। हाँ, बीते हुये समय में स्वकृत भूलों को सुधारकर यदि वर्तमान को व्यवस्थित कर लूँ तथा जगत में रहकर जगत से भिन्न स्वयं की स्पष्ट पहचान और पूर्ण परिचय प्राप्तकर उसी में रमण करूँ तो निश्चित ही मेरा भविष्य उज्ज्वल होगा।

**सुमेरु पर्वत चलाने से कहीं चलता नहीं।
सब दीप तो जलते ज्ञानदीप जलता नहीं॥
हम खोजते रहे अनादि से पर मिला नहीं।
सबका पता तो मिलता स्वयं का पता मिलता नहीं॥**

ऐसा कोई प्राणी नहीं जिसके जीवन में कोई घटना नहीं घटती हो। घटना तो प्रतिपल घट रही है, प्रत्येक प्राणी घटनाओं से प्रभावित भी होता है। कभी कई-कई घटनायें घटती हैं, तब कहीं जाकर एक प्राणी को प्रभावित कर पाती है जबकि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही घटना बहुतों को प्रभावित करती है। प्रभाव भी अलग-अलग होते हैं। प्रत्येक घटना देश, काल, परिस्थिति, निमित्त और उपादान से बंधी रहती है। उसी घटना का प्रभाव एक प्राणी पर कुछ तो दूसरे प्राणियों पर कुछ और होता है।

आकाश से जल गिरना भी एक घटना है। जब जल तेज गिरता है तो नदी, नाले, तालाब और बाँध आदि जलाशय पूरी तरह भर जाते हैं जिससे प्राणियों की प्यास और फसल की आश पूरी होती है। किन्तु वही जल जब नदी-नालों में उफनता हुआ बाढ़ का रूप ग्रहण करता है तब उस बाढ़ के प्रकोप से सैकड़ों घर गिर जाते हैं, हजारों पशु बह जाते हैं, अनगिनत मनुष्य जल समाधि में चले जाते हैं। चट्टानें गिरती हैं, रास्ते चूर-चूर हो जाते हैं, फसलें तबाह हो जाती हैं जबकि वर्षा के जल की ही बूँद जो सीप में गिरती है वह मोती बन जाती है। बतलाओ वर्षा का बरसता जल तो वही है मगर प्रभाव कितने अलग-अलग हैं। एक क्षेत्र में खुशहाली है तो दूसरे क्षेत्र में बदहाली है। एक समय खुशहाली का रहता है तो अगला समय बदहाली का रूप धारण कर लेता है। यही वर्षा जिस वर्ष जहाँ होती है वहाँ पर तो खुशहाली रहती है जबकि वर्षा का अभाव

जहाँ जिस स्थान पर, जिस वर्ष रहता है वहाँ भूखमरी, मँहगाई, छीना-झपटी, चोरी, डकैती, व्यभिचार जैसे अनैतिक पाप कार्यों की बाढ़ आ जाती है। यही तो है एक ही घटना का अलग-अलग प्रभाव।

जल क्या हम सूर्य की रोशनी को ही ले लें। जहाँ सूर्य की रोशनी आती है वहाँ चाहे मनुष्य हो या पशु अथवा वनस्पति सभी खुशियों से लहलहा उठते हैं। वही सूर्य की रोशनी के अभाव में मनुष्य भले रात्रि में खा ले, पशु भी सुरक्षित स्थानों पर सुबह तक के लिये छिप जाते हैं तो वनस्पति भी सो जाती है तथा उसके द्वारा अपने ही लिये भोजन सामग्री की क्रिया प्रकाश संश्लेषण (फोटो सिन्थेसिस) बन्द रहती है। सूर्य के प्रकाश में भोजन जितनी अच्छी तरह पचता है सूर्य की रोशनी के अभाव में उतनी अच्छी तरह नहीं पचता। किन्तु सूर्य की यही रोशनी सावन, भादो और क्वार के महीनों में असह्य हो जाती है। यही नहीं, सूर्य की रोशनी उत्कर्ष ग्रीष्मकाल में ताप के रूप में जब आता है तब भी सूर्य की यह तीव्रतम ऊष्मा भले मनुष्य, पशु-पक्षी न सहन कर सकें; परन्तु खेत में बिखरे विषैले कीटाणुओं को भी यही सूर्य की ऊष्मा समाप्त करती है तथा फसलों की खरपतवार को नष्ट करती है तो प्राणियों में रोग से लड़ने की क्षमता (एन्टीबायोटिक पावर) की प्राप्ति में भी सूर्य की रोशनी सहायक है। अब बताओ, सूर्य की रोशनी प्रतिदिन आकर दिन-रात्रि बनाती है और वही एक रोशनी अपनी चमक और तेजी का अलग-अलग प्रभाव दिखाती है।

घटनायें सिर्फ प्राकृतिक ही नहीं होती जिनका हम सभी के जीवन पर प्रभाव पड़ता है बल्कि दैनिक जीवन में भी प्रतिपल हम सभी के साथ कोई-न-कोई घटना घटती रहती है। प्रत्येक घटना अपना निश्चित प्रभाव भी छोड़ती है। अब यह बात अलग है कि किस पर किस घटना का कितना प्रभाव किस प्रकार पड़ता है? वही घटनायें जो तीर्थंकर और त्रेशठ शलाका पुरुषों के साथ घटी थी अपना ही रूप बदलकर, एकदम नये रूप में एवं नये परिवेश में, नयी परिस्थितियों को लिये हमारे साथ भी घटती हैं। अब यह अलग बात है कि प्रत्येक घटना से हम क्या ग्रहण करते हैं और क्या छोड़ते हैं?

कभी-कभी घटनायें ऐसी भी घटती हैं जो दिखने में साधारण होती हैं; किन्तु वही साधारण सी लगने वाली घटना भी कभी-कभी असाधारण प्रभाव छोड़ जाती है। हम सभी अपने-अपने घर से प्रतिदिन नियमित रूप से झाड़कर कूड़ा-करकट बाहर फेंक देते हैं; क्योंकि देखने में हमारी नजर में उसकी कोई कीमत नहीं होती। वही निर्मूल्य कूड़ा भी अपने अन्दर पुट्टा बनने एवं विद्युत बनने की क्षमता रखता है। आपसे कहा जाए जो विश्व में अनुपयोगी वस्तु हो वह लेकर आइये तो आप धूल-कचरा लेकर आयेंगे; किन्तु वह कचरा खाद बनकर अधिक फसल पैदा करता है। अनुपयोगी कुछ है तो मानव का तन और उसमें बैठी कषाय जिसका कोई उपयोग नहीं। इसी तरह साधारण से साधारण लगने वाली घटना भी अपने अन्दर कोई न कोई रहस्य छुपाये रखती है। ज्ञान की स्थिति कमजोर होने के कारण हम उसकी क्षमता की न तो पहचान कर पाते हैं और पहचान के अभाव में उसका कोई महत्त्व नहीं समझते। इसीलिये अपने लाभ की

घटना को तो महत्त्व देते हैं, शेष घटनाओं को उपेक्षित कर मुँह मोड़ लेते हैं। यही भूल हमें जीवन पथ पर लगातार भटकाती रहती है। अच्छा हो जो हम प्रत्येक घटना को समझें तथा उसमें छिपे रहस्य को जानकर अपने दैनिक हित से अधिक आध्यात्मिक हित में उपयोग करें।

मेरे जीवन में घटी कुछ घटनाओं से तो आप परिचित हो चुके हैं। अब मैं आपको अपने ही जीवन में घटित अन्य घटनाओं को उद्घाटित कर रहा हूँ जो प्रथम दृष्टि में एकदम साधारण लगती हैं; किन्तु प्रत्येक घटना ने मेरे अन्दर अपनी छाप छोड़ी है। प्रत्येक घटना के आलोक में मेरा जीवन निरन्तर आगे बढ़ता रहा है। उसी अल्प आलोक का मध्यम प्रकाश अपने प्रभाव से आपको कितना प्रभावित करता है और आपके मंगलमय कल्याण के पथ की राह कितनी आसान करता है यह मेरे नहीं, स्वयं आप पर निर्भर है।

हाँ, हाँ घटना का लाभ उठाना आप ही पर निर्भर है। कोई भी घटना घटती तो अवश्य है; किन्तु वह स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं होती। घटना में घटित होता है आप का पुण्य, आपका पाप। अपने आप घटती घटना भी अपने आप पाप या पुण्य को प्रगट कर देती है। किसी बस की दुर्घटना हो जाये, बस में सवार साठ सवारियों में पाँच को छोड़कर पचपन मौत के मुँह में समा जाये। इसका अर्थ लगायेंगे आप? घटना तो घटी, बस दुर्घटनाग्रस्त हुई, सवारियों की मृत्यु भी हुई। हाँ, समस्त यात्री नहीं मरे अपितु जिनका पुण्य का उदय था वह मृत्यु के मुँह में पहुँचकर भी जीवित रहे। जिनका पाप का उदय तीव्र था वह उनके जीवन की अन्तिम घटना बनकर रह गई।

स्वाभाविक जिज्ञासा उठती है कि सवारियाँ चेतन थी, उनके पूर्वकृत कर्मों का उदयकाल था, वैसा ही परिगमन उनके साथ हुआ; परन्तु स्वयं बस तो अचेतन थी, क्या उसका भी पुण्य-पाप था? क्या बस ने भी पूर्व में कोई खोटे कार्य किये थे जो दुर्घटना में चकनाचूर हो गयीं? या फिर अचेतन भी हमारे कृत कार्यों का दोषी होता है और हमारे साथ ही सजा या सरोकार प्राप्त करता है?

पुद्गल का तो कार्य ही जीव के साथ बँधना और बिछुड़ना है। किन्तु पुद्गल अचेतन है, ज्ञान रहित द्रव्य है जिसे जीव की ज्ञान चेतना की तरह सुख या दुःख का कोई अनुभव नहीं होता। न जीव के साथ संयोग का सुख और न ही जीव से वियोग का दुःख। जीव की तरह पुद्गल न तो कर्ता है न ही उसमें कर्तव्य, कर्म या कर्मफल की भावना होती है। जो कुछ भी होता है पुद्गल उसमें निमित्त मात्र है। यदि उपादान भी होता है तब भी पुद्गल को न तो अपने टुकड़े-टुकड़े होने का अहसास होता है और न ही छोटे-छोटे टुकड़ों से मिलकर पिण्ड एवं महापिण्ड होने का अहसास। इसीलिये पुद्गल न तो सजा का पात्र होता है और न ही पुरस्कार का।

यद्यपि स्वयं पुद्गल के द्वारा घटित घटनाओं से जीव और जीवन दोनों ही प्रभावित होते हैं। बिजली चमकती है जिससे रोशनी फैलती है एवं ऊष्मापिंड निकलता है; किन्तु स्वयं बिजली को न तो स्वयं अपनी

ही रोशनी या चमक से प्रयोजन है। चमकने के साथ-साथ विद्युत की अग्नि किसी को भी झुलसा सकती है; किन्तु स्वयं अग्नि तो स्वयं को झुलसा नहीं सकती। विद्युत का चमकना स्वभाव है, विद्युत का दाहकता प्रदान करना भी स्वभाव है फिर भी विद्युत को अपनी ही चमक, अपनी ही दाहकता का अहसास नहीं होता। अहसास तो सदैव चेतना, ज्ञानसहित जीव को ही संभव है, पुद्गल को नहीं। इसीलिये तो किसी भी घटना में जब जीव निमित्त होता है तब पुद्गल उपादान होते हुये भी उपादान नहीं कहलाती। जैसे मिट्टी से बना घड़ा मिट्टी से बनता है, मिट्टी नहीं हो तब घड़ा बनाया नहीं जा सकता। फिर भी घड़ा स्वयं घड़ा बनाने वाला नहीं कहलाता। घड़ा तो मात्र बनने तक सिमट जाता है तथा बनाने वाला कुम्हार कहलाता है।

घड़ा मिट्टी से बनता है, मिट्टी ही घड़ा बनने में उपादान कारण है। कुम्हार और कुम्हार का चाक तो मात्र निमित्त ही हैं। इसी प्रकार इस मनुष्य पर्याय में हमें लाने वाला हमारा जीव है; किन्तु जीव को कहाँ माना जाता है मनुष्य पर्याय में लाने वाला। जीव तो जीव रह जाता है, पुद्गल कर्मों को ही जीव को मनुष्य पर्याय में लाने वाला कहा जाता है। पर्याय चाहे मनुष्य गति की हो, तिर्यच गति की हो, देवगति की हो या नरक गति की। पर्याय में पहुँचाने वाला कर्म कहा जाता है जबकि सत्य या वास्तविकता ऐसी नहीं है। जीव के अन्दर राग-द्वेष रूप विभाव परिणाम न आये तब जीव का कर्मों से बन्ध भी नहीं होगा, कर्मों का बन्ध नहीं होगा तो कर्मफल भी प्राप्त नहीं होगा। किन्तु ऐसा हो कहाँ पाता है? भावों का राग-रूप आस्रव और कर्मरूप बन्ध तथा कर्मों का संवर, कर्मों की निर्जरा का चक्र घटना की तरह घटित होता रहता है।

(2) पूर्व जन्म के संस्कार-

हमने कभी सोचा कि हमें अचानक किसी पर क्रोध तो किसी पर प्यार क्यों आता है? क्यों हमें किसी से झूठ बोलने में संकोच भी नहीं होता तो किसी से सत्य पलभर छुपा नहीं पाते। यह भाव हमारे आवश्यक नहीं कि किसी भी परिचित के ही साथ हो, किसी भी अपरिचित के साथ भी हमारे यह भाव घटित हो सकते हैं। अच्छे भाव जब हमारे अन्दर दूसरे के प्रति पैदा होते हैं तब घटना भी जो घटती है उसका फल अच्छा ही होता है तथा जब हमारे अन्दर दूसरे के प्रति भावों में कठोरता, कषैलापन निर्ममता हो तो बात भी करने पर कोई भी अप्रिय घटना घटित हो जाती है।

अच्छे भाव हों तो बिगड़ी बात भी अच्छी घट जाती है, कार्य असफल होते-होते सफल हो जाता है। यदि मन में भाव बुरे हों तो बनी बनायी बात बिगड़ जाती है। हम चाहते कुछ हैं, हो कुछ और जाता है। घटना हमारे अनुकूल होते-होते प्रतिकूल घटित हो जाती है।

बालक ने कब चाहा कि बचपन में लोग मुझे गोद में बैठाकर प्यार करें, पुचकारें। किन्तु पूर्वभव का पुण्य ही ऐसा था कि घटना स्वयमेव घट रही थी। जो कोई भी गाँव में देखता बड़े ही प्यार और ममता से उठाता, अपनी गोदी में बिठाता एवं काफी देर तक तरह-तरह से खिलाता ही रहता। इस सबका सीधा सा

अर्थ था कि वर्तमान का जो भी परिचित था वह तो स्नेह करता ही था, पूर्वभव में भी स्नेह रखने वाले इस जन्म में स्नेह कर रहे थे। हाँ, इतना अवश्य है कि न तो उन्हें पूर्व जन्म का कोई ज्ञान था और न ही मुझे, फिर भी हमारे मध्य पनपता स्नेह इस बात का पर्याप्त प्रमाण था कि पूर्व जन्म का स्नेह स्वयं प्रगट हो जाता है, भले रिश्ता कुछ भी रहे।

पूर्व जन्म के संस्कार मात्र स्नेह या नफरत अथवा अनुराग या वितृष्णा के रूप में ही प्रगट नहीं होते। कायरता, बहादुरी, साहस, भय आदि के गुण भी अपना प्रभाव दिखला देते हैं जिससे पता चलता है कि पिछले जन्म में मेरे अन्दर किस तरह के गुण मौजूद थे। मुझे लगता है कि मैं भी पूर्व जन्म में निडर एवं साहसी था तथा मात्र अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप वस्तु प्राप्त करके संतुष्ट हो जाने वाला प्राणी था। आवश्यकता से अधिक अथवा अपनी चाहत के अनुरूप वस्तु न मिलने पर वस्तु लेने से ही इंकार कर देता था। ऐसा ही हुआ था बचपन में। एक पुलिस अधिकारी सिपाहियों को साथ लिये मेरे गाँव आया। गाँव में बुजुर्गों एवं सभी सम्मानित नागरिकों के साथ बैठकर गाँव की सुरक्षा व्यवस्था का जायजा लेने लगा तथा गाँव में होने वाले अपराधों तथा अपराधियों के बारे में गहन जानकारी उपलब्ध करने लगा। अचानक मैं खेलता-कूदता एवं हँसता हुआ सीधा पुलिस ऑफिसर के समक्ष पहुँच गया। पुलिस ऑफिसर ने भी मुझे बजाय फटकार लगाने या भगाने के मुझे अपने ही हाथों से उठाया और गोद में बैठा लिया। इस पर मैं खिलखिलाकर हँसने लगा तब बहुत ही दुलार से पुलिस अधिकारी बोला-कितना निर्भीक है यह बालक? अवश्य आगे चलकर महान् व्यक्ति बनेगा।

पुलिस अधिकारी ने उसी समय एक पाँच रुपये का नोट निकाला और मुझे दिया; किन्तु मैंने नोट वापिस कर दिया तथा कह भी दिया कि मुझे क्या करना इतने पैसे का? मुझे तो सिर्फ टॉफी (खाने वाली मीठी गोली) ही चाहिये वह भी मात्र एक। तब मेरा अपरिग्रही भाव देखकर पुलिस अधिकारी एक तरफ तो मेरे साहस एवं सच्चाई की तारीफ करने लगा। वहीं दूसरी तरफ जब उसने जेब में हाथ डाला तब सकपकाकर कहने लगा कि बच्चे आज तो तूने मेरी नाक कटा दी। कोई क्या कहेगा कि इतना बड़ा पुलिस का ऑफिसर और जेब खाली, चवन्नी तक नहीं। पुलिस अधिकारी ने बात ही कुछ इस तरह कही कि वहाँ उपस्थित कोई भी व्यक्ति अपनी हँसी नहीं रोक सका। मगर मेरे चेहरे पर अभी भी दृढ़ता के भाव थे तथा मैं वहाँ से तभी हटा जब पुलिस अधिकारी ने दूसरे से माँगकर मुझे चवन्नी दी।

यहाँ पर सवाल मात्र चवन्नी का नहीं था और न ही चवन्नी से इतने बड़े पुलिस अधिकारी की प्रतिष्ठा ही बन बिगड़ रही थी। मैं चाहता तो पूरा पाँच का नोट रख लेता अथवा उससे अधिक माँग लेता, मगर मैं कैसे ऐसा कर सकता था? पूर्वभव के संस्कार, जो मेरे अन्दर थे वही तो उदय में आ रहे थे। संस्कार भी इतने अडिग और अटूट कि जमाने की लालच भी उन्हें नहीं चला पायी। मिठाई भी एक से बढ़कर एक स्वादिष्ट एवं मीठी मनचाही मिल सकती थी; किन्तु नहीं, चाहत ही थी मात्र एक टॉफी की। वही पूरी हुयी

कि क्या मतलब अधिकारी से और क्या मतलब अन्य सामग्री से। यही घटना तो हमें हमारा मार्ग बतलाती है कि अपनी आवश्यकतायें सीमित रखो तथा अनावश्यक वस्तु मिले भी तब भी उसे सहर्ष अस्वीकार कर दो।

(3) विश्वास की जननी शिक्षा-

आपने देखा होगा कि कई बार माँ-बाप को अपने बच्चों के मानसिक विकास हेतु कितना कठोर श्रम करना पड़ता है। बच्चे अक्सर पढ़ाई से दूर भागते हैं; क्योंकि बच्चों का मन पढ़ने से अधिक खेलने में लगता है। कई बार तो बच्चे जाते तो विद्यालय हैं मगर विद्यालय पहुँचते नहीं। हाँ, जब घर वापिस आते हैं तब यही कहते हैं कि विद्यालय से वापिस आये हैं। जब बच्चों का परीक्षा परिणाम अनुत्तीर्ण में आता है तब पता चलता है कि बच्चा विद्यालय जाता था या विद्यालय के नाम पर मटरगस्ती करता था। मैं अर्थात् रमेश कहाँ मटरगस्ती करता? रमेश को लगन ही पढ़ाई की इतनी थी कि माता-पिता को जरा भी परेशानी रमेश को विद्यालय भेजने में नहीं आयी। मार-पीट या डाँटना-फटकारना तो दूर कभी जोर से भी नहीं कहना पड़ा।

रमेश के अन्दर पढ़ाई के प्रति सिर्फ रुचि ही नहीं थी। रमेश तो बुद्धि से भी प्रखर और मेधावी छात्र था। अध्यापक प्रश्न पूछते तो बताने वालों में सबसे पहला हाथ ही रमेश का उठता। कभी-कभी तो पूरी कक्षा में प्रश्न का उत्तर देने के लिये हाथ ही मात्र रमेश का उठता था। यही प्रखरता देख मात्र 3 वर्ष की वय में ही रमेश को कक्षा 1 के विद्यार्थी बनने का गौरव मिला। पढ़ाई शुरू हुयी तो कभी न पलायन किया न ही पलटकर देखा। गणित और भूगोल को कठिन विषय मानने वाले विद्यार्थी भी रमेश के पास आकर अपने प्रश्नों को हल करते। रमेश को भी सहपाठियों का सहयोग करने में बहुत आनन्द आता।

भूल सिर्फ विद्यार्थियों से ही नहीं होती, विद्यार्थियों को पढ़ाने वाले अध्यापक भी भूल कर जाते हैं; किन्तु अध्यापक को उनकी भूल का अहसास कौन कराये? हमारे यहाँ तो परम्परा है कि शिष्य गुरु में कमी नहीं देखते, गुरु द्वारा प्रदत्त शिक्षा को अनुग्रहण करते हैं। गुरु ही शिष्य में भरी कमियों को खोजकर कभी उपदेश देकर, कभी डाँटकर और अधिक आवश्यक हुआ तो थोड़ा मारकर भी शिष्य की कमी को दूर करने का प्रयास करते हैं। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि भूल विद्यार्थी की नहीं स्वयं अध्यापक की होती है तब ऐसी स्थिति में बालक अर्थात् विद्यार्थी में इतना साहस नहीं होता कि वह अध्यापक को उसकी भूल का अहसास करा दे। साहस भी कहाँ से आये, आत्मविश्वास हो तब तो साहस आये।

**इंसान को अपनी गलती का आभास होना चाहिए।
इंसान के द्वारा गलती सुधार का प्रयास होना चाहिए।।
हर इंसान के अन्दर यह क्षमता नहीं है प्यारे भाई !
गलती सुधारने के लिए अन्तर में विश्वास होना चाहिए।।**

बालक रमेश ऐसे विद्यार्थी थे जो आत्मविश्वास से पूर्ण थे। स्वयं पर इतना विश्वास था कि अपनी सच्चाई को साबित करने के लिये अड़ जाते थे। वही हुआ भी, एक बार एक विद्यार्थी ने शरारत की तथा अध्यापक के पूछने पर रमेश का नाम ले दिया। अध्यापक ने भी आव देखा न ताव और रमेश को बतौर सजा गाल पर चाँटे जड़ दिये। रमेश को गुरु के द्वारा सजा के रूप में चाँटा (हाथ) मारने का उतना दुःख नहीं हुआ जितना बगैर शरारत किये दूसरे की शरारत पर दूसरे के झूठ कहने पर अध्यापक द्वारा रमेश को शरारती स्वीकार कर लेने का हुआ। रमेश की आत्मा यह असत्य स्वीकार नहीं कर सकी। आगे भी दूसरों की, की हुई शरारत पर इस तरह तो मुझे हर बार दण्डित किया जाएगा तथा मेरा ही नहीं, मेरा माँ-पिताजी का भी नाम मेरे कारण बदनाम हो जायगा। यही सोचकर रमेश अड़ गये कि प्रधानाचार्य जब तक स्वयं आकर इस समस्या का निदान नहीं करते मैं बैटूँगा नहीं, न ही अपने स्थान से हटूँगा। अन्त में प्रधानाचार्य आये तथा उनकी सख्ती पर शरारती लड़के ने तो अपनी भूल स्वीकार की ही स्वयं अध्यापक को भी अपनी भूल स्वीकार कर माफी माँगनी पड़ी। किन्तु बालक रमेश ने अध्यापक से कहा-आप तो मेरे पूज्य गुरु हैं, मुझे आपसे माफी की आवश्यकता नहीं, आपके दिमाग से मेरे प्रति यह गलत धारणा तो हटी कि मैं शरारती हूँ। मेरे लिये यही काफी है। इतना कहकर रमेश ने गुरु के पैर छू लिये तथा अपने कृत्य से उनके मन में आये परिणामों के लिये खेद प्रगट किया। तब अध्यापक ने खुशी से रमेश को अपने हृदय से लगा लिया था। प्रधानाचार्य के साथ-साथ समस्त अध्यापक (जो इस घटना की चर्चा सुनकर वहाँ एकत्र हो गये थे) एवं सभी विद्यार्थी भी रमेश के आत्मविश्वास एवं साहस की तारीफ करने लगे।

(4) करनी बिन कथनी-

अक्सर कहा जाता है कि अपनों की कही बात का बुरा नहीं माना जाता और सचमुच देखा जाय तो हम जिसकी बात का बुरा मान जायें उससे अपनापन कैसा? अपनापन का भाव इतना बड़ा और विशाल होता है कि उसमें बुराई की गुँजाइश ही नहीं रहती। अपनों के कहे का बुरा लगा तब समझ लो अपनेपन में कमी आ गयी; परन्तु कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि जिसने हमसे कहा उसे हम न तो जवाब दे सकते हैं और न ही उसका सम्मान कम कर सकते हैं। परन्तु उसके सम्मान और अपनेपन के बावजूद उसकी कही गयी बात में अपनेपन की कमी महसूस करते हैं। महसूस होते ही वह कमी हमें इतनी सालती है कि हम कुछ ऐसा कर गुजरते हैं कि मुँह से कुछ न कहना पड़े और हमारी बात भी कहने वाले की समझ में आ जाय।

यही हुआ था रमेश के साथ और रमेश ने भी ऐसा ही कदम उठाया था कि बिना कहे सबकी समझ में रमेश की बात आ गयी। दीपावली का अवसर था। बाजार में आतिशबाजी से दुकानें सजी हुयी थी। दुकान पर रमेश तो थे नहीं, छोटा भाई पुष्पेन्द्र सवेरे से पहुँच गया। दुकान पर पहुँचकर बजाय दुकान पर मदद करने के स्वयं ही एक-एक करके पुष्पेन्द्र ने पटाखें फोड़ना शुरू कर दिया। रमेश जब दुकान पर पहुँचे तो

यह देखकर हैरान रह गये कि एक पैसे की बिक्री नहीं हुयी और पुष्पेन्द्र ने खर्च शुरू कर दिया। रमेश ने प्यार से दो बार पुष्पेन्द्र को मना किया। फिर भी पुष्पेन्द्र ने पटाखा फोड़ा। तब रमेश ने डाँट दिया; किन्तु पुष्पेन्द्र पर डाँट का कोई असर नहीं हुआ और उसने फिर से पटाखा फोड़ दिया। रमेश को भी गुस्सा आ गया और तीन-चार चाँटें पुष्पेन्द्र को लगा दिये। पुष्पेन्द्र रोते-रोते घर पहुँचा और माँ से रमेश की शिकायत इस तरह की कि माँ भी गुस्से से भर उठी। जैसे ही रमेश घर पहुँचे, माँ ने पहुँचते ही मारने का कारण पूछा। रमेश ने कहा-माँ, मैंने पुष्पेन्द्र को बहुत मना किया, प्यार से कहा, डाँटा फिर भी नहीं माना तब मजबूरी में चाँटा मारा कि बोनी तो हुयी नहीं, खर्च शुरू कर दिया।

रमेश की सफाई पर माँ का क्रोध शांत न होकर और भड़क गया। क्रोध की ही अधिकता में वह बड़बड़ाने लगी कि **“वह हमारा खाता है, तुम्हारा नहीं खाता, जब तुम कमाने लगे और तुम्हारी कमाई वह खाने लगे तब मारना। अभी भूलकर भी हाथ मत लगाना। जाओ, हमारे घर से निकल जाओ।”**

रमेश भी नजर नीची करके माँ की बात सुनता रहा। मुँह से तो कुछ नहीं कहा, मगर मन में माँ के कहे शब्द **“वह हमारा खाता है तुम्हारा नहीं”** हथौड़े से भी अधिक घन की भाँति प्रहार कर रहे थे। रमेश बहुत कोशिश करता, मगर वह शब्द किसी भी तरह गले नहीं उतर रहे थे। यही सोचता-विचारता अपनी ही धुन में मगन रमेश वहाँ से चला तथा घर से बाहर निकल आया। किन्तु आज तो रमेश के कदम खुद-ब-खुद उठ रहे थे, स्वयं रमेश भी नहीं जानता था कि वह कहाँ जा रहा है। मन में उथल-पुथल मची थी। बार-बार एक ही विचार आता कि क्या माँ, मुझसे ऐसा कह सकती है? क्या मेरा भाई पर कोई अधिकार नहीं? क्या मैं छोटे भाई को डाँट-फटकार नहीं सकता या उसके एवं घर की भलाई के लिये मार नहीं सकता? फिर माँ ने यह भी नहीं सोचा कि मैं भी भाई का दुश्मन नहीं, मुझे भी पुष्पेन्द्र से उतना ही प्यार है जितना सभी को। तब फिर मेरे थोड़ा सा मारने पर इतना बुरा क्यों लगा माँ को? माँ एवं पिताजी आदि भी तो कभी-कभी गुस्से में मुझे या भाई को मार देते हैं; लेकिन मैं तो कभी भी इस तरह के भाव मन में नहीं लाता। फिर माँ के मन में मेरे प्रति अचानक ऐसे भाव क्यों उभरे? क्या मुझसे वास्तव में कोई भूल हुयी या दुनिया का दस्तूर ही ऐसा है कि जब चाहो जिससे जैसा चाहे बोल दो। इतना भी नहीं सोचा कि उनकी बात को सुनकर मुझे कैसा लगेगा? क्या पुष्पेन्द्र मुझसे प्यारा है माँ को अथवा माँ के मन में भी हम भाइयों के प्रति किसी से कम, किसी से अधिक प्रेम की भावना घर कर गयी है?

अगर सचमुच ऐसा ही है तब तो मेरा घर में रहना ही व्यर्थ है। यह सोचता हुआ अपनी ही उधेड़बुन में रमेश अपने गाँव से कुछ दूर निकल गया। मन में भी निश्चय कर लिया कि अभी वापिस घर नहीं जाना है। माँ ने ऐसा कहा तो कहा क्यों? बस बालक रमेश ऐसे रास्ते से चल दिये जिससे घर वाले भी आसानी से

खोज नहीं सके। चलते-चलते एक ही दिन में धनतेरस के दिन लगभग 30 किलोमीटर चलकर गाँव सटई आ गये। सटई में बाजार में घूम रहे थे कि बड़े पापा (पिता के बड़े भाई) का दोहता एवं उसका मित्र भी जो कि बाजार होकर ही जा रहे थे, उन्होंने रमेश को देखा और पहचान लिया। रमेश के बिखरे बाल, दिशाहीन चाल तथा उड़ी-उड़ी सूरत को देखकर ही समझ गये कि जरूर कुछ गड़बड़ है। उसने घर चलने के लिए कहा; किन्तु रमेश ने कुछ उत्तर नहीं दिया तो मित्र के द्वारा माँ को बुला लिया। माँ समझाकर घर ले गई तथा स्नान करने को कहा। बाद में भोजन कराया और यह कहकर रोक लिया कि दीपावली की दूज के पहले कहीं जाया नहीं जाता।

बड़े पापा की बेटा दीदी के घर रमेश को सभी ने बड़ा स्नेह और बड़ा सम्मान दिया। रमेश का दुःख भी उस प्यार भरे अपनेपन से हल्का हो गया तथा बड़े पापा के कहने पर भैयादोज तक सटई में ही रुके रहे। एक दिन दीदी ने अवसर अनुकूल देखा एवं रमेश को बड़े प्यार से अपने पास बैठाया तथा धीरे-धीरे रमेश के मन का सारा दर्द जान लिया। दीदी ने रमेश से बड़ा ही सहज प्रश्न किया “भैया, मैं कभी तुम्हें डाट दूँ तो क्या तुम मेरे लिये पराये हो जाओगे? या फिर मैं तुम्हें तुम्हारी गलती सुधारने के लिये तुमसे सख्ती से पेश आऊँ तब क्या तुम मुझे पराया मानने लगोगे? या फिर तुम्हारी नजर में तुम्हारा कोई दोष नहीं हो फिर भी मैं तुम्हें इसलिये भला-बुरा कह दूँ; क्योंकि मेरी नजर में तुम्हारा दोष हो, बोलो-भैया, क्या तुम्हारे पास मेरे इन प्रश्नों का उत्तर है?”

रमेश एकदम अवाक् रह गया, पूरी तरह निरुत्तर हो गया अब उसे माँ के स्थान पर खुद की भूल नजर आने लगी। मगर न तो उस भूल को खोज पा रहा था और न ही उसके पास इतना साहस ही बचा था कि वह दीदी से पूछ सके कि आखिर उसका दोष क्या था? किन्तु रमेश की दुविधा दीदी से छुपी नहीं रह सकी तथा उन्होंने रमेश के सिर पर अपने कोमल हाथ का स्पर्श करते हुये कहा कि भैया, अपनेपन और ममता तथा स्नेह का निर्णय कभी भी बातों के धरातल पर नहीं होता। बातें तो अच्छी भी होती हैं बुरी भी; परन्तु अपनापन, ममता और स्नेह कभी भी बुरे नहीं होते, सदैव अच्छे ही होते हैं, भेदभाव रहित होते हैं। परिस्थितिवश किया गया क्रोध या क्रोध से भरे वचन भी उस अपनेपन, ममता और स्नेह को किंचित कम नहीं कर सकते।

**जिनसे मन मिलता है उनकी ही मनहार करते हैं लोग।
जो अपने हैं उनका ही उपकार करते हैं लोग।।
जो देते हैं स्नेह वात्सल्य उनसे ही व्यवहार करते हैं लोग।
अपनों की पहिचान हर कोई नहीं कर पाता है।।**

विश्वास न हो तो ममता की मारी उसी अपनी माँ की दयनीय हालत देखो, जो तुम्हारे विरह में बुरी

तरह तड़प रही है तथा बार-बार तेरे घर से जाने का दोष पुष्पेन्द्र का मानकर उसे कोस रही है। दीदी की तर्कभरी एवं भावभरी बातों ने रमेश की आँखें खोल दी। मन का मैल पूरी तरह धुल गया तथा अपनेपन और ममता के मध्य आयी भेदभाव की दीवार ढहकर गिर गयी। अगले ही दिन बड़े भैया केवलचन्द के साथ रमेश वापिस घर लौट गये।

(5) संयम साहस का संगम-

कक्षा दसवीं में पढ़ाई के दौरान जब-जब कोई कठिन प्रश्न अध्यापक पूछते रमेश के सिवाय कोई दूसरा हाथ ही किसी विद्यार्थी का नहीं उठता। धीरे-धीरे पूरे विद्यालय में क्या अध्यापक क्या शिष्य रमेश की होशियारी एवं काबलियत की तारीफ सभी के दिल और दिमाग में छा गयी। अब तो मध्याह्न काल हो या अन्य खाली समय रमेश को देखते ही अपने-अपने प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की भीड़ लग जाती। सभी विद्यार्थी तो मध्याह्नकाल का लाभ उठाते खेलते खाते, मौज उड़ाते, हँसी-ठहाका लगाते वहीं विद्यार्थी रमेश अन्य विद्यार्थियों की जिज्ञासायें शांत करते रहते। कभी-कभी तो घर से लाया मध्याह्नकाल का खाना भी नहीं खा पाते तथा घर पर टिफिन (डब्बे) में खाना जहाँ का तहाँ रखा माँ देखती तथा डाँटती तब बड़े प्यार से उत्तर देते, माँ मुझे भूख नहीं लगी थी इसलिये खा नहीं सका। माँ भी भोले रमेश की चतुराई भरी बातों पर मुस्कराकर रह जाती।

अक्सर विद्यार्थियों में पढ़ाई के प्रति या तो रुचि होती है या अरुचि। जो रुचिवान विद्यार्थी होते हैं वह पढ़ाई का कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं देते जबकि पढ़ाई से अरुचि रखने वाले विद्यार्थी हर समय इसी फिराक में रहते हैं कि पढ़ाई का कोई भी मौका ही नहीं आये, हमेशा छुट्टी ही बनी रहे। इसलिये ऐसे विद्यार्थी न स्वयं पढ़ते हैं और न ही दूसरे ही विद्यार्थियों को पढ़ने देते हैं। किन्तु रमेश ऐसे विद्यार्थियों की संगति से दूर रहते थे। सदा पढ़ाई पर पूरा ध्यान लगाते तथा अध्यापक की बताई हर बात को लिखते और कण्ठस्थ कर लेते एवं दूसरे विद्यार्थियों को भी लिखकर कण्ठस्थ करने की प्रेरणा देते। कभी-कभी ऐसा भी समय आता कि विषय अपूर्ण होता और अध्यापक का अभाव होता तब समस्या गंभीर हो जाती; किन्तु बालक हिम्मत हारने वाले नहीं थे। मुश्किलों में भी रास्ता बना लेना तो रमेश की फितरत थी।

**कष्ट औरों पे जो आँ शीघ्र हरना चाहिए।
पाप न हो जाँ कोई उससे डरना चाहिए॥
इंसान का कर्त्तव्य है इंसानियत को धारना।
मुश्किलों का सामना साहस से करना चाहिए॥**

एक अंग्रेजी विषय के अध्यापक अवकाश पर गये तब अवकाश इतना लम्बा खिंचा कि अवकाश बढ़ने लगा, विषय पिछड़ने लगा। परीक्षा का समय निश्चित था जो नजदीक चला आ रहा था। विद्यार्थियों में

घबराहट छाने लगी। अंग्रेजी जैसा कठिन विषय समय रहते पूर्ण नहीं हुआ तब थोड़े समय में तो इसे समझा भी नहीं जा सकता, पूर्ण कैसे होगा? सभी चिंतित थे, सभी ने मिलकर विचार बनाया कि चलो प्राचार्य से मिलकर अपनी बात रखेंगे तथा अपनी समस्या का समाधान करायेंगे। सभी बड़े उत्साह से एक साथ चले; किन्तु प्राचार्य के कमरे के पास पहुँचकर ठिठक गये। प्राचार्य का भय ही उन पर इतना भारी था कि चाहकर भी उनके कदम आगे नहीं बढ़ रहे थे। प्राचार्य के कक्ष पर पर्दा पड़ा था जिसे देखकर ही विद्यार्थियों में कँपकँपी छूट रही थी। फिर पर्दे के पास पहुँचकर उसे हटाना तो बहुत दूर की बात थी।

एकाएक रमेश ने निसंकोच पर्दा हटाया और पैर कमरे के अन्दर रखा वहीं सारे विद्यार्थी पर्दा हटते ही इस कदर बाहर को भागे मानों कोई गलती करते हुये पकड़े गये हों। रमेश ने अपनी बात प्रार्थना-पत्र देते हुये प्राचार्य के समक्ष स्पष्ट की। तब प्राचार्य ने पूछा कि समस्या तो गंभीर है तथा सभी विद्यार्थियों की है फिर आये तुम अकेले। तब रमेश ने कहा-मैं अकेला कहाँ, मेरे साथ पूरे कक्षा के विद्यार्थी आये हैं। इसी के साथ रमेश ने पीछे मुड़कर देखा तो पैरों तले जमीन खिसक गयी। एक भी साथी वहाँ पर मौजूद नहीं था। तभी प्राचार्य ने मुस्कुराते हुये कहा-बेटा ! वैरी-वैरी थैंक्स कम से कम तुमने अपनी बात रखने का साहस तो किया। उसी दिन से स्वयं प्राचार्य ने अंग्रेजी पढ़ाना प्रारम्भ कर दी तथा तब तक पढ़ाते रहे जब तक अंग्रेजी के अध्यापक अवकाश से वापिस नहीं आ गये।

(6) सहशिक्षा या नागिन का जहर-

कभी-कभार ऐसा होता है कि लड़के-लड़कियों से बात ही नहीं कर पाते अथवा बात करते भी हैं तो धीरे। वासना का भूत उन पर सवार हो जाता है तथा अनायास ही अँधकार भरे कालिमायुक्त मार्ग पर बढ़ जाते हैं। सह-शिक्षा (को-एजुकेशन) का जितना लाभ है, हानि उससे कहीं अधिक है। साथ-साथ पढ़ने से पढ़ाई अवश्य होती है, अलग-अलग विद्यालय नहीं रखने पड़ते तथा आर्थिक रूप से भी लाभ होता है। अध्यापकों को कम मात्रा में रखने से वेतन भी कम देना पड़ता है; परन्तु हमारी सभ्यता और संस्कृति की कीमत इतनी भी सस्ती नहीं कि हमारे बच्चों को पढ़ाई में साथ-साथ रखकर सभ्यता और संस्कृति से खिलवाड़ किया जाय।

पहले भी पढ़ाई थी, लड़के एवं लड़कियों को पूर्ण शिक्षा दी जाती थी तथा पढ़ाई का ऐसा उज्ज्वल स्वरूप था कि पढ़ाई पूरे जीवन भर पग-पग पर काम आती थी। पढ़ाई में अनुशासन एवं संयम पर पूर्ण ध्यान दिया जाता था। विद्यार्थियों को पढ़ाई के साथ-साथ जीवन में आने वाले सुख एवं दुःख में भी समता भाव धारण करने में दक्ष किया जाता था तथा जीवन में आने वाले हर बुरे समय में साहस के साथ परिस्थितियों से मुकाबला करने के लिये तैयार किया जाता था। विद्यार्थियों को सुविधाभोगी एवं आलसी या अहंकारी नहीं बनने दिया जाता था बल्कि अनजाने में ही विद्यार्थियों को कठिन से कठिन परिस्थितियों से

अवगत कराया जाता था ताकि कठिन हालात को भी विद्यार्थी आसानी से पार कर सके। यदि जीवन में कभी ऐसी विषम परिस्थितियों से दो-चार होना पड़े तब घबराये नहीं।

पहले विद्यार्थियों का मूलमंत्र था “ **विद्यार्थी जीवन तपस्या का जीवन है** ”। विद्यार्थी पूर्ण श्रद्धा तथा पूरी श्रद्धा से इसी मूलमंत्र पर चलते थे तथा विद्यार्थी जीवन में विषयों के संयम तथा ब्रह्मचर्य व्रत को पूरी तरह पालन ही नहीं करते, पूरी तरह हृदय में अंगीकार भी करते थे। यही कारण था कि विद्यार्थी जीवन में सुसंस्कारित एवं सुसभ्य होकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश करते तथा अपने संस्कारों एवं शिक्षा के प्रभाव की किरणों से दिग-दिगन्त को आलोकित करते। माँ-बाप को कभी शर्म का नहीं सदा गर्व की अनुभूति का अवसर प्रदान करते। संयम और ब्रह्मचर्य को जीवन में भी इस तरह चरितार्थ करते कि स्वयं का जीवन तो सुखी होता ही दूसरे के जीवन को भी खुशियों से महका देते थे।

हर आदर्श, हर मर्यादा का पालन करते। कभी भी किसी काम को बनाने के लिये झूठ का सहारा नहीं लेते अपितु जो भी जबान से कहते उस पर अटल रहते तथा प्राण भी अपने वचन की खातिर त्यागने पड़ें तो खुशी-खुशी त्याग देते, कभी भी पीछे नहीं हटते। जीवन से ज्यादा अपनी जबान की कीमत करते थे।

यही वजह थी कि विद्यार्थी जीवन में आयी नैतिकता की डोर से पूरे जीवन भर बंधे रहते थे। नारी को वासना की मूर्ति या मनोरंजन का खिलौना नहीं, अपने ही शरीर का आधा अंग तथा अपनी गृहलक्ष्मी का सम्मान प्रदान करते। इतना ही नहीं शादी में वचन को जीवन का आधार बनाते तथा तलाक जैसी कुप्रथा का तो नाम ही नहीं था। यही वजह थी कि उस समय एकाध रावण था; किन्तु आज के जमाने की सहशिक्षा ने तो घर-घर में रावण पैदा कर दिये हैं। हर घर में सामाजिक मर्यादा तथा पुरखों की मान्यतायें तार-तार हो गयी हैं। कहा भी है-

घर-घर लंका घर-घर रावण, इतने राम कहाँ से लाएँ।

घर-घर मथुरा घर-घर कंसा, इतने घनश्याम कहाँ से पाएँ।।

सहशिक्षा का इससे बुरा दुष्प्रभाव और क्या होगा कि बिनब्याही माँ को भी सम्मान मिलने लगता है। देह-पिपासु स्वयं के इस अनैतिक कृत्य को रात्रि के अँधेरे में अंजाम देकर दिन के उजाले में सभ्यता का नाम देने की कोशिश करते हैं। जाँत-पाँत की बुराई करने वाले जाँत-पाँत की बुराई तो करते हैं; परन्तु स्वयं जाति के बन्धनों में इतनी कठोरता से बंधे होते हैं कि जाति के नाम पर राजनीति की दुकान चलाते हैं। जाति के नाम पर ठेकेदारी करके जाति के श्रेष्ठ पदों को हथिया लेते हैं; किन्तु रात्रि के अँधेरे में सुरा-सुन्दरी के नाम पर किस-किस जाति से दो-चार होते हैं कहने की जरूरत नहीं। यही समाज के वह ठेकेदार हैं जिनकी बच्ची-बच्चे दूसरी जाति में शादी करते हैं। तब ये पैसे और पद के बल पर सभी का मुँह बन्द कर देते हैं वही किसी कमजोर या गरीब के बच्चे यदि यही कृत्य करते हैं जो सारी जाति को आसमान पर उठा लेते हैं तथा उसका जाति में जीना भी दूभर कर देते हैं।

यही वह विकृत संस्कृति के लोग हैं जिन्हें सह-शिक्षा में सुधार की जरूरत महसूस नहीं होती। हो भी कैसे? यदि सह-शिक्षा में सुधार हो गया तथा बच्चों में दुष्प्रवृत्ति के स्थान पर आवश्यक अध्ययन में रुचि पैदा हो गयी तब इनकी दुकानदारी का क्या होगा? क्या होगा इनके धंधों का? चौंकिये मत! क्या आप नहीं जानते सह-शिक्षा में जब लड़कियाँ, लड़कों के करीब आती हैं तब लड़कियों की कम उम्र ही नहीं होती, सोच भी कमजोर होती है। वह पढ़ाई के विषयों में लगने के बजाय उन लड़कों की तरफ आकर्षित हो जाती हैं जो लड़के चेहरे से तो बहुत मासूम लगते हैं मगर अन्दर से उतने ही मक्कार होते हैं। अपनी चिकनी-चुपड़ी बातों में भोली-भाली बच्चियों को फुसलाते हैं, थोड़ा खर्चकर उन पर अपना प्रभाव जमाते हैं तथा जब वह बच्ची उनसे पूरी तरह प्रभावित हो जाती हैं तब उसके शरीर से खेलना प्रारम्भ कर देते हैं। मूर्ख और लालची लड़कियाँ तो इनके जाल में सहज आ जाती हैं तथा अपने जीवन के अनमोल मोती की चमक विकृत कर देती हैं। कम आमदनी के कारण बढ़ते खर्च की जरूरत की पूर्ति करने वाली बच्चियाँ भी बहुत बचने पर भी कभी न कभी समाज के इन भूखे भेड़ियों की वासना की शिकार हो ही जाती हैं।

बात यहीं तक रहती तब भी कुछ शेष रह जाता। अब तो पैसे की चकाचौंध में पता ही नहीं पड़ता कि लड़कियों में कोई सीता, कोई सावित्री, कोई मैना सुन्दरी हैं या नहीं। अमीरों के पास कॉलेज भेजने के लिये बच्चों के ऊपर खर्च करने के लिये धन तो बहुत है, मगर उनके धन से बच्चे विकसित हो रहे हैं या बर्बाद, यह जानने का अवसर नहीं। मध्यमार्गी एवं अल्प वेतनभोगी भी अमीरों से पीछे नहीं रहना चाहते, आमदनी से अधिक खर्च पढ़ाई पर करते हैं तथा कर्जदारों के चक्कर में तो पिसते ही हैं। बच्चों का चक्कर किसके साथ चल रहा है यह जानने की उन्हें फुर्सत ही नहीं मिलती। रहा आर्थिक स्थिति से विपन्न और टूटा हुआ कमजोर वर्ग तो इसकी तो दोनों तरफ मौत है, इधर गिरे तो कुआँ उधर गिरे तो खाई।

क्या करें, क्या न करें। शक्ति से अधिक बोझ उठाता है तब भी मुश्किल और यदि बच्चों की पढ़ाई उच्च स्तर की न कराये तो स्वयं बच्चों के भविष्य की चिंता साथ ही दूसरों के तानों का डर। किसी तरह कॉलेज भेजा सहशिक्षा में दूसरे से आँखें चार हुयी और समझलो पढ़ाई तो चौपट हुयी साथ में जीने-मरने के वादों का जंजाल जुड़ गया।

क्या यही है सहशिक्षा? सचमुच यदि यही है सहशिक्षा तो भगवान बचाये इस नागिन के जहर से। किन्तु आवश्यक नहीं कि सहशिक्षा प्राप्त करने वाले सभी बच्चे, सभी विद्यार्थी चारित्रिक रूप से कमजोर ही होते हैं अथवा धन की लालच सभी को प्रभावित करती ही हो अथवा आर्थिक अभाव में सभी इतने कमजोर हो जाते हों कि अपने स्थापित मूल्यों, अपने पूर्वजों की मान्य परम्पराओं को ही टुकरा देते हों। ऐसे भी मजबूत विद्यार्थी मिल जाते हैं जो शारीरिक मजबूरी से मजबूती से लड़ते हैं तथा वासना को अपने ऊपर किंचित भी चढ़ने नहीं देते। साथ-साथ कितनी भी पढ़ाई करना पड़े अथवा साथ-साथ कितना भी समय

पढ़ाई में क्यों न गुजारना पड़े, उन पर कभी भी अंगों का आकर्षण नहीं उमड़ता। कितने भी चित्त को चंचल करने वाले साधन क्यों न मिल जाएं, उनका चित्त कभी भी अपनी पढ़ाई से विचलित नहीं होता। पढ़ाई में तो आगे रहते ही हैं, खेलकूद एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों में भी अपना नाम रोशन करते हैं।

बालक रमेश भी सहशिक्षा के नाम पर डरने वाले नहीं थे। वैसे तो अक्सर लड़कियाँ, लड़कों से शरमाती हैं तथा सहशिक्षा के साथ एक ही कक्षा में दोनों तरफ अलग-अलग बैठने की व्यवस्था थी; किन्तु एक दिन जब लड़के कक्षा में आये तब आगे की बेंच पर लड़कियाँ बैठी थीं। लड़के शांत रहे कुछ भी नहीं कह सके। अगले दिन भी यही माजरा देखने को मिला, लड़कियाँ आगे बैठी थीं और लड़कों की हिम्मत नहीं हो रही थी कि लड़कियों से कुछ कह सके।

एकाएक रमेश पीछे से उठे और लड़कियों की बेंच पर छूटी थोड़ी-सी जगह पर जाकर बैठ गये। लड़कियाँ संकोचवश थोड़ा साइड में खिसक गयीं। रमेश भी कहाँ मानने वाले थे, जितना-जितना लड़कियाँ खिसकती उतना-उतना रमेश भी खिसकते जाते तथा साथियों के पास बैठते गये। अन्त में सारी लड़कियाँ उठकर अपने स्थान पर पहुँच गयीं। फिर तो रमेश के होते लड़कियों ने कभी ऐसी कोशिश नहीं की कि उन्हें फिर से शर्म से पछताना पड़े।

(7) निर्णय शक्ति से नहीं साहस और विश्वास से-

कहा जाता है कि शारीरिक शक्ति के वास्तविक मालिक वह पहलवान होते हैं जो रोज घण्टों व्यायाम करते हैं तथा भारी तेल मालिश तो करते ही हैं, भोजन भी इतना शक्तिवर्द्धक एवं पौष्टिक करते हैं कि देखने वाले दाँतों तले ऊँगलियाँ दबा लें। मगर सदैव ऐसा ही हो यह आवश्यक नहीं। अपने ऊपर विश्वास रखकर दूसरों को पराजित किया जा सकता है। अक्सर युद्ध में ऐसा ही होता है जब शक्तिशाली प्राणी आमने-सामने होते हैं जिनकी शक्ति समान होती है अथवा थोड़ी बहुत कम-ज्यादा होती है। इसलिये उनके बीच मुकाबले का निर्णय शक्ति से नहीं साहस और अपने ऊपर विश्वास की दृढ़ता से होता है।

कभी-कभी तो अधिक शक्तिशाली प्राणी भी अपने से कम शक्तिशाली प्राणी से मुकाबले में परास्त हो जाता है; क्योंकि अधिक शक्तिशाली अपनी शक्ति की अधिकता के अभिमान में चूर होता है जबकि कम शक्ति को धारण करने वाला पूरे साहस से उससे मुकाबला करता है तथा उसे अपनी अल्प शक्ति पर भी इतना भरोसा होता है कि वह कितनी भी देर तक मुकाबला करे, हिम्मत नहीं हारता। ज्यों-ज्यों मुकाबला बढ़ता है उसका साहस एवं विश्वास भी बढ़ता जाता है। वही विश्वास से भरा साहस अपने से शक्तिशाली शत्रु को पराजित कर देता है।

साहस और विश्वास तो बालक रमेश में कूट-कूटकर भरा था। यही कारण था कि रमेश अपने साथियों को आसानी से पराजित कर दिया करते थे। एक बार तो अपने से डेढ़ गुनी उम्र एवं लम्बे कद चौड़ी

काठी वाले सेठपुत्र को नीचे गिरा दिया। सेठपुत्र जब जीत नहीं सका तब उसने रमेश को काट लिया तथा स्वयं रोते हुये रमेश की झूठी शिकायत अपने पिता से कर दी। लोगों ने जब इस घटना को सुना तब जो भी सुनता हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाता। सभी सोचते मगर सोच ही नहीं पाते कि इतना छोटा लड़का और इतने बड़े डील-डाल वाले युवक को नीचे गिरा दिया। लोगों ने रमेश से पूछ ही लिया कि आखिर तुमने ऐसा क्यों किया? तब रमेश बोले कि वह हमारी वस्तु नहीं दे रहा था इसीलिये गिरा दिया। परन्तु देखो वह इतना शक्तिशाली होते हुए भी मुझसे जीत नहीं सका तब उसने मुझे काट लिया। लो देखो मेरे कंधे से उसी के काटे का रक्त बह रहा है।

**शक्ति नहीं साहस का विश्व में सम्मान होता है।
साहसी इंसान ही लोगों में प्रधान होता है।।
अपने जीवन में हमेशा साहस से कार्य करना बन्धु !
क्योंकि दुनियाँ में साहसी का ही गुणगान होता है।।**

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि एक तो हमें अपने से शक्तिशाली से लड़ने की बात ही नहीं सोचना चाहिये; क्योंकि जगजाहिर कहावत है कि "बैर, ब्याह और प्रीति बराबर वालों से ही करना चाहिये।" दूसरे यदि कभी ऐसी नौबत आ ही जाय कि हमारा मुकाबला अपने से अधिक शक्तिशाली से आवश्यक हो तब मुकाबले के दौरान सिर्फ साहस और विश्वास से ही काम नहीं लेना चाहिये। सावधानी ऐसे विषम समय में अति आवश्यक है। सावधानी बरतने पर हम मुकाबला जीतें या नहीं जीतें; परन्तु अन्य किसी प्रकार अनावश्यक क्षति से तो निश्चित ही बच जायेंगे। रमेश यदि युवक के साथ कुश्ती में सावधान होते तब वह युवक कितना भी प्रयास करता, रमेश को काटना तो दूर किंचित भी किसी भी प्रकार की क्षति पहुँचाना तो दूर, क्षति पहुँचाने का विचार भी मन में नहीं ला पाता। क्योंकि साहस से हम सामने वाले को पराजित तो कर सकते हैं; किन्तु सावधानी रखेंगे तब सामने वाला तो पराजित होगा ही, स्वयं भी पूर्ण सुरक्षित रहेंगे।

(8) परोपकार के बिना, मोहि (रमेश) कहाँ विश्राम-

कई लोग इतने कार्यकुशल होते हैं कि उनका कितना भी कठिन कार्य क्यों नहीं हो वह उसे अवश्य पूर्ण कर लेते हैं। कार्य चाहे मधुर बोलकर करवाना हो अथवा कठोर वचन बोलकर कराना हो, कार्यकुशल तो वही होता है जो कार्य को सफलतापूर्वक करवा ले। सामने वाला सरल स्वभाव का हो तब कार्य मधुर वाणी से भी चल जाता है; परन्तु जब सामने वाला उग्र स्वभावी हो तब उसको शांत करने के लिये पहले तो मधुर एवं सरल भाषा का प्रयोग किया जाता है फिर भी नहीं माना तब तो भय पैदा करने हेतु भाषा में कठोरता का प्रयोग करना ही पड़ता है तब जाकर हमारा कार्य किसी प्रकार पूर्णता को प्राप्त करता है।

रमेश साक्षात्कार (इण्टरव्यू) हेतु सागर गये; परन्तु इण्टरव्यू अकस्मात् किसी कारणवश निरस्त हो गया। सभी विद्यार्थी परेशान। कोई कहीं से आया था तो कोई कहीं से। बड़ी मुश्किल से तो साक्षात्कार का अवसर प्राप्त हुआ था। यदि इस बार भी साक्षात्कार में निकल सकें तब निर्धारित आयु पूर्ण होने से जीवन भर खुद का कार्य करते रहो। खुद की पूँजी न हो तब दूसरों की बेगार करो। कुछ विद्यार्थी तो यहाँ तक आने के लिये किराये की व्यवस्था भी बड़ी मुश्किल से कर पाये थे। ऐसे ही कारणों से परेशान छात्र घबड़ाये-घबड़ाये से इधर से उधर घूम रहे थे। कोई उनकी सुनने वाला नहीं था। तभी कुछ लड़कों ने विचार रखा कि चलो, आयुक्त महोदय (कमिश्नर साहब) बड़े अधिकारी हैं उनसे मिलते हैं और सभी अपनी समस्या रखते हैं।

कमिश्नर के कार्यालय तो पहुँच गये मगर वहाँ पर चपरासी का रूतबा कमिश्नर से भी अधिक लग रहा था। वह किसी को अन्दर जाने ही नहीं दे रहा था। काफी देर हुई तब छात्रों का धैर्य जवाब देने लगा। फिर भी इतने बड़े अधिकारी के नौकर से भी छात्र भय के मारे बात नहीं कर पा रहे थे। तभी रमेश ने चपरासी को इतने जोर से डाँटा कि आवाज अन्दर बैठे आयुक्त के कानों में पहुँची। तुरन्त आयुक्त महोदय ने घंटी बजाकर अन्दर बुलाने का आदेश दिया। रमेश के साथ सभी छात्र अन्दर आयुक्त के पास पहुँच गये। आयुक्त ने बड़ी धैर्यपूर्वक सभी की बात सुनी और अपने स्तर से तुरन्त आवश्यक एवं कठोर कार्यवाही का आश्वासन भी दिया। सभी छात्र खुश होकर बाहर आ गये तथा बार-बार रमेश को धन्यवाद देने लगे।

सचमुच अपनी सत्य बात को कहने के लिये भयभीत नहीं होना चाहिये एवं कभी भी हाथ आये अवसर को यूँ ही गँवाना नहीं चाहिये; क्योंकि अवसर बार-बार नहीं मिलते। पूर्व समय का पुण्य आगे उदय में आता है तब कहीं जाकर हमें कोई शुभ अवसर प्राप्त हुआ करता है। उस अवसर का लाभ भी गँवा दें, चूक जायें तब तो अगले अवसर के लिये न जाने कितनी लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़े। हो सकता है समीक्षा करते-करते आयु तो पूर्ण हो जाय; परन्तु प्रतीक्षा पूर्ण नहीं हो, चलती ही रहे।

बाधायें हर कार्य में आवश्यक रूप से आती हैं। हमारी परीक्षा लेने के लिये ही तो बाधायें आती हैं तथा बाधायें हमारी बुद्धि और विवेक के बन्द दरवाजे एवं रोशनदानों को खोलती हैं। जो भी समय की आवश्यकता को देखते हुये बुद्धि और विवेक सहित युक्ति का प्रयोग करता है, किस्मत भी उन्हीं पर मेहरबान होती है। जो भाग्य भरोसे हाथ पर हाथ धरे बैठा रहता है, उसकी किस्मत भी खो जाती है तथा द्वार पर आया हुआ शुभ अवसर भी चुपचाप खिसक जाता है और मूरख हाथ मलते रह जाता है। इस तरह सदैव बुद्धि और विवेक के प्रकाश को बन्द दरवाजे से खोलकर रखो, सफलता अवश्य मिलेगी।

(9) मरकऊ गाय की सेवा-

धार्मिक कार्यों में बच्चों की रुचि जगाना पड़ती है; क्योंकि धार्मिक कार्यों में धारण किये जाने वाले त्याग, तप, उपवास आदि स्वाभाविक रूप से बच्चों की रुचि के विषय नहीं होते। वह तो पूजन, जप आदि में भी देखादेखी या भयवश भाग लेते हैं। जिनकी होनहार, अच्छी हों ऐसे बच्चे कम ही होते हैं जिनका मन धार्मिक कार्यों में रमता है। खेलकूद हो हल्ला, भीड़, मनोरंजन या कोलाहल से वह दूर एकदम शान्त, एकान्त स्थान में रहना पसन्द करते हैं। किन्तु धार्मिक कार्यों में उदासीन होते हुये भी सामाजिक कार्यों में जिनकी रुचि होती है वह एकान्त में रह ही नहीं सकते। सदा स्वयं आगे आकर अथवा दूसरों के साथ मिलकर सभी की भलाई के निमित्त कुछ न कुछ करते रहना उनकी फितरत हो जाती है। सिर्फ शारीरिक श्रम एवं मानसिक मेहनत ही नहीं अपना धन भी खर्च करना पड़े तब भी पीछे नहीं हटते। घर से भी गायब रहते, घरवालों की डाँट खाते मगर समाज-सेवा करते रहते।

बालक रमेश सामाजिक कार्यों में अग्रणी थे। वात्सल्य की भावना बचपन से ही उनके अन्दर थी। कभी कोई गरीब दिखा तो उसकी थोड़ी बहुत धन से मदद कर दी। भूखे को खाना खिलाने, प्यासे को पानी पिलाने में रमेश को कष्ट की जगह प्रसन्नता की अनुभूति होती थी। किसी को कोई बीमारी या दुःख हुआ, समझ लो रमेश को काम मिल गया। फिर न घर की चिन्ता न ही परिवार की। माँ मारे या पिता पीटे, कोई अन्तर नहीं; किन्तु कभी किसी ने रमेश पर जोर देकर रोक भी नहीं लगायी; क्योंकि सभी की नजर में रमेश बुरे के स्थान पर अच्छा काम करता है तो करने दो। बस पढ़ाई, रमेश पढ़ाई में नहीं पिछड़ जाय यही चिन्ता सदा उन्हें सताया करती थी। मगर रिजल्ट में रमेश का अब्बल स्थान देख सभी की छाती खुशी से फूल जाती थी।

मनुष्य क्या पशु भी कभी कष्ट में दिखा तो बीच बाजार में ही शर्म छोड़कर रमेश उसकी सेवा में लग जाते थे। एक बार एक गाय को पीछे के पैर में किसी ने इतने जोर से मारा कि गाय का पैर टूट गया। सभी को गाय पर दया तो आती थी परन्तु गाय बहुत तेज स्वभाव की थी। किसी को भी दौड़कर मार देती थी इसीलिये कोई भी गाय के पास जाना नहीं चाहता था। सभी डरते थे कि गाय की सेवा के चक्कर में कहीं गाय ही उन्हें सेवा कराने लायक न कर दे। रमेश कॉलेज से लौट रहे थे। अचानक उनकी निगाह उसी गाय पर चली गयी जो उठने का प्रयास बार-बार करती। मगर आधी उठती और गिर जाती। पहले तो रमेश चुपचाप देखते रहे; परन्तु अधिक समय तक गाय की पीड़ा रमेश से देखी नहीं गयी। बैग वहीं एक दोस्त को पकड़ाया तथा दयाभाव लिये गाय की मदद को बढ़े ही थे कि लोगों ने रोका, भैया रुक जा, क्यों उस मरकऊ गाय (मारने वाली) से अपने हाथ-पैर तुड़वाना चाहता है। मगर रमेश ने सभी की बात कान से सुनी और अनसुनी कर आगे बढ़ गये। गाये के पास पहुँचे तो अपने स्वभाव अनुसार गाय ने रमेश को भी मारना चाहा;

परन्तु टूटे पैर के कारण गाय स्वयं को संभाल नहीं सकी और लड़खड़ा कर गिर पड़ी। रमेश ने हिम्मत नहीं हारी और धीरे-धीरे पहले गाय को प्यार से पुचकारते रहे तथा जब गाय थोड़ी शांत हुई तब वात्सल्य-भरा हाथ गाय की पीठ पर धीरे-धीरे घुमाते रहे। थोड़ी ही देर में गाय भी एकटक रमेश को देखने लगी। सभी ने स्पष्ट देखा कि अब गाय की आँखों में क्रोध के अंगारे नहीं, दुःख के आँसू बह रहे थे। रमेश ने लोगों के सहयोग से गाय को रास्ते से हटाकर एक सुरक्षित स्थान पर पहुँचाया तब तक गाय का मालिक आ गया और रमेश की दिल खोलकर तारीफ करने लगा। मगर रमेश ने उसे डाँट दिया कि जब उचित देखभाल नहीं कर सकते तब पशुओं के मालिक बनने का शौक ही क्यों करते हो? इसके बाद रमेश तब तक उस गाय की जाकर स्वयं सेवा करते रहे जब तक कि वह ठीक नहीं हो गयी।

(10) घोड़े की मार-

कुछ इसी प्रकार की एक और घटना घटी। रमेश एक बारात में शामिल होने के लिये दोस्तों के साथ गये थे। पहले के प्रचलित नियमों के अनुसार बारात रात में उठती थी। जब अधिकांश लोग सो जाया करते थे; किन्तु बारातियों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था, नाचने वाले तो अपनी ही धुन में मस्त नाचते रहते थे, फिर उन्हें देखे या नहीं देखे उनकी बला से। रमेश भी नाचने वालों के साथ थे, मित्रों में हास्य-परिहास चल रहा था। उसी समय रमेश ने देखा एक घोड़े वाला अपने घोड़े को बार-बार नचाने का प्रयास कर रहा था। मगर घोड़ा जोर से हिनहिनाता कभी-कभी अपने दोनों पैर तो आगे के उठाता, मगर मालिक की इच्छानुसार नाच नहीं रहा था। जब काफी देर हो गयी तो कुछ शरारती बारातियों ने घोड़े वाले पर ताने कस दिये। घोड़ा तो नचा नहीं पाते, पैसे लेने के लिये खुद नाचते-फिरते हैं और दूसरों को परेशान करते हैं बदमाश कहीं के।

घोड़ेवाला तो वैसे भी खींज से भरा था, उसने गुस्से में भरकर हाथ का कोड़ा घोड़े पर बुरी तरह बरसाते हुये कहा-देख अब कैसे नहीं नाचेगा। तू क्या तेरा बाप भी नाचेगा, यह कहते हुये जब उसने कोड़े मारना शुरू किया तो घोड़ा बुरी तरह घबड़ा गया उसकी पीठ तो लाल हो ही गयी, पैरों से भी खून छलक आया। घोड़े की जितनी बुरी दशा होती, शरारत से भरे बाराती उतने ही अधिक खुश होते तथा घोड़े वाले को मारने के लिये और अधिक उकसाते। लगता था घोड़े वाला भी विवेक खो चुका था तभी तो अपने इतने प्रिय और कमाऊँ घोड़े से इतना बुरा व्यवहार कर रहा था। बाराती उसके पागलपन पर अब तो हँसने के साथ जोर-जोर से तालियाँ बजाने लगे।

अचानक उन चारों शरारती बारातियों के गाल पर जोर-जोर से ऐसे चाँटे और इतनी शीघ्रता से पड़े कि उन्हें गाल पकड़ने का भी मौका न मिला कि रमेश ने घोड़े वाले से चाबुक छुड़ाकर पहले तो घोड़े वाले को ही दो कोड़े लगाये और बोले-देख तुझे जब दो कोड़े का इतना दुःख हो रहा है तो इस मासूम जानवर को

तूने इतने अधिक कोड़े मारे उसे कितना दुःख हो रहा होगा। इतना कहते ही उसी आवेश में चाबुक लिये रमेश उन शरारती बारातियों की तरफ झपटे किन्तु रमेश का इतना विकराल रौद्र रूप देखकर उनके तो देवता ही कूच कर गये तथा सिर पर पैर रखकर इतनी तेजी से भागे कि फिर बारात वापिस आने तक किसी को नजर नहीं आये।

इधर घोड़े वाले को अपनी भूल का अहसास हुआ और वह रमेश से बार-बार अपनी भूल के लिये क्षमा माँगने लगा। रमेश को जितनी तेजी से गुस्सा आया था उससे अधिक तेजी से शांत भी हो गया और वातावरण में शांति छा गयी।

(11) संगति का असर और विश्वास-

संगति का असर इंसान पर अवश्य पड़ता है। हमारे संगी साथी जैसे होते हैं उनकी आदतों, उनके गुणों का प्रभाव हम पर न पड़े यह संभव नहीं। वैसे भी जैनियों का संग जैनियों के साथ ही रहे यह भी आवश्यक नहीं। कई गाँवों में जैन समाज ही नहीं के बराबर है, वहाँ भी आवश्यक नहीं हमारे विचार हमारे ही समाज के आदमी से मिल जावें। हाँ, जब भी कोई सामान विचारों वाला मिलता है वहाँ पर न तो परेशानी होती है और न ही संगत का कोई असर ही दिखायी देता है। क्योंकि विचारों के अनुरूप सभी समान कार्य समान होते हैं जब विचार समान होते हैं। आपके विचार में दुःखी, पीड़ित एवं रोगी की मदद करना चाहिये। आपके विचार से जो भी सहमत हों, आपको उन्हें जोड़ना नहीं पड़ेगा स्वयमेव ही परिस्थिति वश आपके समान विचार वाले एक स्थान पर जुड़ जायेंगे।

एक ही तरह की सोच या विचार रखने वाले किसी भी कारण या परिस्थिति वश जब भी एक जगह एकत्रित होते हैं। सभी का पहले तो आपस में परिचय होता है, परिचय के साथ एक-दूसरे के सम्मान में हल्का-फुल्का खाना-पीना हो जाता है। धीरे-धीरे मुलाकातें बढ़ती जाती हैं इसी बहाने एक-दूसरे घर पर भी आना-जाना शुरू हो जाता है। इस आवागमन के साथ ही हम एक-दूसरे को समझने और परखने की कोशिश करते हैं। समझते-समझते जब हमें एक-दूसरे पर विश्वास आ जाता है तब हम आपस में ही कुछ कार्य साथ-साथ करने का विचार बनाते हैं। उस कार्य में पूँजी एवं समय का भी अंशदान निश्चित हो जाता है। यहीं पर संगति की सच्ची परीक्षा होती। नेक दिल, ईमानदार एवं वफादार व्यक्ति अपने वचन पर कायम रहता है जबकि मन में खोट रखने वाला बेईमान अपने ही दिये वचन से पीछे हट जाता है। हमारी संगति या हमारा साथ भी इसी के साथ समाप्त हो जाता है।

बन्धुओ ! इतने अल्प समय में भी बहुत कुछ घट जाता है। साथी की आदतों का असर भले हम पर न पड़े, मगर हमारा आर्थिक नुकसान तो हो ही जाता है। सहज ही दूसरों को अपने जैसा सरल स्वभावी मानने वाला हमारा विश्वास भी कमजोर पड़ जाता है। फिर कोई नेक दिल, ईमानदार साथी भी हमें मिल

जाय तब उस पर भी हम विश्वास सहज ही नहीं कर पाते बल्कि उसे भी संदेह की नजर से लगातार देखते रहते हैं जब तक कि उसके कार्यों के द्वारा हमारे अन्दर का खोया हुआ विश्वास बहाल नहीं हो जाता।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि संगति का असर तो गुण और आदतों के माध्यम से हमारे रोज के जीवन में परिलक्षित होता है उसे ही संगति का असर कहा जाता है; क्योंकि सभी जानते हैं कि संगति में कोई बन भी सकता है और संगति में बुराई हो तो बिगड़ भी सकता है, फिर इसमें आर्थिक क्षति से क्या लेना-देना?

प्रश्न स्वाभाविक है तथा प्रश्न का उत्तर भी प्रश्न में ही गर्भित है। विश्वास हमारा वह गुण है जो हमारे चरित्र को सुदृढ़ करता है। विश्वास जब हमें मित्र पर होता है और मित्र भी विश्वास पर खरा उतरता है तब हमारा यही विश्वास इतना सुदृढ़ हो जाता है कि हम विश्वास की बिना परख किये ही किसी पर भी सहज विश्वास कर लेते हैं; क्योंकि इस विश्वास में सरलता का अद्भुत गुण छिपा होता है। सच्ची सरलता भी तो उसी में होती है जो छल-कपट या मायाचारी नहीं करता। जो मन में होता है वही मुँह से बोलता है तथा वही शरीर के द्वारा करता भी है। सरलता से युक्त विश्वास में जब अपने ही आराध्य के प्रति श्रद्धा कूट-कूटकर भरी होती है तब मन में अविश्वास का मैल मिट जाता है। मन में जिसके मैल मिट जाय, मन की कालिमा जिसकी समाप्त हो जाय फिर उसे ऐसा व्यक्ति भी मिल जाये जो साथ-साथ रहकर भी विश्वासघात करता रहे तब निश्चित मानों कि सच्चे मन से विश्वास रखने वाले को भले प्रत्यक्ष में हानि आर्थिक रूप में दिखे मगर विश्वासघाती को तो भविष्य में आर्थिक हानि तो होता ही है। आर्थिक हानि के साथ-साथ विश्वासघात का भी फल किस दारुण यातना के साथ भोगना पड़े क्या पता?

दोनों के मध्य साथ हुआ, संगति बनी, आर्थिक सामंजस्य भी हुआ। मगर विश्वास देकर विश्वासघात करने वाले ने मित्र से नहीं, मित्र के पैसे से संगति बनायी इसीलिये सजा का पात्र हुआ जबकि विश्वास देकर विश्वास पर कायम रहने वाले का यही गुण वह गृहण कर लेता तथा अपने वचन पर कायम रहकर विश्वास बहाल करता तब उसे भी सद् संगति का सुफल मिल जाता। खुद की बुरी आदत छूट जाती, भविष्य का पछतावा शेष नहीं रहता। इसी मित्रता में विश्वास देने वाले एवं विश्वास पर कायम रहने वाले मित्र ने अपनी जबान की कीमत रखी। आर्थिक नुकसान को तो झेल लिया मगर मित्र के उस विश्वासघात के गुण को ग्रहण नहीं किया। इसीलिये उसका वर्तमान तो अच्छा सभी को न लगे मगर उसकी आत्म-संतुष्टि प्रगट करती है कि उसे इस नुकसान में भी नफा हुआ। भविष्य में इससे बड़ा धोखा खाने से तो बच ही गया। अपने चरित्र पर दृढ़ रहने से सामाजिक रूप से भी उसकी ख्याति एवं मान्यता में अभिवृद्धि हो गयी।

संगति मात्र आर्थिक मेल-मिलाप या धन्धा व व्यवसाय के निमित्त में हो यह आवश्यक नहीं। संगति तो धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, क्षेत्रीय या खेल मनोरंजन या अन्य प्रकार भी हो सकती है। इन संगतियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है धार्मिक संगति। अक्सर अलग-अलग धार्मिक मान्यताओं के मनुष्य

एक-दूसरे से सम्पर्क में आते हैं। एक-दूसरे के धर्म, एक-दूसरे की धार्मिक मान्यता, एक-दूसरे के धार्मिक विश्वास, एक दूसरे के धार्मिक रीति-रिवाज ही नहीं एक-दूसरे के धार्मिक आराध्य पर भी बड़ी लम्बी-लम्बी चर्चा एवं बहस तक हो जाती है।

जब-जब ऐसी धार्मिक बहस छिड़ती है तब-तब वही व्यक्ति इस बहस में विजय पाता है जिसके पास दृढ़ आत्मविश्वास, अपने धर्म का गहन एवं सूक्ष्म अध्ययन तथा मन में सरलता, सहजता, सहिष्णुता, सामंजस्य, सौहार्द्र तथा अपने धर्म के साथ-साथ दूसरों के धर्म का अनादर का भाव नहीं हो।

हर धर्म और उसको मानने वाले स्वयं को श्रेष्ठ मान्यता देते हैं; किन्तु क्या स्वयं को स्वयं के द्वारा श्रेष्ठ मानने एवं श्रेष्ठ घोषित करने से क्या कोई श्रेष्ठ हो जाता है। श्रेष्ठता तो स्वयं सिद्ध होती है। श्रेष्ठता कभी बाहर की वस्तु नहीं होती, वह तो अन्दर का गुण है। अन्दर जिसका हृदय उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आर्किंचन, उत्तम ब्रह्मचर्य, जीओ और जीने दो के अहिंसामय भावों से प्रेम, स्नेह, दया, वात्सल्य सहित है। वही श्रेष्ठ है। शेष भले श्रेष्ठ होने का दावा करें; परन्तु उनमें जब श्रेष्ठता का चिह्न ही नहीं तब वह भला कैसे श्रेष्ठ हो सकते हैं। हमें तो बुद्धि व विवेक मिला है हम क्यों अश्रेष्ठ की संगति करें। नहीं-नहीं हमें श्रेष्ठ बनना है अतः हम संगति श्रेष्ठ गुण और श्रेष्ठ आचरण वाले की करेंगे।

**संगति सद् इंसान की करना चाहिए,
संगति गुणवान की करनी चाहिए।
संगति से ही गुण अवगुण आते हैं,
संगति विद्वान् की करना चाहिए ॥**

ऐसा ही हुआ था रमेश के साथ। अपने मित्रों के साथ वह किसी भी मंदिर में चले जाते। जाते ही नहीं, वहाँ पर विराजमान उनके आराध्यदेवों को भी पूर्ण सम्मान के साथ नमन करते। दर्शनों के लिये तो टोली बनाकर, मित्र-मंडली सहित गाँव से बाहर भी चले जाते। कभी बालाजी के दर्शनकर खुश होते तब कहीं संकटमोचन से संकटों के हरने की विनती करते, कभी वीर हनुमान से संकटों से लड़ने हेतु बल की याचना करते। कभी माँ काली के गीत गाते तो कभी माँ भैरवी की भक्ति करने लगते। कभी शिव की अर्चा करके प्रसन्न होते। रमेश का मन फिर भी कहीं नहीं लग पाता। एक बार दिगम्बर जैन मन्दिर के द्वार से निकल रहे थे अचानक द्वार के बाहर ही कदम रुक गये। न जाने मन में एक टीस सी उठी कि मैं यत्र-तत्र सर्वत्र घूमता हूँ किसके पास जाना है, किसके पास नहीं जाना, इसका भी विवेक नहीं रखा। जिस जाति और जिस कुल में पैदा हुआ उसी जाति और कुल के आराध्य का मन में ख्याल ही नहीं।

बस क्या था भ्रम का पर्दा गिर गया। कदम खुद-ब-खुद मन्दिर के दरवाजे की तरह मुड़ गये। बाहर

रखे जल से पहले पैर धोये तथा अन्दर जाकर प्रभु के सामने पहुँचे। प्रभु के सामने खड़े हुये तो खड़े ही रह गये। मन ने वहाँ से जाने की इच्छा ही नहीं की। लग रहा था जो हम दूसरी जगह कामना करके प्राप्त करना चाहते हैं, वह सब कुछ यहाँ पर स्वयमेव प्राप्त होगा। मन में कोई भ्रम नहीं रहा, सारी शंकायें समाप्त हो गयी। मानों अतृप्त मन तृप्त हो गया। सहसा मन से ही एक आवाज आयी कि जब एक बार प्रभु के दर्शन से इतनी शांति प्राप्त हुयी तब यदि बार-बार प्रभु के दर्शन किये जायें तब कितनी शांति मिलेगी? बस क्या था मन का सोचा जबान पर आ गया। प्रभु के समक्ष ही प्रतिज्ञा कर ली कि अब मैं प्रतिदिन आपके नियमपूर्वक दर्शन करूँगा।

हो भी क्यों न ऐसा, जब पूर्व शुभ संस्कार उदय में आते हैं तब हमारे विचार ही नहीं बदलते, मन का विश्वास भी बदल जाता है। ऐसा नहीं कि उस दिन के बाद रमेश का मित्रों से मिलन नहीं हुआ। मित्रों से मिलन भी हुआ और मित्रों के साथ यात्रा भी की रमेश ने। इतना ही नहीं मित्रों के आराध्य देवों के दरबार में भी गया तथा यथोचित सम्मान भी उन्हें दिया; किन्तु मन में कोई कामना नहीं, मन में कोई भावना नहीं। बस एक सामाजिक व्यवहार की सामान्य परम्परा का निर्वहन। मित्रों ने भी रमेश के मन को समझ लिया तथा रमेश के मित्रों की संगति भी ऐसी नहीं थी कि उसे कुसंगति का नाम दिया जाय; क्योंकि जिस तरह रमेश उनके आराध्य के प्रति सम्मान व्यक्त करता था वैसा ही सम्मान उसके अजैन मित्र रमेश के साथ आकर श्री दिगम्बर जैन प्रभु के समक्ष प्रकट करते थे।

लोक व्यवहार निभाना अलग बात है तथा लोक व्यवहार के चक्कर में अपने-पराये का विवेक का परित्याग करना अलग बात है। मगर रमेश के अन्दर तो स्व-पर को पहचानने का विवेक था। यही वजह थी कि रमेश का सम्मान तो सभी देवों के प्रति था, चाहे वह स्व-आराध्य हों अथवा मित्रों के आराध्य हों। हाँ, सम्मान मात्र सम्मान था और सम्मान भी सम्मान तक ही सीमित था। कभी यह सम्मान पराये आराध्य के प्रति समर्पण में नहीं बदल सका।

सम्मान और समर्पण बिल्कुल अलग-अलग भाव है। दोनों में विनय है, मर्यादा भी है परन्तु जब सम्मान मात्र सम्मान तक सीमित रहता है तब हम विनय भी करते हैं; परन्तु हमारी विनय में एक मर्यादा होती है। यही वह तत्त्व है जो सम्मान और समर्पण के बीच खड़ा है। सम्मान निश्चित रूप से मर्यादा में बँधा है; किन्तु समर्पण में कभी मर्यादा होती है तो कभी जब समर्पण पूर्णता की ओर बढ़ता है तब मर्यादा की बाढ़ उसे अपने में कैद नहीं रख सकती। हाँ, समर्पण होता भी तब है जब समर्पण कराने वाले के प्रति पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास जाग जाये तथा हम समर्पण कराने वाले से पूरी तरह परिचित हो जायें।

कैसा होगा समर्पण हमारे आराध्य के प्रति, कभी सोचा क्या आपने? आपके समक्ष एक नहीं अनेक आराध्य हैं और उन आराध्यों के अनुयायी भी कम नहीं। सदैव अपने-अपने आराध्य के गुणगान करना वह

अपना कर्म ही नहीं धर्म भी समझते हैं। हम भी तो अपने आराध्य का गुणगान करते हैं। अपने आराध्य का सम्मान तो करते हैं, समर्पण करने में भी देर नहीं लगाते। किन्तु यह समर्पण तो इतना आसान नहीं कि हम किसी के भी प्रति प्रदर्शित कर दें। कैसे हम पहचानें कि हमारा सच्चा हितैषी कौन है? कौन हमें संसार सागर से मुक्ति दिलाने का कार्य करेगा?

संसार में बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जिनके पास अद्भुत, अद्वितीय एवं अतुलनीय शक्तियाँ होती हैं जिनके बल पर वह बहुत बड़े-बड़े चमत्कार करते हैं। कभी भी किसी को अतुल संपदा से पूर्ण कर दें या उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन लें। अथवा किसी की झोली खुशियों से भर दें तो किसी की झोली से खुशियाँ छीन लें ऐसा दावा करने वाले क्या हमारे आराध्य हो सकते हैं? आकाश में चलने वाले या जमीन में समाधि लगाने वाले अथवा जल और अग्नि से अप्रभावित रहने वाले भी अपनी-अपनी विद्या में निपुण विद्याधारी हमें मिल जायेंगे, क्या हम उन्हें अपना आराध्य स्वीकार कर लें? एक डॉक्टर मरीज को मौत के मुँह में जाने से बचा लेता है या फिर एक वकील अपने वादकारी को फाँसी के फन्दे से उतार लेता है तब क्या हम डॉक्टर और वकील को अपना आराध्य बना लें? कोई आकर हमें भविष्य में भारी लाभ की बात बताता है या भविष्य में होने वाली दुर्घटना या अनहोनी से बचने हेतु सावधान रहने एवं बचाव के उपाय बताता है तब क्या हम उसे ही अपना आराध्य मान लें? कोई हमें बड़े भारी संकट से उबार लेता है या मृत्यु के मुँह में जाने से रोक लेता है, क्या हम उसे अपना आराध्य मान लें? कोई हमें ब्रह्म दिलाता है या बड़ी प्रतिष्ठा दिलवाता है तब क्या हम उसे अपना आराध्य मान लें? मानवता, धर्म एवं समाज या देश के शत्रुओं का विनाश करने वाले को इतने बड़े त्याग और बलिदान के लिये क्या आराध्य मान लें?

आराध्य का तो अर्थ ही है, आ अर्थात् आता है जो, रा अर्थात् रास्ता बनाने के लिये और ध अर्थात् धर्म को धारण कराता है, य अर्थात् यावज्जीवन अर्थात् जीवन भर के लिये। मतलब जो हमारे लिये जीवन भर धर्म को धारण करने का रास्ता बताने के लिये आता है वही आराध्य है। आराध्य वही है जो सन्मार्ग तो दिखलाये मगर सन्मार्ग पर स्थिर रहना भी सिखलाये ताकि आत्मकल्याण के परिणाम दृढ़ हो सकें।

(12) वचन सन्त के-

साधु-संत के मुँह से जो वचन निकलते हैं उस पर समाज का प्रत्येक व्यक्ति विश्वास बड़ी सहजता से करता है। जबकि वही बात कोई गृहस्थ कहे तब उसकी बात को गंभीरता से नहीं लिया जाता। लिया भी कैसे जाय, रोजमर्रा की जिन्दगी में जो स्वयं अपने आचरण में सत्य, अहिंसा, प्रेम, वात्सल्य, दया, करुणा को स्थान नहीं देते। सदा क्रोध से भरे रहते हैं, किसी ने जरा सी बात नहीं मानी या फिर उनके सम्मान में किंचित कमी कर दी फिर तो मान ऐसा भंग हुआ कि पारा सातवें आसमान पर पहुँच गया। मायाचारी में तो हम इतने प्रवीण हैं कि लगता है हमें कोई परेशान ही नहीं कर सकता। पराया धन, परायी संपत्ति एवं पर से

संबंधित वस्तु को मुँह से पर की कहते नहीं थकते; किन्तु मन ही मन उसे पाने का संकल्प कर लेते हैं। यह संकल्प सिर्फ मन में ही नहीं रहता तन भी उसी दिशा में कार्यरूप होने लगता है ताकि परायी संपत्ति किसी तरह भी हमारी हो सके। इसके लिये झूठ तो बोलना बहुत सरल है। झूठ के साथ पर्दे के पीछे हिंसा का भी बेदर्दी से सहारा लिया जाता है।

हिंसा और झूठ से जब कार्य नहीं चलता तब पराये धन को चोरी के सहारे हरण करवा लेते हैं। चोरी से प्राप्त धन से हम फूलकर प्रसन्न होते हैं, हँसते हैं, अट्टहास करते हैं, वह भी इसलिये नहीं कि पराया धन हमें प्राप्त हुआ बल्कि ज्यों-ज्यों हमें धन के असली मालिक का धन के अभाव में रोता-बिलखता चेहरा याद आता है, हमारा पैशाचिक अट्टहास बढ़ता जाता है। अरे परायी संपत्ति धन ही नहीं, पापी तो परायी नारी को भी चोरी से प्राप्त करने में लज्जा नहीं करते और सभी के सामने परायी नारी पर दृष्टि डालना भी पाप बताते हैं। खुद ही सोचें, इनकी वाणी पर उनकी काली आत्मा का कितना असर रहता होगा।

**चोर चोरी करने में ही आनन्द मनाते हैं,
चोरी करना ही अपना धर्म मानते हैं।
यह सबसे बड़ी अज्ञानता है प्यारे भाई !
चोर पाप और शाप को भी नहीं जानते हैं॥**

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील के साथ-साथ उपदेश करने वाले हम जैसे गृहस्थों का परिग्रह तो देखने लायक होता है। पड़ोस का घर सूना पड़ा हो, कुछ भी सामग्री या सामान कीमती क्या, सामान्य कीमत का भी कोई सामान न हो; परन्तु हमारे घर में बेशकीमती हमारी सामान्य हैसियत से भी अधिक वह भी विदेशों से आयातित सामान्य से बहुत ऊँचा हमारे घर में भरा रहता है; किन्तु वह यह कभी नहीं सोचते कि यह धन, यह सामग्री पाप के सहारे जुड़े हैं और पाप के धरातल पर जुड़ी यह सामग्री दूसरों के दुःख, दूसरों की हाय और दूसरों के क्रन्दन की कीमत पर जुड़ी है और इसका अन्त भी इसी रूप में होने वाला है।

आवश्यक नहीं कि यह सामग्री हमारे पास से चली जाये, खो जाय या कोई छीन ले तभी हम दुःखी हों। सामग्री भी रहे और हम उसे किसी भी तरह भोग नहीं पाये तब सोचों, हमारी दशा क्या होगी? एक से एक चमचमाते सैकड़ों जोड़ी कपड़े हों, मगर बदन में फोड़ा या चर्मरोग से मवाद बह रहा हो तब सोचो, कितना सुख, कितना आनन्द आता होगा उन कपड़ों को पहनने में? घर में खाने की भीनी-भीनी महक आ रही हो तथा एक से बढ़कर एक अनेक तरह के मनचाहे पकवान भी बने हों; किन्तु तेज बुखार हो तो खाना मीठा लगेगा या कड़वा? मान लो बुखार नहीं हो; किन्तु मुँह में टॉसिल हो अथवा आँतें खराब हो गयी हों, क्या तब भी हम भोजन का आनन्द उठा सकेंगे? यदि नहीं तो फिर इतना परिग्रह क्यों?

रमेश के मन में विचार बार-बार उठ रहे थे। आते हुये विचारों का प्रवाह निरन्तर जारी रहता है। तभी तो रमेश के विचार स्थिर नहीं हो पा रहे थे। अभी वह उन गृहस्थों के बारे में सोच रहा था तभी उसके मन में उभर आया विचार, साधु-सन्तों का। साधु-सन्तों के पास गृहस्थी तो नहीं होती। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से भी साधु-सन्तों का रिश्ता नहीं होता। क्या इसीलिये साधु-सन्तों के वचनों का असर हम सभी पर इतना होता है कि हम सहज ही उन्हें स्वीकार कर लेते हैं या फिर और कोई कारण है।

यही सोचता हुआ रमेश अपने मित्र के साथ मन्दिर में प्रभु के दर्शन हेतु चला गया और विचारों की इसी ऊहापोह में प्रभु के दर्शन करके बाहर भी आ गया। तभी मन्दिर के बाहर सेठ मोतीलालजी मिल गये। मिलते ही सेठ मोतीलाल ने पूछा-रमेश क्या दर्शन करके लौट रहे हो? रमेश ने कहा-हाँ, मैं दर्शन करके ही लौट रहा हूँ। तभी उन्होंने कहा कि मन्दिर में क्षुल्लकजी श्री पद्मसागरजी आये हैं, क्या उनके भी दर्शन किये हैं? तब रमेश, सेठ मोतीलाल के प्रश्न का उत्तर देने की जगह उनके साथ धर्मशाला में क्षुल्लकजी के दर्शन हेतु चल दिया तथा चुपचाप दर्शन कर बाहर आ गया।

**सब क्लेश त्यागकर अपने मन का, पढ़ना फर्ज तुम्हारा है।
तुम बढ़ो मोक्ष की मंजिल तक, तुमको आशीष हमारा है॥
परमेष्ठी की शरण जगत् में, बढ़ने का एक सहारा है।
जिनदेव चरण की भक्ति से, मिलता भवसिंधु किनारा है॥**

दूसरे दिन भी सेठ मोतीलाल मिल गये। उस दिन भी रमेश के साथ क्षुल्लकश्री पद्मसागरजी के गृहस्थ अवस्था का भतीजा धनपाल था। दोनों ने मन्दिर में क्षुल्लकजी के सामान्य रूप से दर्शन किये; क्योंकि क्षुल्लकजी के दर्शन की विधि एवं क्षुल्लकजी को दिया जाने वाला संबोधन उन्हें ज्ञात नहीं था। वह उठे ही थे कि कुपीवाले सेठ मोतीलालजी ने टोक दिया-क्यों रमेश क्या बात है? साथ ही परिहास भी कर दिया कि क्या घर जाकर खाना बनाना है? रमेश बुजुर्गों की इज्जत बहुत करते थे। यही वजह थी कि मन्दिर से आने की बजाय वहीं क्षुल्लकजी के पास बैठ गये। तभी क्षुल्लकजी से सेठ मोतीलाल बोले-महाराज ! बड़ी विचित्र बात है कि आज की नयी पीढ़ी में धर्म के प्रति वह लगाव, वह समर्पण, वह आदर नहीं रहा जो पहले हम सभी में था। क्षुल्लकजी ने कहा-वत्स ! यह समय का प्रभाव है तथा पीढ़ियों का अन्तर है जो सदा इसी तरह से प्रगट होता है; किन्तु इसमें इतना घबराने या परेशान होने की कोई बात नहीं। नये लड़कों पर भी विश्वास करना सीखो। एक दिन यह अवश्य हमारे विश्वास पर खरे उतरेंगे। फिर तुम्हें कोई शिकायत इनसे नहीं होगी।

इसी के साथ क्षुल्लकजी से मोतीलालजी ने शिकायत कर दी कि यह लड़के प्रभु की पूजन नहीं करते। क्षुल्लकजी ने सहज भाव से आश्चर्य प्रगट किया कि क्या इतने बड़े लड़के पूजन नहीं करते? क्या

बात है, पूजन करना नहीं आता या पूजा करने के भाव नहीं होते? तभी रमेश बोले—न तो पूजन की विधि आती है, न ही पूजन की सामग्री जानता हूँ और न ही पूजन हेतु कपड़ों के बारे में जानकारी है। फिर हम पूजन कैसे करेंगे? तब क्षुल्लकजी ने बड़े ही सान्त्वना भरे शब्दों में कहा कि कपड़े पहनकर ही पूजन कर लेना। यदि धोती पहनना नहीं बनता तब धोती पहनना सीखो एवं द्रव्य धोने का कार्य मोतीलाल से करवा लेना। धीरे-धीरे सब कुछ जान जाओगे, फिर तुम्हारा मन स्वयं भगवान की पूजन में लगने लगेगा तथा पूजन का समय होते ही पैर मन्दिर की ओर चल देंगे।

यही हुआ पूजन का नियम जब क्षुल्लकजी ने दिया तब तो कुछ भार सा महसूस हुआ मगर जब भक्तिभाव से पूजन प्रारम्भ हुयी तब पता ही नहीं चला कि कब धोती पहनना सीख गया? कब पूजन की द्रव्य धोना आ गया तथा कब पूजन के प्रति भाव ऐसा भरा कि अब पूजन के समय कहीं भी हो मेरे कदम मन्दिर—मन्दिर की ओर बढ़ने लगते तथा जब तक प्रभु की पूजन न कर लूँ, किसी भी काम में मेरा मन ही नहीं लगता। मेरा यह रूप देखकर परिवार भी प्रसन्न हो गया तथा सभी कहने लगे रमेश तो वाकई भगवान का भक्त हो गया है।

रमेश गलत काम न स्वयं करते थे, न ही किसी और को करने देते थे। अच्छे कामों के प्रति रमेश का आकर्षण सदैव बना रहता था। नित्य पूजन का नियम भी एक अच्छा काम था इसीलिये रमेश को नित्य पूजन का नियम होते हुये जितनी प्रसन्नता हो रही थी उतना ही भय मन में लग रहा था कि कहीं लिया हुआ नियम टूट न जाय अन्यथा मुझे क्षुल्लकजी के वचनानुसार पाप लगेगा। यही वजह थी कि पाप के भय ने कभी नियम टूटने नहीं दिया।

नियम निभाना शुरू किया था कि प्रभु के प्रति आस्था बढ़ती गयी। अब क्या था कोई भी काम प्रारम्भ करना ही यही लगता था कि पहले भगवान की पूजन कर लूँ तो मेरा काम अवश्य बन जायेगा। मन में पूजन के माध्यम से ईश्वर के प्रति श्रद्धा इतनी गहरी हो गयी कि अब तो लगता था कि शुद्ध धोती—दुपट्टा पहनकर अपने आराध्य की आराधना करूँ। मन की यह अटूट श्रद्धा कार्य व्यवहार में भी परिणत हो ही गयी।

(13) महत्त्व अभिषेक का—

मध्यप्रदेश में एक बार एम.पी.ई.वी. में टाइपिस्ट हेतु सर्विस का साक्षात्कार देने जाना था। साक्षात्कार हेतु जाने से पहले रमेश प्रभु की पूजन करना नहीं भूले किन्तु जिस दिन साक्षात्कार का परिणाम आने वाला था उस दिन तो मन बार-बार उद्वेलित हो रहा था। लग रहा था कि आज तो शुद्ध धवल वस्त्र धारणकर पहले प्रभु का अभिषेक किया जाय ताकि अभिषेक की धार की तरह आशीर्वाद की धार मेरे प्रभु मेरे ऊपर करते रहे। मन का यह संकल्प रमेश ने मन में ही नहीं रहने दिया बल्कि पूर्ण भक्तिभाव से श्वेत स्वच्छ धवल वस्त्र पहने एवं पहले भगवान का अभिषेक कर मनोभावना पूर्ण की, पश्चात् बड़े ही भावपूर्वक अष्ट द्रव्य से पूजन की।

परिणाम साक्षात्कार का आया तब वेटिंग लिस्ट में अपना नाम देखकर रमेश की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। लगता था परिणाम सर्विस के साक्षात्कार का नहीं, रमेश की श्रद्धा और विश्वास का आया था जिसमें रमेश ने सफलता प्राप्त कर ली थी। फिर क्या था, रमेश का अभिषेक का नियम ही बन गया। अभिषेक ही नहीं अब तो रमेश एक के स्थान पर तीन या चार पूजन न कर ले, तब तक उसे कुछ अच्छा नहीं लगता था। फिर तो रमेश ने प्रतिदिन अपने आराध्य की शुद्ध वस्त्र से अभिषेक एवं पूजन को अपने जीवन का अंग बना लिया।

सचमुच जो पूर्व जन्म में अच्छे कार्य किये थे, रमेश के इस जन्म में प्रतिफलित हो रहे थे। पूर्व जन्म में निश्चित ही रमेश ने पुण्य कार्य किये होंगे तभी तो उसके जीवन में हर बार ऐसे मोड़ आ रहे थे कि जिन पर मुड़ने वाला रास्ता केवल पुण्य की ओर जाता था और हर मोड़ अपने पीछे अनगिनत पाप को अपने साथ रोक लेता था। यही वजह थी कि रमेश का आगे का पथ पाप के कंटकों से मुक्त तथा पुण्य के पुष्पों से संयुक्त होता जा रहा था। अब तो लगता ही नहीं था कि रमेश पूर्व में बहुत नटखट, नन्हा बालक था।

**श्रद्धा का फूल हृदय में मेरे खिला दो।
सम्यक् ज्ञान का दीपक हृदय में मेरे जला दो।।
हम चले मोक्ष मग में हरो अज्ञान मोह तन को।
मिले जब तक न मुक्ति हमको तेरा दरबार खाली हो।।**

(14) विष को मारा विश्वास ने-

दुनिया में अचरज करने वाली अनेक घटनायें होती हैं। या यूँ कहें कि सारी दुनिया ही चमत्कारों से भरी पड़ी है। कोई भी धर्म ऐसा नहीं जिसमें चमत्कार की घटनायें नहीं हों। मानव मन भी चमत्कार के अभाव में अपने धर्म के प्रति ही प्रश्न लगाकर खड़ा हो जाता है। इतना ही नहीं अपने से इतर धर्म के प्रति चमत्कार के चक्कर में आकर्षित हो जाता है। आकर्षित ही नहीं होता वह तो अपना धर्म छोड़कर चमत्कार के धनी धर्म को अपना भी लेता है तथा अपने धर्म का परित्याग भी कर देता है।

अज्ञानता ही चमत्कार को नमस्कार करने का मूल कारण है। ज्ञान का तो अभाव होता है; परन्तु रागद्वेष का सद्भाव होता है। खासतौर से शरीर, मन और इन्द्रियों को प्रभावित करने वाला कोई भी कार्य व्यक्ति को उसी का दीवाना बना देता है। शरीर में रोग हुआ और किसी ने किसी विद्या, दवा या मंत्र आदि से उसे ठीक कर दिया। यदि रोग साधारण हुआ तब तो कोई बात नहीं; किन्तु यदि रोग सचमुच ऐसा हुआ कि किसी के वश का नहीं रहा और उस असाध्य रोग को जिसने ठीक कर हमें स्वस्थ किया, समझ लो वह व्यक्ति उसे चमत्कार मानकर उसी का भक्त हो गया। किन्तु यदि उस मनुष्य को यह ज्ञान हो जाय कि चाहे सिद्ध हो या वैद्य अथवा दवा हो या दुआ अथवा तंत्र-मंत्र उसी समय कार्य करता है जब उसका शुभकर्म का

उदय हो। शुभकर्म का फल मिलता है तब अनहोनी भी होनी बन जाती है तथा हर बुरा निमित्त भी अच्छे निमित्त के रूप में परिणत हो जाता है।

एक बार, एक आदमी के शरीर में कीड़े हो गये। शरीर का कोई एक भाग ही नहीं पूर्ण शरीर ही कीड़ों के काटने से इतना तीव्र दर्द देने लगा कि दर्द एकदम असह्य हो गया। जो भी दवा लेता, दर्द कम होने के स्थान पर और भी अधिक बढ़ जाता। कोई डॉक्टर नहीं, कोई वैद्य नहीं, कोई हकीम नहीं, कोई मांत्रिक नहीं, कोई तांत्रिक नहीं, कोई गुनिया नहीं, कोई ओझा नहीं जिसकी शरण में वह नहीं गया हो। जीवन की भीख माँगने के लिये ऐसा कोई सा उपाय था जो उसने नहीं किया हो। यहाँ तक कि ईश्वर, अल्लाह, गुरु एवं अपनी सामर्थ्य के अन्दर समस्त देवी-देवताओं के दरबार में भी फरियाद लगायी। मगर नतीजा रहा वही ढाक के तीन पात अर्थात् रोग और दर्द नहीं मिटा। निराश हो पूरी तरह टूट गया। ऊपर वाले से भी नाउम्मीद हो गया तब उसने अपनी जीवन लीला ही समाप्त करना बेहतर समझा। ताकि न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी अर्थात् जब शरीर ही नहीं रहेगा तब रोग भी नहीं रहेगा और रोग ही नहीं रहेगा तब दर्द भी नहीं रहेगा। इतनी शक्ति भी नहीं बची थी कि गले में फाँसी का फन्दा डाल पाता या किसी कुआँ-बावरी पर चढ़कर उसमें कूदकर जान दे पाता। बड़ी मुश्किल से चूहे मारने वाले विष का बहाने से प्रबन्ध किया। फिर भी आशा का दामन नहीं छोड़ा तथा जीवन के उन निराशा और अन्तिम दुःख भरे क्षणों में अपने इस घृणित कृत्य के लिये ईश्वर से आँसू बहाते हुये क्षमा माँगी और न चाहते हुये दर्द की असहनीय वेदना लिये चुपचाप विष पी लिया। किसी को भी पता न चले इसीलिये घर के दरवाजे, खिड़की तक बन्द कर लिये।

विष की तीव्रता ने अपना असर दिखाया तथा रोग के दिये दर्द से भी अधिक विष की बैचेनी ने उसे चेतना शून्य कर दिया। काफी देर बाद अचानक उसकी चेतना वापिस आ गयी। उसने आँखें खोलीं तो लगा कि वह मरकर भूत हो गया है तभी तो उसके शरीर में बिल्कुल भी दर्द नहीं हो रहा; किन्तु यह क्या शरीर का प्रत्येक अंग अपनी पूर्व स्थिति की भाँति कार्य कर रहा था। अपने हाथों से अपने ही पूरे शरीर को स्पर्श किया तो उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। अब तो वह झटके से उठा और एक-एक वस्तु को छूने लगा। उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि वह जीवित है। यदि वह जीवित है तब उसके लिये विष का क्या हुआ? किन्तु सत्य तो सत्य है, वह कभी छिपता नहीं है। विष ने अपना पूर्ण प्रभाव दिखाया; किन्तु विष से वह व्यक्ति तो नहीं मरा, हाँ उस व्यक्ति के अन्दर फैले विषैले कीटाणु अवश्य विष के प्रभाव से मारे गये और वह पुनः स्वस्थ हो गया, सुखी और सन्तुष्ट हो गया।

बन्धुओ, किसी की मौत ही चमत्कार बन जाती है फिर मृत्यु को आमंत्रित करने वाला विष ही मौत की मौत बन जाये इससे बड़ा और चमत्कार क्या होगा? न हत्या हुई, न आत्महत्या; अपितु जीवन ने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली। इसमें भले ही सभी को कोई चमत्कार नजर आता हो मगर जैनधर्म और जैनदर्शन

के अनुसार यह कोई चमत्कार नहीं है। जैन सिद्धान्त मानता है कि “जब भी शुभकर्म उदय में आता है तब बुरे और दुःख देने वाले निमित्त भी शुभ और सुख देने वाले निमित्त के रूप में बदल जाते हैं।” यही हुआ है इस घटना में जब तक उस व्यक्ति का अशुभ कर्म का उदय था तब तक हर दवा भी विष का रूप ले रही थी; किन्तु जब शुभकर्म का उदय आया तब विष भी अमृत बन गया। मृत्यु भी जीवन लेकर आ गयी। अब खुद ही निर्णय करो कि हमारी मान्यता सच है या जैनदर्शन की।

जैनदर्शन आत्मकल्याण हेतु कभी भी चमत्कारों को मान्यता नहीं देता बल्कि जैनदर्शन के अनुसार चमत्कार स्वयं हमारे पुण्य या पाप के फल हैं। जो भी इन चमत्कारों को नमस्कार करता है तथा चमत्कार करने वाले व्यक्ति या देवी-देवता को ही भगवान या सर्वशक्तिमान मान लेता है वह तो सिर्फ संसार में चक्कर लगाने का उपाय करता है तथा चौरासी लाख योनियों में भटक-भटककर केवल दुःख उठाता रहता है और जब तक उसे इन चमत्कारों के पीछे छिपे सच का पता चलता है तब तक कोई नया चमत्कार सामने आ जाता है और मानव इन्हीं चमत्कारों की दुनिया में खोकर स्वयं रहस्य बन जाता है।

(15) सत्य का साक्षात्कार-

रमेश की अन्तरात्मा में उभरे मात्र इस एक प्रश्न ने रमेश की जीवन की धारा ही बदल दी। रमेश के सोच की दिशा एवं अन्तरंग की दशा भी बदल गयी। अब तो रमेश सोच रहे थे कि शक्ति, सुख एवं शान्ति इस वैभव में नहीं है और न ही इस धन के माध्यम से सच्ची शान्ति एवं सुख को प्राप्त किया जा सकता है। यदि कदाचित् प्राप्त किया जा सकता होता तो सारा सुख एवं सारी शांति अमीरों के घर की शोभा बढ़ा रही होती तथा अमीरों की जायदाद का हिस्सा बन उनकी तिजोरियों में कैद होती। जबकि अमीरों को भी गरीबों की तरह रोते-बिलखते, बीमार होते तथा परेशान होते, दुःख भोगते हुये देखा जाता है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि गरीब इलाज सस्ते में करा लेते हैं उसी रोग के इलाज हेतु अमीर लाखों-करोड़ों खर्च कर देते हैं जिसके लिये गरीब सैकड़ों रुपये खर्च करने को भी तरस जाता है।

मानलो गरीब और अमीर दोनों को ही ऐसा रोग हो गया जो लाइलाज है तथा डॉक्टर ने भी साफ मना कर दिया कि अब दवा नहीं दुआ की जरूरत है उस स्थिति में गरीब और अमीर दोनों का ही पुण्य क्षीण है फिर भी गरीब अपनी निश्चित मौत को जानते हुये अधिक आकुल-व्याकुल नहीं होता। दर्द से बेहाल तो होता है मगर इलाज को मुँहताज नहीं होता; क्योंकि इलाज है ही नहीं तब इलाज का प्रदर्शन करने से क्या लाभ? किन्तु एक अमीर की सोच पुण्य क्षीण होने पर भी नहीं बदलती। डॉक्टर के जवाब देने एवं असमर्थता व्यक्त करने पर भी वह उसकी पुष्टि और अनेक जगह करता है तथा जानते हुये भारी-भरकम राशि इस आशा में खर्च करता है कि धन खर्च से प्रभावित होकर शायद बीमारी का मन पिघल जाय। मगर अन्त में भारी खर्च करने पर भी निराशा ही हाथ लगती है।

गरीब को तो मात्र मृत्यु का ही दुःख होता है जबकि अमीर दो-दो दुःख लेकर मरता है एक बीमारी का दुःख दूसरा खर्च का। इसीलिये जो समझदार, विवेकशील, अमीर है, पुण्य के अच्छे-बुरे फल को समझते हैं वह आँख खोलकर खर्च करते हैं। आँखें बन्दकर कोई भी खर्च नहीं करते। जानते हैं कि उस राह पर क्या जाना जो मेरी मंजिल की ओर नहीं जाती। पुण्य के अभाव में समता परिणाम धारण करते हैं।

अचानक रमेश के जेहन में बिजली सी कोंध गयी कि मैं जिस दिशा में जा रहा हूँ क्या यह राह उस मंजिल तक पहुँचेंगी? मुझे भी तो अनन्त, अक्षय, अजर-अमर अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करना है। क्या यह अमीर बनने से मिलेगा या फिर जिन्होंने इसे प्राप्त किया है, उनके बताये एवं उन्हीं के चले हुये मार्ग पर चलकर प्राप्त होगा? अमीर भी दुःखी हैं तथा मुनिवर के चरणों में सुख-शांति का मंगल आशीर्वाद माँगते हैं। इसका अर्थ है कि इसी वीतरागी दिगम्बर मार्ग पर चलकर ही सच्चे सुख एवं सच्ची शांति को प्राप्त किया जा सकता है। सुख एवं शांति तन एवं धन संग्रहों में नहीं विरक्ति एवं त्याग में ही निहित है। क्यों न मैं भी उसी राह पर चलकर उसे प्राप्त करूँ।

एक तरफ रमेश के अन्दर अंकुरित वैराग्य के बीज ने आकार लेना प्रारम्भ कर दिया तथा वैराग्य दिन दूना रात चौगुना बढ़ रहा था। पता नहीं कि पूर्णमासी के चाँद की तरह पूर्ण वृक्ष का रूप ग्रहण करते स्वयं रमेश को भी इसका अहसास नहीं था। रमेश स्वयं बहुत बड़ी दुविधा के शिकार थे; क्योंकि एक तरफ रमेश का वैराग्य था तब दूसरी तरफ रमेश का ही राग था जो पिता नाथूराम एवं भाई केवलचन्द नित्य रमेश के लिये लड़कियाँ देख रहे थे; किन्तु लगभग सैकड़ों लड़कियाँ देखकर भी रमेश के योग्य लड़की उन्हें नजर नहीं आयी थी।

जब भी वह कोई लड़की देखने जाते थे घर में खुशी की बहार आ जाती कि इस बार जरूर पसन्द की लड़की मिलेगी तथा नई बहू आने से घर में खुशियाँ छा जायेंगी। शानदार बारात जायेगी धूमधाम से शादी होगी, नृत्य भी होगा, गाना-बजाना भी होगा तथा नगर-भोज भी किया जायगा। बाहर से आतिशबाजी आयेगी। बारात में शोकार, मोर कार, घोड़े एवं तीन-तीन बैण्ड भी शोभा बढ़ायेंगे। यह तो अरमान थे पिता नाथूराम एवं अन्य भाइयों के। वहीं माताजी भी मन ही मन फूली नहीं समाती थी कि लड़के की शादी होगी, नई बहू घर आयेगी। बहू तो साक्षात् गृहलक्ष्मी होती है, न जाने कौनसा शुभ भाग्य लेकर आये जो घर की खुशियों में चार चाँद लग जायें तथा मुझे भी अब इस बुढ़ापे में कामकाज से छुट्टी मिल सके।

अपनी-अपनी खुशियाँ, अपनी-अपनी सोच एवं अपने-अपने साथ ही अपनी-अपनी उमंग और अपना-अपना उत्साह। कोई किसी से कम नहीं था सभी मन ही मन खुशियों के लड़्डू खा रहे थे। कौन होगा जो अपनों के द्वारा प्राप्त खुशी में आनन्दित न हो एवं अपनों से प्राप्त जख्मों से घायल न हो तथा अपनों से प्राप्त दुःख से दुःखी नहीं हो। परन्तु यही तो खुशियों के केन्द्र थे रमेश। जिन्हें दूल्हे के रूप में देखने का

स्वप्न संजोये सभी प्रफुल्लित थे चाहे माता-पिता हो या बहिन-भाई या नाते-रिश्तेदार अथवा दोस्त; सभी के अन्दर शादी का जज्बा हिलोरे मार रहा था। अभी शादी क्या सगाई भी नहीं थी जब इतनी खुशियाँ थी, फिर शादी के समय तो यह खुशियाँ परवान चढ़ना थी। इन्हें संभालना भी मुश्किल हो जाना था।

**आशाओं के तार बंधे हैं, तेरे श्वांसों की तारों पर।
तू यदि अग्नि में कूद पड़े, खिल जाँ फूल अंगारों पर॥
अब झूम उठेंगे इक क्षण में, अपने सब स्वयं इशारों पर।
सब बंधे हुए हैं जगवासी, अपने-अपने व्यवहारों पर॥**

होनी को किसने देखा है, कब किसके साथ क्या घट जाय, किसे पता है? स्वयं राम नहीं जानते थे कि अगले दिन राजतिलक की खुशियाँ बिखेरेंगी या वनवास का गम। क्या तीर्थकर नेमिकुमार जानते थे कि वह बाराती जो उनके साथ थे, खुशी नहीं गम को प्राप्त करेंगे तथा उन्हें वरमाला नहीं वनगमन करना पड़ेगा। मगर जो सच है वह होकर रहता है, उसे कोई भी टालने में समर्थ नहीं है। यदि होता तो तीर्थकर नेमिनाथ की भविष्यवाणी को सुनकर द्वारका को भस्म होने से बचाने वाले मुनि द्वीपायन के द्वारा द्वारका भस्म नहीं होती और न ही जंगल में जा चुके कृष्ण को मृत्यु से बचाने वाले जरतकुमार के ही हाथों स्वयं नारायण कृष्ण की मृत्यु होती।

(16) जीत राग की या वैराग्य-

शायद ऐसा ही हो रहा था रमेश और रमेश के परिवार के साथ। जहाँ रमेश का परिवार रमेश की शादी को लेकर अत्यधिक उत्साहित था वहीं रमेश मन ही मन कामना कर रहे थे कि इस वर्ष शादी टल जाय फिर में अवश्य ही अपने कल्याण हेतु वैराग्य के मार्ग पर चला जाऊँगा। रमेश को पता था कि इस वर्ष विरागसागरजी का चातुर्मास सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि में होने जा रहा है। इसीलिये वह किसी न किसी बहाने शादी को टालकर मुनिश्री का सान्निध्य पाना चाहते थे ताकि स्वयं को परख सकें कि वह साधना के योग्य हैं अथवा नहीं।

दोनों विचारधारारयें अपनी-अपनी जगह सही थीं। यदि संसार नहीं होता तो संसार से मुक्ति की जरूरत ही क्या थी? संसार से मुक्त होकर भी प्राणी रहता तो संसार में ही है। हाँ, उसके साथ कर्मों का बन्धन नहीं होता। स्वाधीन आत्मिक सुख का स्वामी एवं भोक्ता होता है। एक विचारधारा राग की थी जो शादी के माध्यम से सन्तति बढ़ाकर संसार वृद्धि का कारण है। यदि यह व्यवस्था पूरी तरह समाप्त हो जाय तब तो अराजकता फैल जायगी अथवा शादी के अभाव में संसार स्वतः समाप्त हो जायेगा।

स्वयं सोचो, क्या होगा परिणाम शादियाँ समाप्त करने का। प्राणी की काम-पिपासा तो सताती है। सभ्य समाज इसकी पूर्ति मर्यादा में करने के लिये शादी का रास्ता अपनाता है ताकि प्राणी मात्र एक तक

सीमित रहे चाहे पुरुष हो या नारी। यदि शादी न हो तो कामवासना की पूर्ति कैसे होगी? कैसे मर्यादा कायम होगी और कैसे सन्तान पैदा होगी? या तो सभी को खुली छूट हो संज्ञा पूर्ति की; किन्तु यह संभव नहीं अन्यथा रिश्तों का क्या होगा? रिश्तों के साथ-साथ संसार भी सन्तति के अभाव में एक न एक दिन समाप्त हो जायगा; क्योंकि पुराने सभी समाप्त हो जायेंगे नया कोई नहीं होगा तब संसार तो समाप्त होगा ही। इसीलिये संसार को समाप्त होने से बचाने एवं सामाजिक मर्यादा तथा रिश्तों की मान्यता रखने के लिये शादी आवश्यक है। इसलिये यदि माता-पिता, बच्चे की शादी की चिन्ता करें तथा शादी के उपाय भी करें तो इसमें अचरज कैसा?

द्वितीय पक्ष वैराग्य का भी उतना ही सशक्त है। यदि संसार में ही सुख एवं शांति होती तो सर्वाधिक विभूति एवं सुखों का स्वामी इन्द्र क्यों मुक्त होने की कामना करता? यही नहीं सुदर्शन चक्रधारी चक्रवर्ती सम्राट छयानवें हजार रानियों का पति भी अपना सारा वैभव छोड़कर क्यों दीक्षा धारण कर तप की कठोर अग्नि तपता। इसका अर्थ तो यही है कि संसार का सुख, सुख नहीं सुखाभास है। पराश्रित है, कर्माधीन है, जब तक पुण्य है तभी तक प्राप्त होता है। पुण्य क्षीण होते ही पलभर में विनश जाता है। इसीलिये जिसे इस सत्य का ज्ञान हो जाता है वह सर्वप्रथम स्वयं को पहचानने का प्रयत्न करता है, स्वयं को पहचानते-पहचानते पराये की भी परख कर लेता है; किन्तु यह निज-पर का नाता इतना कमजोर नहीं कि जरा-सी ढील हुयी कि अनन्त भव तक यह बन्धन बढ़ जाता है।

यह हाल तो उसका जो भयभीत है संसार के दुःखों से तथा सच्चा सुख प्राप्त करना चाहता है और उनके लिये वैराग्य का ही मार्ग श्रेयस्कर है। किन्तु उनका क्या है जो संसार के दुःख को दुःख नहीं मानते तथा संसारी माया-मोह तथा नाते-रिश्तों के अपने अनुकूल होने के सुख एवं प्रतिकूल होने को दुःख मानते हैं। वही पहले पक्ष का पोषण करते हैं तथा दुःख आते ही घबड़ाकर संसार को कोसने लगते हैं तथा वैराग्य की बातें भी करने लगते हैं। किन्तु इनका वैराग्य सतही होता है, जरा-सी अनुकूल स्थिति आई नहीं कि फिर से राग-रंग की बातें। वही अपनों की बढ़ाई एवं परायों की बुराई।

परन्तु समय रहते जो चेत जाते हैं तथा संसारी सुख एवं दुःख को पहचान लेते हैं वह फिर कभी भी संसार के कुचक्र में नहीं फसते तथा पिछले चक्र को भी काटने का समग्र प्रयास करते हैं। यही भावना जागृत हो चुकी थी रमेश के अन्दर। यही वजह थी कि रमेश को वर्षायोग में अवसर मिला महामुनि विरागसागरजी के दर्शन का और रमेश ने इस अवसर का लाभ भी लिया तथा सीधे महाराज से निवेदन कर दिया कि महाराज, मैं संघ में रहकर साधना करना चाहता हूँ। महाराज ने सोचा कि शायद घर में किसी से झगड़ा हो गया होगा अथवा शादी-शुदा है तो पत्नी से नहीं बनती होगी इसीलिये भावावेश में ऐसा कह रहा है। देखने से तो नहीं लगता कि कल तक जो छोटे-छोटे प्रश्न पूछकर धर्म का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त कर रहा था वह

तप की कठोर साधना सह सकेगा ? फिर भी उन्होंने कह दिया कि चार माह का वर्षायोग चल रहा है चाहे तो रहकर देख लो । मैं भी तो देख लूँ कि तुम्हारी योग्यता कितनी है तथा तुम सच में रहने लायक भी हो या नहीं ?

गुरु महाराज की स्वीकृति मिलते ही रमेश वहीं पर रह गये तथा दो ही दिन में अपनी लगन से साबित कर दिया कि वह साधना के योग्य हैं । गुरुवर विरागसागर ने भी जान लिया कि रमेश होनहार प्रबल है ; परन्तु माता-पिता की अनुमति के बगैर संघ में किसी को व्रती श्रावक के रूप में रखना भी आगम-सम्मत नहीं था । इसीलिये द्रोणगिरि सिद्धक्षेत्र के पर्वत पर दोपहर में गुरुवर ने रमेश से कहा-रमेशजी ! तुम अपने माता-पिता से अनुमति लेकर आ जाओ । तब रमेश बोले-किन्तु वह तो अनुमति नहीं देंगे । क्योंकि रमेश को पता था कि माता-पिता क्या सभी रमेश को बहुत चाहते थे । इसीलिये अपने से दूर होने की वह सोच भी कैसे सकते थे ?

गुरुवर समझ गये, उनकी पारखी नजरों ने रमेश के अन्दर संकोच की दीवार में छुपी मोह की हल्की सी मूर्ति को देख लिया । फिर भी स्थिर चित्त होते हुये मगर प्रोत्साहित करते हुये कहा-अनुमति मिलती नहीं वह तो प्राप्त की जाती है । खुद पर विश्वास हो एवं उद्देश्य सही हो तथा मन में संकल्प दृढ़ हो तब अनुमति तो कहीं से भी प्राप्त की जा सकती है । इसी के साथ गुरुवर ने वात्सल्य भाव से अनेकों ऐसे उद्घरण एवं घटनायें सुनार्यीं जिससे घर वालों के प्रबल मोह, मोह में दी गयी धमकियाँ एवं यातनायें साथ मोह में आये पागलपन के वशीभूत लगाये गये घनघोर प्रतिबन्ध ; परन्तु जिनकी भव्यता निकट थी उन्हें कोई न बाँध सका ।

मोह के मारे जब वश नहीं चलता तब खुद ही मर जाने या जाने वाले से परिवार भर को विष देकर मारने की बातें करते हैं । मगर जब वश नहीं चलता, रोना-पीटना, आँसू बहाना, उलाहना देना, खरी-खोटी सुनाना, घर की जिम्मेवारियों का अहसास दिलाना आदि अनेक प्रयास करते हैं । यही नहीं अन्तिम अस्त्र के रूप में तो वह जाने वाले का मान-सम्मान भी भूलकर अपमान करने पर भी उतर आते हैं । कभी-कभी तो शिष्यों की सजा गुरुओं तक को भोगनी पड़ती है ; परन्तु सम्यक्दृष्टि, संकल्प के धनी अटल आत्मविश्वासी अन्त में सभी से अनुमति प्राप्त कर ही लेते हैं ।

रमेश ने गुरुवर की बात पूरी तल्लीनता से सुनी एवं मन ही मन खुद भी इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने का निश्चय कर कहा कि अच्छा गुरुवर ! मैं अनुमति के लिये जा रहा हूँ । तब गुरुवर ने स्वाभाविक जिज्ञासावश पूछ लिया-वापिस कब आओगे ? तब रमेश ने कहा-दो या तीन दिन में आ जायेंगे । तब पुनः गुरुवर ने आश्वस्त होने के लिये पुनः पूछ लिया-दो या तीन दिन में आ जाओगे ? तब रमेश ने कहा-हाँ, वहाँ पर क्या करना है ? कहना ही तो है फिर चला आना है । तब गुरुवर ने कहा-यह इतना आसान नहीं है । तुम्हारे

घरवाले तुम्हारे बारे में घर-गृहस्थी के बावत बहुत से स्वप्न संजोये होंगे। तेरी वैराग्य भरी बातों से उनकी भावनाओं को इतनी गहरी ठेस पहुँचेगी कि वह उसे सहन नहीं कर पायेंगे; क्योंकि तुझे यहाँ आने की अनुमति देने का अर्थ है उनके सुनहरे स्वप्नों का चूर-चूर होना तथा आती हुयी खुशियों का लौट जाना।

गुरुवर के संबोधन पर रमेश ने कहा-नहीं गुरुवर, अब मुझे कोई नहीं रोक सकता। तब गुरुवर ने भी लगभग अन्दर के भाव जगाते हुए कहा कि रमेश यदि सभी ने रोना-धोना शुरू कर दिया तब? सचमुच रमेश संकोच में आ गये तथा बोले लेकिन मुझे तो दूसरों को रोता देखकर खुद रोना आता है। गुरुवर ने भी रमेश के अन्दर लगी गाँठ को पकड़ते हुये कहा तो दूसरों को रोता देखना तुम्हारी कमजोरी है।

परन्तु आज रमेश की वह कमजोरी भी बाधा बनकर खड़ी नहीं रह सकी। पूरे दृढ़ निश्चय के साथ रमेश घर पहुँचा एवं अपने गुरुवर विरागसागर के संघ में साधना हेतु जाने की चर्चा ही की कि घर में कोहराम मच गया। सभी ने ऐसे चिल्ला-चिल्लाकर रोना शुरू कर दिया, मानों किसी की मृत्यु का समाचार सुन लिया हो अथवा व्यापार में बहुत बड़ा घाटा पड़ गया हो। कोई भी रमेश की बात मानना क्या दोबारा सुनना भी नहीं चाहता था।

एक बार पड़ोसी भाई संजय ने कहा- क्यों व्यर्थ ही जाने की जिद कर रहे हो, घर पर रहकर ही साधना करो। तब रमेश ने कहा- हम गुरुजी को आने का वचन देकर आये हैं यदि आप मना करते हैं तो आप संघ में चले जाइये, हम रुक जाते हैं। निरुत्तर होकर वह अपने घर की ओर चलते बने।

सभी ने अपने-अपने तरीके से रमेश को मनाने का प्रयास किया; किन्तु रमेश एक चट्टान की तरह अडिग रहे। न तो किसी के बहते आँसू ही उसे पिघला सके और न ही किसी के क्रोध ने रमेश के अन्दर कंपन पैदा की। कोई रमेश से समझाने की बात करता तो स्वयं रमेश ही उसे समझा देते। अब तो किसी में साहस ही नहीं हो रहा था जो रमेश से बात करें। इसीलिये सभी ने एक राय करके रमेश को जन्म स्थान के गाँव कुपी भेज दिया तथा रमेश की हर गतिविधि पर नजर रखी जाने लगी। साथ ही रमेश के कहीं भी आने-जाने पर भी बन्धन लगा दिया गया ताकि बाहर से सम्पर्क खत्म हो जाय और रमेश सब कुछ भूल जाय।

लगभग दो माह गुजर गये। सभी सोच रहे थे कि बाहर का असर धीरे-धीरे कम हो रहा है; क्योंकि रमेश ने भी जानबूझकर चुप रहना ही उचित समझा। यही वजह थी कि रमेश की तरफ से कोई किसी प्रकार की शंका नहीं कर रहा था; परन्तु किसी को यह मालूम नहीं था कि रोग बाहर का नहीं अन्दर का है। वैसे भी वैराग्य तो भाव है जो जब तक अन्दर उत्पन्न नहीं हो तब तक बाहर का भेष आता ही नहीं। यदि कोई दिखावे के लिये झूठा वेश धारण करता है तो एक न एक दिन खुद की बदनामी तो कराता ही है, धर्म की बदनामी का भी कारण बन जाता है।

**वीतरागी संतों का देश नहीं, वेश पूज्य होता है।
संतों का देश वेश ही नहीं, उद्देश्य पूज्य होता है।।
संत विशद साक्षी हैं, मोक्ष मार्ग के प्यारे भाई।
संतों का आदेश और उपदेश पूज्य होता है।।**

रमेश के तो वैराग्य की अग्नि अन्दर प्रगट हो चुकी थी और अग्नि जब प्रगट होती है तब वह सब कुछ भस्म कर डालती है। यही हो रहा था, रमेश के अन्दर की आग ने भी मोह को जलाना शुरू कर दिया था। फिर चाहे माँ हो या पिता, भाई हो या फिर बहिन अथवा अन्य कोई भी नाते-रिश्तेदार या मित्र किसी के प्रति भी रमेश को पूर्व जैसा मोह का भाव नहीं रहा। बल्कि सभी के प्रति समता, प्यार और वात्सल्य का भाव भर गया; क्योंकि वैराग्य में राग तो छूटता है मगर राग छूटने का मतलब कभी भी द्वेष को धारण करना नहीं होता। न ही किसी की उपेक्षा अथवा अपमान का भाव रहता है बल्कि वैराग्य में तो हित-मित-प्रिय वचन बोलना प्रारम्भ हो जाता है। यहाँ तक कि यदि किसी के लिये सत्य सुनने में परेशानी हो तो अप्रिय सत्य से भी बोलने हेतु बचा जाता है। वैराग्य का अर्थ ही है परिणामों की निर्मलता फिर वैरागी जब स्वयं के परिणाम निर्मल करेगा तब उसके कारण दूसरे के परिणाम कैसे खराब हो सकते हैं?

कहते हैं जहाँ चाह है वहाँ राह है। रमेश को भी राह मिल ही गयी; क्योंकि कुपी से छतरपुर जाने का अवसर मिल गया। वहाँ पर कोई समस्या खड़ी हो गई जिसका समाधान रमेश के द्वारा ही संभव था वहाँ जाकर समस्या का समाधान कर रुक गये। यही तो रमेश चाहते थे इसीलिये रमेश ने भी अवसर पाकर गँवाना उचित नहीं समझा और अन्दर के निश्चय को पूर्ण करने हेतु कदम उठा लिया। हाँ, इतना अवश्य किया कि अपनी संघ में जाने की सामान्य सूचना पिताजी को पत्र के द्वारा भेज दी।

सूचना पिताजी को रात्रि में मिली तो रात्रि में एकदम बैचेन हो गये किन्तु बैचेनी से क्या होता था? रात्रि में कोई साधन जाने का था ही नहीं। पूरी रात्रि व्याकुल रहे। सुबह तक का समय जैसे-तैसे कटा। बस जाने के घंटों पूर्व ही बस में बैठ गये ताकि धोखे से भी बस चूक नहीं जाय। जैसे ही बस छतरपुर पहुँची, पिता नाथूरामजी बिल्कुल बिजली की गति से रमेश के पास पहुँचे तथा रमेश को देखकर ही उनकी साँस में साँस आयी। थोड़ी देर तो कोई संवाद ही कायम नहीं हुआ। मात्र रमेश ने औपचारिक व्यवहार का निर्वहन किया; परन्तु पिताश्री तो अवसर की तलाश में थे। मौका देखते ही पुनः समझाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। समझाते-समझाते जब रमेश पर वश न चलता तब खुद को भी संभाल नहीं पाते और जोर-जोर से विलाप करने लगते। आँसू तो झर-झर बहते ही फूट-फूटकर रोने भी लगते। कहते भी जाते, बेटा तू ही घर का तारणहार है, तू ही घर का पालनहार है, अरे तू ही तो घर का संचालन करता है, तेरे सहारे ही घर चलता है। मेरे बुढ़ापे का सहारा भी तो तू ही है। तू ही चला जायेगा तो क्या होगा घर का? सब कुछ बिखर जायेगा, सब कुछ समाप्त हो जायेगा, बसा-बसाया उपवन बरबाद हो जायेगा।

थोड़ी देर रुकने के बाद पुनः बोले पिताजी-बेटा ! क्या तेरी मेरे या घर के प्रति कोई जिम्मेवारी नहीं है? अरे मैं कब कहता हूँ कि तू धर्म नहीं कर अथवा अपने कल्याण का कार्य नहीं कर। यह दोनों कार्य कर मगर यह कार्य घर में रहते हुये भी संभव है। अरे देखो, उन्नीस तीर्थकरों ने भी गृहस्थी बसायी, पूरे भोग भोगे तथा घर-गृहस्थी के कर्तव्य का पालन किया तथा घर से ऐसे ही जिम्मेवारियों से डरकर पलायन नहीं कर दिया। फिर बोलो तुम क्यों हम सभी को कष्ट देकर सुखी रह सकोगे।

शायद तब रमेश से भी चुप नहीं रहा गया; किन्तु अब रमेश पर न तो क्रोध ही प्रभावी हुआ और न ही किसी भी प्रकार की झुंझलाहट ही प्रगट हुयी। बड़े ही शांत स्वर में पूरे सरल परिणामों एवं मधुर शब्दों में बोलना प्रारम्भ किया रमेश ने। पिताश्री ! आपने अपने पुत्र के प्रति क्या-क्या नहीं किया? मेरी हर सुविधा का ख्याल किया, मेरी हर परेशानी को दूर किया। आपने तो मेरे सुख में ही अपना सुख अनुभूत किया। अगर कभी मुझे खुशी देने के लिये भारी दुःख भी उठाने पड़े तब तो आप भी हँसते-हँसते दुःख का दरिया पार कर लिये; परन्तु भूलकर भी मुझे दुःख नहीं होने दिया।

जीवन में ऐसा भी होता है। सभी एक-दूसरे के काम आते हैं तथा जिनके अन्दर दया, करुणा, वात्सल्य एवं मैत्रीभाव होता है वह तो अपने क्या परायों का भी दुःख देख नहीं सकता। कभी ऐसा भी होता है कि अपनों के दुःख का कारण भी पराये नहीं अपने ही बन जाते हैं; क्योंकि जब दया, करुणा, प्रेम, वात्सल्य का स्थान कषाय, वैर, ईर्ष्या और स्वार्थ ले लेते हैं तब अपनेपन की सारी दीवारें टूट जाती हैं। परन्तु मेरा परम सौभाग्य था कि मेरे लिये आपके समान महान् पिता मिला और धरती से भी सहनशील पूज्य माँ तथा मेरे हरपल में मेरे सुख का ध्यान रखने वाले मेरे समस्त परिवार वाले जिनके हृदय में स्नेह का सागर भरा पड़ा है।

परन्तु पूज्य पिताजी मैं आप से पूछता हूँ कि आप क्या जीवन भर मेरा साथ दे सकते हैं? आपकी आयु पूर्ण होगी तब मैं लाख चाहूँ, मेरा मोह लाख पुकारे परन्तु पिताजी आप एक पल भी आयु से अधिक मुझे नहीं दे पायेंगे। यही सच है, यह सच सिर्फ आपके लिये ही नहीं है, मेरे लिये भी उतना ही सच है। यदि मेरी आयु इसी पल समाप्त हो जाय तब आप का मेरे प्रति मोह लाख पुकारे मगर क्या मैं आपका साथ अपनी उम्र से एकपल अधिक दे पाऊँगा? नहीं न ! तब फिर इतना मोह क्यों?

लगभग चीख ही पड़े पिताजी और इससे पहले कि क्रोध में शब्द निकालते खुद को संभालते हुये संयमित स्वर में बोले कि बेटा होनी हमारे वश में नहीं परन्तु हम जान-बूझकर अनहोनी करें यह भी तो उचित नहीं। जब तक साथ हैं तब तक तो साथ रहा जा सकता है तथा एक-दूसरे का सुख एवं दुःख बाँटा जा सकता है और इसमें बुराई ही क्या है? जगत् में दुश्मन भी साथ रह लेते हैं फिर तुम तो मेरे अपने होकर क्यों दुश्मनों की तरह आचरण कर रहे एवं मेरा दिल दुखा रहे हो। साथ ही अपनी माँ को बिना आयु पूर्ण किये ही मौत के मुँह में धकेल रहे हो।

नहीं पिताजी, यह भी सच नहीं है कहा रमेश ने। यह आप नहीं आपका मेरे प्रति मोह बोल रहा है। सोचिये पिताजी यदि आपको मुझसे मोह नहीं होता और घर के प्रति मेरा व्यवहार शुरू से ही इस तरह का होता कि सभी मुझसे नफरत करते। नफरत भी थोड़ी नहीं बल्कि इस स्तर तक करते कि मुझे घर से निकालने के तरह-तरह के उपाय सोचते? क्या ऐसा होता नहीं कि दुनिया में पिता-पुत्र एक-दूसरे का लम्बे समय तक चेहरा भी नहीं देखें और एक-दूसरे से मुँह भी नहीं बोलें। कभी-कभी तो पुत्र की शादी होते देर नहीं लगती और चूल्हे अलग जलने लगते हैं। किन्तु पिताजी हमारे साथ तो ऐसा हादसा नहीं हुआ। आपही सोचिये पिताजी, यह घटना हमारे घर में घट जाती तब क्या होता? आप जिस लड़की को बड़े अरमानों के साथ मेरे लिये ब्याह कर लाते, मेरी पत्नी बनाते; उसके रूप को, रंग को, पढ़ाई को, कुल को एवं बाहर की समस्त गुणों को तो आप सभी और मैं देख लेता किन्तु उसके अन्दर के गुणों को, उसके स्वभाव को किसने देखा, किसने जाना? आती और आते ही घर की सुख-शांति छीन लेती तथा दिलों में नफरत के ऐसे बीज बोती कि हम सभी कभी दूसरे से बोलना या साथ रहना तो दूर कभी एक-दूसरे का चेहरा भी देखना पसन्द नहीं करते। इससे अच्छा तो यही है कि ऐसी परिस्थिति आने ही न पाये और मुझे आप खुशी-खुशी जाने दें।

हाँ बेटा, खुशी ही तो चाहता हूँ मैं। किन्तु मेरी ये खुशी न केवल मेरे लिये है, न केवल तुम्हारे लिये अपितु सम्पूर्ण परिवार की खुशियों के लिये ही मैं तुम्हें वापिस घर ले जाना चाहता हूँ। परन्तु मुझे समझ नहीं आता कि तुम किस खुशी की बात कर रहे हो, यदि वहाँ पर ही खुशी बँट रही है तो हम सभी को भी साथ ले चलो। लेकिन क्यों ले चलोगे हम लोगों को साथ, अब तुम्हें तो तुम्हारी अकेली खुशी अच्छी लगती है, हम सभी की खुशी से शायद तुम्हें दुःख होने लगा है। इसीलिये तुम इतने स्वार्थी हो गये हो कि हम सबको बीच मंझधार में, दुःखों के सागर में डुबोकर तनहा ही खुशी प्राप्त करना चाहते हो।

तड़प उठा रमेश का दिल मगर पूरी तरह संयम रखा स्वयं पर तथा पुनः पूरी तरह शांति से समझाते हुये कहने लगे-पूज्य पिताजी, हमारे गुरु महाराज ने बताया है कि हमारे धर्म में कहा गया है कि न किसी की खुशी साथ होती है और न ही गम। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है कि हम पूर्व कर्मों एवं पूर्व संस्कारों के कारण एक-दूसरे की खुशी के निमित्त बन जाये अथवा एक-दूसरे की खुशी की जगह दुःख के कारण बन जायें।

**इस संसार में कौन किसका होता है।
औरों के लिए जिन्दगी व्यर्थ खोता है॥
कर्म बीज बोता है इन्सान मोह में फंसकर।
कर्म के फल से अपनी करनी पर रोता है॥**

किन्तु यह सब तो भ्रम है, खुशी गम का यह खेल हमेशा नहीं चलता। जब तक जिसके साथ खुशी लिखी होती है बस उतने समय तक ही वह हमारी खुशियों में साथ निभा सकता है और जब तक किसी के द्वारा हमें दुःख देना बँधा है उसके बाद वह पलभर भी दुःख नहीं दे सकता। मेरा आपका साथ खुशियों भरा इतने ही दिनों तक था। हाँ मैं तो आपको कोई दुःख नहीं दे रहा ये तो मोह है, जो सभी को रुलाता है तथा रोने वाले के दुःख का कारण बनता है। इसलिये पिताजी आप मोह को छोड़ें और मुझे मेरे कल्याण की राह पर चलने दें।

परन्तु पिताजी तो पिताजी थे बोले-तू नहीं, तेरा अहंकार बोल रहा है। मुझे इतनी उम्र पाकर जो ज्ञान नहीं हुआ, उस ज्ञान की बातें तू चार दिन क्या मुनियों के साथ रह लिया कि ज्ञान की लम्बी-चौड़ी बातें बंधारने लगा। किन्तु क्या करूँ भूल मेरी ही थी जो तुझे इतनी स्वतंत्रता प्रदान कर दी। उसी स्वतंत्रता का परिणाम है जो मुझे जीते जी मार रहा है। पलभर भी चैन की साँस नहीं लेने देता। इतना भी नहीं सोचता कि क्या इस बुढ़ापे में मुझे औलाद की सेवा नसीब नहीं होगी? अरे न सही मेरी सेवा, मैं कभी जीवन में अपने लिये तुझसे मदद या सेवा की बात नहीं करूँगा। बस एक बात मेरी मान तू सब कुछ कर परन्तु घर में रह।

बड़ी भारी विडम्बना थी रमेश के साथ। ऐसा धर्म संकट कि जिसमें से निकलना चाहता मगर जितना निकलता उतना ही फंसता चला जाता। कोई रास्ता भी रमेश को नजर नहीं आ रहा था। मन ऐसे दोराहे पर खड़ा था कि चाहकर भी कोई स्पष्ट निर्णय नहीं ले पा रहा था। एक तरफ माता-पिता सहित सभी का मोह अपनी ओर खींच रहा था तो दूसरी तरफ अपने ही कल्याण का सुअवसर सामने देख बार-बार मन स्वकल्याण करने को फड़फड़ा रहा था।

दुविधा की स्थिति आ चुकी थी, रमेश ने सोचा भी नहीं था कि ऐसी परिस्थितियाँ आती होगी दीक्षा लेने वालों के साथ। उसी समय रमेश के कानों में गुरुवर विरागसागर के कहे शब्द गूँज उठे कि घरवाले हर तरह के उपाय अपनायेंगे तुम्हें रोकने के लिये; परन्तु सच्चे श्रद्धानी वही हैं जो सभी परिस्थितियों का शांति सहित, विवेकपूर्वक सामना करें एवं हर हालत में माता-पिता की स्वीकृति लेकर आयें। बस क्या था अब रमेश ने तर्क-वितर्क करने से अच्छा कुछ समय पिताजी को धर्म की राह बताने एवं गुरुकथित आगम का ज्ञान कराने की सोची एवं बिना पल गँवाये उसे प्रारम्भ कर दिया।

जब रमेश को लगा कि अब पिताश्री मेरे बगैर रहने में सक्षम हो गये हैं तब पुनः उन्होंने अगले ही दिन द्रोणगिरि जाने का निश्चय कर लिया। इधर पड़ोसी दादा मोतीलालजी ने पिताजी को बताया कि रमेश मुझे बताकर द्रोणगिरि चला गया है। फिर क्या था पुनः वही कोहराम, हो-हल्ला, रोना-चीखना मगर अब क्या था रमेश तो निकल गये थे। छोटे भाई के साथ स्कूटर पर बैठकर पिताजी द्रोणगिरि पहुँचे तो रमेश को पुनः

मुनि निर्णयसागर के पास बैठकर जाप करते पाया। कई बार पिताजी एवं भाई ने बुलाया संकेत भी किया परन्तु रमेश ने नहीं सुना। पूरी तरह से अनसुना करते देख रमेश का दो-चार बार हाथ पकड़कर खींचने का प्रयास किया फिर भी रमेश न बोले न होठ खोले।

लगभग एक घंटा व्यतीत होने पर रमेश को लघुशंका की इच्छा हुयी। लघुशंका से निवृत्त होने बाहर आये तो लौटते वक्त पिताजी एवं भाई ने हाथ पकड़कर बलपूर्वक पकड़ लिया किन्तु इस तरह बल प्रयोग में रमेश गिर गये तो उन्हें दोनों ने घसीटना प्रारम्भ कर दिया। रमेश ने भी जब अपना कोई उपाय चलता न देख तब युक्ति से काम लिया द्वार के पास में पैर अड़ा दिया। एक पैर छुड़ाते तो दूसरा पैर अड़ा देते।

इस तरह का शक्ति प्रदर्शन देख वहाँ भीड़ इकट्ठी हो गयी। किसी की भी शक्ति नहीं हो रही थी कि पिता-पुत्र के बीच कोई बोले बल्कि किसी बड़ी अनहोनी की आशंका से भयभीत हो रहे थे तथा भगवान से विनय कर रहे थे कि प्रभु कोई अनहोनी होने से पहले ही इस समस्या का सम्मानजनक समाधान निकालो।

पिताजी का जब बस न चला तो जोर-जोर से चीखने लगे, चिल्लाने लगे। सभी लोग बुरी तरह परेशान हो उठे कि भगवान यह क्या हो रहा है। क्या यही धर्म है क्यों इस प्रकार की आपस में छीना-झपटी हो रही है? धर्म का रास्ता तो शांति का है फिर यहाँ क्यों क्रान्ति मची है। अचानक रमेश उठे और अपने कपड़े फाड़ने लगे तथा घोषणा कर दी मैं आज अभी इसी समय मुनि बनूँगा और यह कहते ही जोर से बालों को अपने हाथों से निकालना शुरू कर दिया।

आखिर में पिताजी ने ही हार मान ली और रमेश महाराज की ओर जाने लगे तो भावुकता में एक पराजित योद्धा की भाँति गुस्से में भरकर बोले-जा बेटा जा, जब तूने मन में ठान ही ली है तो जा; लेकिन जाने से पहले ही मैं तुझे बिना दीक्षा लिये ही मुनि मान लेता हूँ और रोते हुये ही उन्होंने रमेश के सचमुच लिपटते हुये पैर पकड़ लिये। रमेश का दिल बुरी तरह से काँप उठा, रोम-रोम खड़ा हो गया और आँखों से भी बरबस आँसू निकल गये; किन्तु कहने-सुनने का समय तो समाप्त हो गया था इसीलिये सभी एकदम चुप एवं शांत हो गये।

उसी समय रमेश ने प्रतिज्ञा कर ली कि जब मेरे पूज्य पिताजी ने मुझे बगैर दीक्षा लिये ही महाव्रती साधु स्वीकार कर लिया एवं चरण-वंदन कर लिया तब तो दीक्षा लेना ही है तभी पिताजी के वचन पूर्ण होंगे।

पलभर को असहज हुये रमेश ने पलक झपकते ही स्वयं को नियंत्रित किया एवं पुनः पिताजी को सम्मान देते हुये कहा-अच्छा पिताजी, मैं संघ में शामिल होने जा रहा हूँ।

किन्तु पिताजी के पास तो शब्द ही समाप्त हो चुके थे। वाणी भी स्थिर हो गयी थी बल्कि यूँ कहना युक्तियुक्त होगा कि मोह में डूबे पिताश्री को तो लग रहा था कि उनकी तो दुनिया ही लुट गयी, बर्बाद हो गयी। न घर जाने की इच्छा हो रही थी और न ही वहाँ रुकने की। एक अजीब कशमकश की स्थिति के शिकार थे। न कुछ करने की स्थिति में रहे न कुछ कहने की। अन्त में भारी मन से वहाँ से वापिस होना ही पिताजी ने बेहतर समझा।

रमेश संघ में शामिल हो गये। गुरुवर दयालुता से ज्ञान देते रहे तथा शिष्य पूर्ण श्रद्धा, सम्मान और विनय के साथ संजोते रहे। वैराग्य की बयार ज्ञान के संग दिन-दूनी रात-चौगुनी गति से बहने लगी।

ब्रह्मचारी बनने के बाद एक बार मामाजी के यहाँ चन्द्र नगर जाना हुआ तो मामाजी कहने लगे- बेटे रमेश, तूने क्या भेष बना रखा है? तूने न माँ की सोची, न पिता की सोची। बड़ा धर्मात्मा बन रहा है। आज तक तूने देखा ही क्या है? संसार का ऐशोआराम तो भोग ले। माता-पिता की तरफ एक बार दृष्टि डालो। उनके बुढ़ापे का कौन सहारा है? जिस बेटे को सीने से लगा कर पाला, स्वयं गीले में सो तुझे सूखे में सुलाया, स्वयं भूखे रहकर तेरा पेट भरा सोचो तो उसके प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है? माँ ने स्वप्न संजोये थे- मेरा बेटा बड़ा होकर एक सुन्दर, सुशील, धार्मिक बहू को लाएगा जो मेरे कुल का गौरव होगी। जो बुढ़ापे में दो वक्त की रोटी खिलाएगी। आज तू ही सबसे बड़ा पुण्य कमाएगा। बेटा ! आराम से घर पर ही रहो। जो कुछ भी धर्म, कर्म, पुण्य करना है घर में ही करो। इस प्रकार परिजन को दुःखी मत करो। परिवार का ध्यान रखो। यह सब करने से क्या मिलता है? तब रमेश ने प्रश्न कर दिया- मामाजी आपके क्या काम होता है, खेती। जब खेत में बीज बोते तो हमारे जैसा अज्ञानी तो यही मानेगा कि कितना पागल है इतने अच्छे गेहूँ जमीन में फेंक रहा है; किन्तु आप जानते हैं कि जमीन में नहीं बल्कि इससे तो कई गुणा अनाज प्राप्त होने वाला है। तो क्या बीज बोना आपका पागलपन है, नहीं। फिर हमारे लिए पागलपन क्यों साबित कर रहे हैं। आपकी उम्र कितनी हो गई। उत्तर मिला, 64 वर्ष। फिर आपने तो सब कुछ देख लिया, ऐशोआराम कर लिया है, आप तो हमेशा पुण्य कमाने में लगे रहते हैं। आप पूजन तो रोज करते होंगे? उत्तर मिला- कहाँ कर पाते, समय नहीं मिल पाता। फिर आप तो साधु बनने की उम्र में आ गये, अब आपको दीक्षा ले लेना चाहिए। बेचारे चुप रह गये, जैसे कोई सांप सूँघ गया है। और यह कहते हुए चल दिए कि मैं तो आया था इसे समझाने के लिए इसने मुझे ही समझा दिया अब क्या कहें।

इस प्रकार रमेश ने अनेक प्रकार के संघर्षों का सामना किया किन्तु संघर्ष से हार नहीं मानी और आचार्यश्री के संघ में प्रवेश पा लिया और 8 नवम्बर, 1992 में अखण्ड ब्रह्मचर्य स्वीकार कर लिया। वैराग्य बचपन में ही था, बचपन में वैराग्य ही है किन्तु युवावस्था में हुआ वैराग्य एक उच्च श्रेणी का माना जाता है।

(17) भोले बालक के भोलेभाले प्रश्न-

ग्रीष्मकालीन वाचना में मुनिश्री ने मात्र पुस्तकों, शास्त्रों एवं पुराणों में लिखित आगम को ही विषय बनाया तथा इसमें अस्पष्ट विषयों एवं सिद्धान्तों को बड़े ही सरल एवं सुबोध शैली में समझाते हुये रसभरे दृष्टान्तों के माध्यम से जन-जन के हृदय में बैठाया। कई विषयों पर उपस्थित विद्वानों एवं पंडितों के मध्य घण्टों चर्चा चलती। किन्तु चर्चा इतनी सरल भाषा में होती कि साधारण से साधारण आदमी भी आगम के अगाध समुन्द्र में उतरकर आनन्द भरे ज्ञान के गोते लगाने लगता।

वात्सल्यमूर्ति, उदारचित्त, सरल हृदय महामुनि विरागसागरजी ने मात्र वाचना तक ही शिविर को सीमित नहीं रहने दिया बल्कि योग के साथ-साथ ध्यान लगाकर एवं सभी से ध्यान लगवाकर ज्ञान को ध्यान के माध्यम से जन-जन की आत्मा में अवतरित करवा दिया। जितना-जितना शिविर आगे बढ़ा भीड़ भी उसी अनुपात में अधिक आने लगी।

इस शुभ अवसर का सर्वाधिक लाभ रमेश को प्राप्त हुआ। रमेश जब अपनी बाल-सुलभ जिज्ञासाओं के समाधान के लिये महामुनि से एक-एक कर प्रश्न करते तब कभी-कभी तो उपस्थित समूह में हँसी के फव्वारे फूट पड़ते अथवा स्वयं महामुनि विरागसागर भी मंद-मंद मुस्कान से उसकी तरफ निहारने लगते। रमेश के प्रश्न भी तो ऐसे ही थे जिनमें बाल-सुलभ चेष्टा तो की मगर आगम की गहराई को छूने की क्षमता भी वह प्रश्न शक्ति रखते थे।

रमेश ने बड़ी विनय और भक्तिपूर्वक हाथ जोड़कर मुनिवर से पूछा-गुरुवर, तीर्थकर 24 एवं परमेष्ठी (पाँच) 5 ही क्यों होते हैं, कम या ज्यादा क्यों नहीं?

प्रश्न सचमुच हास्य परिपूर्ण था सो सभी प्रश्न सुनते ही रमेश की अज्ञानता में दिल खोलकर हँसने लगे। परन्तु प.पू. गुरुवर, मुनिवर विरागसागरजी प्रश्न की गहराई को भलीभाँति समझ गये और उन्होंने प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व रमेश से ही प्रश्न पूछ लिया-एक हाथ में ऊँगली पाँच और सम्पूर्ण शरीर में ऊँगलियों की संख्या 20 ही क्यों होती है?

रमेश ने सहज भाव से उत्तर दिया-यह तो कुदरत से ही ऐसी ही होती हैं। रमेश के उत्तर से उत्तर को निकालते हुए ज्ञानगुण निपूण महामुनि विरागसागरजी बोले-शरीर जिस तरह प्रकृति से बँधा है उसी तरह प्रत्येक धर्म भी आस्था एवं विश्वास से बँधा है। प्रत्येक धर्म में उसके आराध्य की संख्या सुनिश्चित है। जैसे जैनधर्म में तीर्थकर चौबीस होते हैं, हिन्दू धर्म में अवतारी पुरुष जिन्हें लोग भगवान मानते हैं की संख्या भी चौबीस है। सिखों में गुरु को भगवान का स्थान दिया गया है तथा गुरुओं की संख्या 10 बतलाई है। इस्लाम में दो ही आराध्य माने गये हैं, बौद्ध धर्म तो नाम के अनुरूप अपने आराध्य पर ही आधारित है।

रही बात परमेष्ठी के पाँच होने की तो यह पूज्यता का प्रश्न है। परम इष्ट चैतन्य स्वरूप के आधार पर अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु में समस्त चेतनायुक्त इष्ट गर्भित हो जाते हैं परन्तु अचेतन में भी चेतन की स्थापना करके हम इस आराध्य की संख्या 9 मानने लगते हैं उनमें चेतना सहित अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण तो हैं ही इसमें अचेतन में चेतना की स्थापना होने से जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य एवं जिनचैत्यालय भी हैं, जिनकी कुल संख्या 9 होती है, ये नवदेवता हैं।

अभी मुनिवर का उत्तर पूर्ण होता कि रमेश ने पूछ लिया कि गुरुवर चेतना की कल्पना जिनचैत्य में तो संभव है जिसमें हम मूर्ति को सजीव समझ सकते हैं; परन्तु जिनचैत्यालय, जिनधर्म एवं जैनागम में हम चैतन्य की परिकल्पना कैसे कर सकते हैं?

भोले रमेश के भोलेपन से भरे प्रश्न पर महामुनि की मुस्कान मंद-मंद गति से चेहरे पर छा गयी तथा बड़े ही सरल भाव से समझाते हुये वात्सल्य मूर्ति ने कहा-रमेश, मन्दिर क्या मूर्ति के विराजमान होने से ही मन्दिर नाम को प्राप्त हो जाता है अथवा जब मन्दिर में विराजमान भगवान के समक्ष भक्तिभाव से भगवान के भक्त घंटा-घंटी एवं शंख आदि बजाते हुये भगवान के गुणों का गान करते हैं तथा अपनी आत्मा को परमात्मा में विलीन कर देते हैं तब मन्दिर अपने नाम की पूर्णता को प्राप्त होता है।

महामुनि विरागसागरजी का उत्तर सुनकर उपस्थित जनसमूह की आत्मा भी परमात्मा में विलीन होने लगी एवं देखते ही देखते आकाश भगवान के जयकारों से गूँज उठा। मानों वहाँ उपस्थित असंख्य आत्मायें अनन्त परमात्मा का विराट स्वरूप धारणकर मुखरित हो गयी है। यह अचेतन में चेतना का प्रमाण नहीं तो और क्या है? यह उत्तर लगता था, सभी की समझ में भलीभाँति समझ में आ गया था।

किन्तु उत्तर तो अभी अधूरा था; क्योंकि प्रश्न में जिनचैत्य के साथ जिनधर्म एवं जैनआगम में भी चेतना पर प्रश्न चिह्न लगा था। मुनिपुंगव विरागसागर ने जयकारों के शांत होते ही कहा कि जिन मन्दिर की तरह ही जिनधर्म के मानने वाले भी सजीव अर्थात् चेतनायुक्त होते हैं और चेतनायुक्त मानने वालों के कारण ही तो जिनधर्म सजीव है, सजीवों का धर्म है, इसे हम क्यों न सजीव ही समझें।

यही स्थिति है जैनआगम की। जैनआगम स्वयं सजीव एवं सचेतन है; क्योंकि जैनआगम का तो आधार ही परमात्मा है। परमात्मा के गुणों का ज्ञान, परमात्मा बनने का तरीका, परमात्मा और परमात्मा से भिन्न आत्मा, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल का सजीव वर्णन करने वाला जैनआगम भी सजीव है, सजीव था, सजीव रहेगा।

मुनिपुंगव के उत्तर ने वहाँ निर्जीव सी बैठी आत्माओं को सजीव कर दिया। इसका पता भी तब चला जब पूरा हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। सभा विसर्जित हुयी तो सभी रमेश की बाल-सुलभ बुद्धि की चर्चा एवं प्रशंसा करने लगे।

रमेश की उम्र के साथ जिज्ञासायें बढ़ रही थीं। हर अनबूझ पहेली को सुलझाने का मन में उत्साह था। जैनधर्म के प्रति श्रद्धा ने तो जन्म ले लिया था; किन्तु ज्ञान के अभाव में श्रद्धा में गहराई की गति बहुत ही कम क्या लगभग शून्य लगती थी। यही वजह थी कि जिन प्रश्नों को साधारण से साधारण आदमी करने में इसलिये संकोच करता था कि इसका तो उत्तर उसे मालूम है क्या पूछना किसी से। मगर हकीकत दूसरी थी, हर बात को लो या तो परम्परापूर्वक मान रहे थे या फिर आदेश के बन्धन से या फिर जग हँसाई से बचने के लिये; किन्तु रमेश तो क्रान्ति के अग्रदूत थे जिसमें ज्ञान की जिज्ञासा की ज्वाला धधक रही थी।

प्रातःकाल मुनिश्री पूजन की क्रियाविधि बतला रहे थे कि कौन से द्रव्य, किस विधि से चढ़ाये जाते हैं। सभी को यथासंभव समझाने के बाद प्रश्नवाचक नजरों से मुनिश्री ने सबकी ओर देखा तो तुरन्त रमेश ने प्रश्न दाग दिया—महाराज, पूजन करते ही क्यों हैं?

अचानक ही प्रश्न को अज्ञानता का प्रतीक मानकर वहाँ उपस्थित समूह ने जोर से ठहाका लगाया। रमेश भी पहले तो आश्चर्यचकित रह गये कि उन्होंने इसमें हँसने जैसे क्या पूछ लिया। मुनिश्री ने भी रमेश के चेहरे को पढ़ लिया और तुरन्त बात को संभालते हुये बोले—रमेश ! क्या तुम पूजन करते हो? तो रमेश ने कहा—हाँ करता हूँ। तब पुनः मुनिवर ने पूछा कि क्यों करते हो पूजा? तब रमेश ने कहा कि क्षुल्लकश्री पद्मसागरजी ने पूजन का नियम दिया इसीलिये करते हैं। उन्होंने यह भी कहा था कि यदि पूजन छोड़ोगे तो पाप लगेगा, इसलिये बगैर नागा किये प्रतिदिन पूजन करता हूँ।

मुनिपुंगव श्री विरागसागर ने अपने अमृत-वचनों से समझाना शुरू किया कि अगर कोई पूजा, भय, लोभ, लालच, देखादेखी परम्परा या नियमों के पालन हेतु करता है वह पूजन की क्रिया तो करता है; परन्तु पूजन के माध्यम से परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। क्योंकि पूजन की क्रिया भी फलदायक है, भले ही उसमें आत्मा को परमात्मा तक ले जाने का भाव नहीं हो फिर भी भक्ति का फल स्वर्ग के सुख, भौतिक सामग्री का सद्भाव एवं स्वस्थ शरीर तथा अच्छी संगति के रूप में प्राप्त होता है।

किन्तु क्या हम जगत की इस नाशवान भौतिक संपदा को प्राप्त करने के लिये ही पूजन करते हैं या हमारा उद्देश्य पूजन के माध्यम से अपने सच्चे स्वरूप की प्राप्ति है। जो भी पूजन अपने स्वरूप की प्राप्ति हेतु करता है तथा कभी भी पूजन में संसारी भौतिक संबंधों, भौतिक सामग्री या पद आदि विकल्पों की कामना नहीं करता, वह स्वयं ही निर्विकल्प पद को प्राप्त करता है। पूजा करते-करते वह स्वयं पूज्य बन जाता है। देखो, सभी पूजन कर रहे हैं; लेकिन हम तो सभी की तरह द्रव्य से पूजन नहीं करते, फिर भी हमारा स्थान पंच परमेष्ठी में आता है और आप सभी पूजन अष्टद्रव्य से करते हैं फिर भी गृहस्थी में उलझे रहते हैं तथा आपको वह सम्मान भी नहीं मिलता जो हमें प्राप्त होता है। तब क्यों न आप पूजन की क्रिया में आत्मा की शुद्धता तथा आत्मा में आये दोषों को त्यागने का प्रयास करते?

सच्ची पूजा ही अपने स्वरूप की प्राप्ति है; क्योंकि अपने स्वरूप की प्राप्ति करने वाले को पूजन की जरूरत नहीं रहती वह तो स्वयं ही पूज्य बन जाता है। बोलो रमेश, तुम्हें सदा पूजन ही करना है या पूज्य बनना है?

पूजन तो ईश्वर का गुणगान एवं अपने मन के भावों की कामना की पूर्ति का माध्यम है। जिसे संसार के सुख चाहिये वह भी पूजन करता है तथा जिसे संसार से मुक्ति चाहिये वह भी पूजन करता है। मतलब पूजन करने का अर्थ ही है कामना पूर्ति का साधन या फिर कामना पूर्ति हेतु मन-वचन-काय को मिलाकर की गयी क्रिया।

पूजन की यह क्रिया भी दो तरह की होती है। पहली क्रिया तो सांसारिक सुख-सुविधा एवं सामग्री हेतु की जाती है; परन्तु दूसरी पूजन की क्रिया में सांसारिक वस्तुओं से मोह भी नहीं रहता; क्योंकि पूजन निष्काम हो जाती है। किसी भी प्रकार की कामना का विकल्प नहीं रहता। पूजन करते-करते पूजन भूलकर स्वयं में समाहित होने की क्रिया। यही वह क्रिया है जिसे करने के लिये ही हम अष्टद्रव्य से पूजन करते हैं ताकि हमारे मन-वचन-कायरूपी तीनों योग एकरूप हो जायें तथा हम आराध्य को पूजते-पूजते स्वयं आराध्य में खो जाय तभी तो हमारी पूजा सफल होगी। यही पूजा जब बार-बार की जाती है तब हमें अपने अन्दर उतरकर अपने ही अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्द का अनुभव होने लगता है। इसी की अनुभूति को पाने का प्रयास तो पूजन है। पूजन भी आत्म-अनुभूति हेतु की जाती है।

रमेश की जिज्ञासा तो अभी प्रारम्भ हुई थी, दोपहर में वाचना के समय भी रमेश ने प्रश्न कर दिया- महाराज, आप कहते हैं कि पहले साधुगण शास्त्र नहीं पढ़ते थे फिर आज शास्त्र पढ़ने की जरूरत क्यों है?

महाराज बोले-वत्स, अपने प्रश्न में सुधार करो, क्योंकि मैंने ऐसा कभी नहीं कहा कि पूर्व में साधु शास्त्र नहीं पढ़ते थे या शास्त्रों के स्वाध्याय से परहेज करते थे अथवा शास्त्र स्वाध्याय की उन्हें जरूरत ही नहीं थी। मैंने तो यह कहा था कि शास्त्रों में ज्ञान है वह उनको बिना पढ़े अपने गुरुओं से सुनकर ही याद था।

बगैर कोई समय गँवाये रमेश ने अगला प्रश्न कर दिया कि फिर आज भी तो गुरुओं से सुनकर ज्ञात होता है फिर भी शास्त्र पढ़े जाते हैं, क्यों?

पूज्य गुरुवर मुनिपुंगव ने मुस्कराते हुये कहा कि आज सचमुच शास्त्रों के अध्ययन की और अध्ययन कर मनन-चिंतन की जरूरत है। आज हमारे ज्ञान का क्षयोपशम कम हो गया है। जो सुनते हैं उतना याद नहीं रहता तथा जितना सुनते हैं दिमाग में संग्रह नहीं रह पाता। यही कारण है कि हम जो भी सुनते हैं उसे ही शास्त्रों में पढ़कर बार-बार दोहराते हैं ताकि हमारे मस्तिष्क में स्थिर रह सके। पूर्व में ऐसी स्थिति नहीं थी। पहले तो ज्ञान का क्षयोपशम इतना उत्कृष्ट था कि जो भी एक बार गुरु से सुन लेते थे आजीवन

मस्तिष्क में संग्रहीत रहता था। जैसा कि सुना जाता है मुनि अंकलंक को एक बार एवं मुनि निकलंक को 2 बार पढ़ने से याद हो जाता था। इसीलिये उस समय शास्त्र और पुराण थे ही नहीं। स्वाभाविक है जिसकी जरूरत ही नहीं उसका निर्माण क्यों ?

रमेश की जिज्ञासा बढ़ गई और पुनः प्रश्न कर दिया—बताइये महाराज फिर कब से ज्ञान में कमी आ गयी और कैसे शास्त्रों की आवश्यकता महसूस हुयी ?

गुरुवर ने भी वात्सल्य भाव से उत्तर देते हुए कहा—सैकड़ों वर्ष पूर्व आचार्य धरसेन हुये, उन्हें निमित्तज्ञान प्राप्त था। भगवन्त आचार्य धरसेन का अन्त समय आने वाला था कि उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके बाद श्रुत परम्परा का परिपालन संभव नहीं होगा। ऐसा ही स्वप्न भी उन्होंने देखा तब वात्सल्य की मूर्ति महान् उपकारी जगत के कल्याण की भावना अपने हृदय में संजोये उन्होंने आचार्य अर्हद्वली के यहाँ से दो मुनिराज पुष्पदन्त, भूतबली को बुलाकर शिक्षा दी तथा उनके द्वारा ही शास्त्र लेखना का कार्य प्रारम्भ कराया ताकि ज्ञान का भंडार सुरक्षित रहे तथा स्वकल्याण का मार्ग विच्छेद नहीं हो। शास्त्र पढ़कर सभी अपना कल्याण का मार्ग खोज सकें।

रमेश ने प्रश्न को आगे बढ़ाते हुये कहा कि पूज्य गुरुवर आचार्य भगवन्त ने क्या शास्त्र का लेखन स्वयं किया।

स्वयं आचार्य भगवन्त धरसेन ने कोई शास्त्र नहीं लिखा बल्कि अपने इस कार्य की सिद्धि हेतु उस समय दक्षिण राज्यों में स्थित या साधु-संघों के सम्मेलन में पत्र भेजकर आचार्यों से ऐसे साधु को अपने पास भेजने का निवेदन किया जो लेखन में तो समर्थ हों ही उसमें आने वाली भूल या शंकाओं का भी समाधान करने में समर्थ हो।

एक दिन आचार्य भगवन्त धरसेन ने प्रातःकाल की बेला में स्वप्न देखा कि दो पूरी तरह स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट श्वेत बैल द्रुतगति से चले आ रहे हैं। आचार्य भगवन्त ने निमित्तज्ञान से जान लिया कि दक्षिण पथ से दो महाव्रती मुनिवर आ रहे हैं जो अपने कार्य में निपुण एवं समर्पित तथा दोषों से रहित हैं।

प्रातःकाल होते ही दोनों मुनिवरों ने आते ही आचार्य भगवन्त धरसेन को नमोऽस्तु करते हुए तीन प्रदक्षिणाएँ दी एवं चरण-वंदना कर हाथ जोड़कर गुरुवर आचार्य के आदेश एवं आशीर्वाद की कामना करने लगे। आचार्य भगवन्त धरसेन स्वामी ने उन दोनों तेजपुँज से दैदीप्यमान साधुओं को मंगल आशीर्वाद प्रदान किया तथा विश्राम कर थकान मिटाने का आदेश दिया। गुरुवर का आदेश शिरोधार्य कर दोनों मुनिवर नित्य क्रिया कर सामायिक और फिर अल्प विश्राम कर पुनः गुरुवर के चरणों में नतमस्तक हो गये। आचार्य भगवन्त धरसेन स्वामी ने मन ही मन दोनों की परीक्षा लेनी चाहिये ताकि दोनों की सही योग्यता का निश्चय हो सके। इसीलिये दोनों महाव्रतियों को एक ही मंत्र साधना हेतु प्रदान किया; किन्तु जानबूझकर दोनों

साधुओं के मंत्र में अन्तर कर दिया। एक महाव्रती के मंत्र के मध्य में एक मात्रा बढ़ा दी वहीं दूसरी ओर दूसरे साधु महाव्रती के मंत्र में जानबूझकर एक मात्रा घटा दी।

वही हुआ जो गुरुवर ने चाहा था, दोनों साधु सच्चाई की कसौटी पर पूरी तरह खरे उतरे। पहले महाव्रती को साधना के बाद जो सिद्धि हुयी उससे प्रगट हुयी देवी उसका एक दांत बढ़ा था। वहीं पर दूसरे महाव्रती को साधना के बाद जो सिद्धि हुई उससे प्रकट हुयी देवी, जिसका एक नेत्र बंद था। दूसरे साधु के चेहरे पर एक नेत्र कम था। दोनों महाव्रतियों ने देवियों का सुन्दर रूप देखा मगर उन्हें देवियों के स्वरूप में कमी महसूस हुयी। वह जान गये कि देवी-देवताओं का रूप सर्वांग सुन्दर होता है। देवी-देवता न तो कुरूप होते हैं एवं न ही देवी-देवताओं का कोई अंग अधिक अथवा कम होता है।

यह रहस्य समझते ही गुरुवर भगवन्त के दोनों सुयोग्य शिष्यों ने अपने प्राप्त मंत्रों का सूक्ष्म निरीक्षण एवं गहन परीक्षण किया तो अपनी ही कृत भूल समझ में आ गयी। उसी समय दोनों साधुओं ने अपने मंत्रों की कमी दूर कर दी। मंत्र की पुनः साधना की तब स्वयमेव ही दोनों मंत्रों की सिद्धि हुयी एवं सर्वांग सुन्दर रूपसी देवी प्रगट हुयी। गुरुवर भगवन्त आचार्य धरसेन स्वामी ने भी दोनों शिष्यों की योग्यता को जान शास्त्र लेखन की प्रथम अनुमति प्रदान कर दी।

रमेश की जिज्ञासा रूपी तरकश में रखा प्रश्नरूपी बाण पुनः चल गया और बोल उठे-पूज्य गुरुवर, कौन थे वह इतने महान् परम प्रतापी, सर्वज्ञ, गुरुभक्ति, स्वनिरीक्षक, स्वचिन्तक शिष्य और उन्होंने किस ग्रन्थ का लेखन प्रारम्भ किया ?

गुरुश्रेष्ठ, मुनिमहान् श्री विरागसागरजी ने भी गुरुत्व का वैभव बिखेरते हुए अपने श्रीमुख से कहा-वे दोनों महान् शिष्य थे भगवन्त पुष्पदन्तजी एवं आचार्य भगवन्त भूतबलीजी और इसी के साथ गुरुवर विरागसागरजी ने श्रुत परम्परा में शास्त्र लेखन के नायक उन दोनों आचार्य भगवन्तों को हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक नमस्कार किया।

नमस्कार करने के बाद पुनः उत्तर को आगे बढ़ाते हुये गुरुश्रेष्ठ विरागसागरजी ने कहा-आचार्य भगवन्त श्री धरसेन स्वामी के उपदेश एवं निर्देशन में उनके सुयोग्य शिष्य आचार्य भगवन्त पुष्पदन्तजी एवं आचार्य भगवन्त श्री भूतबलीजी ने जैनागम एवं जैनदर्शन के प्रथम ग्रन्थ 'श्री षड्खंडागम' की रचना की। इसी के साथ पूज्य गुरुवर ने कहा-सभी लोग हाथ जोड़कर बोलें 'ग्रन्थाधिराज श्री षड्खंडागम की', चारों तरफ ग्रंथराज के जयकारे गूँज उठे।

रमेश ने एकदम नये किन्तु भोलेपन मगर चातुर्य से परिपूर्ण प्रश्न करते हुये कहा-पूज्य गुरुवर, क्या पूर्व आचार्य सभी भगवान थे जो आप सभी के साथ भगवन्त शब्द का प्रयोग करते हैं ?

नहीं वत्स, भगवान हमारे यहाँ सिर्फ अर्हन्त और सिद्ध प्रभु हैं। किन्तु जिनका हमारे ऊपर इतना बड़ा उपकार है कि जिन्होंने निजकल्याण से भी ऊपर उठकर जन-जन के, प्राणीमात्र के कल्याण की कामना की एवं जीव जगत के कल्याणार्थ ऐसा कार्य कर गये कि प्राणी उसका उपयोग कर निजकल्याण कर ले एवं संसार सागर के दुःखों से दूर हो मुक्ति को प्राप्त कर ले। हमारी मुक्ति का मार्ग दर्शाने वाले उन महान् सन्तों को हम भक्तिवश व्यवहारिक भाषा में भगवान मानते हैं एवं भगवान या भगवन्त कहकर संबोधित करते हैं। जैसे कोई डॉक्टर जब हमें या हमारे परिवार के किसी असाध्य रोग को ठीक कर मौत के मुँह से बचा लेता है तब हम सभी उसे भगवान कहने लगते हैं। जबकि डॉक्टर सिर्फ डॉक्टर होता है भगवान नहीं, फिर भी व्यवहार में मौत से बचाना भी भगवान की तरह कार्य करना है इसीलिये हम डॉक्टर को भी भगवान की तरह मानते हैं। बस इसी तरह आचार्य भगवान भले नहीं हैं; किन्तु उन्होंने जो उपकार हमारे साथ किया है उसके कारण उन्हें भगवान कहना व्यवहारिक रूप में सत्य ही है।

अब की बार के प्रश्न पर तो गंभीरता के साथ-साथ हँसी के फव्वारे भी फूट पड़े जब रमेश ने कहा कि क्या हमें ऐसे भगवान समान डॉक्टर और अन्य उपकारी जन की पूजन, अर्चन भी करना चाहिये ?

सभी की हँसी रुकने पर पूज्य गुरुवर बोले-व्यवहारिक भगवान एवं प्रत्यक्ष भगवान में बहुत अन्तर है। पूज्य सिर्फ प्रत्यक्ष भगवान हैं जिनके जीवन का सम्पूर्ण पक्ष अन्त में निर्दोष, निर्मल एवं पवित्र हो गया इसीलिये वह पूज्य बन गये। डॉक्टर तो बीमारी से बचाता जरूर है, उपकारी भी है मगर परम उपकारी नहीं; क्योंकि उसके बदले वह मुँहमाँगी फीस लेता है। यदि फीस न भी ले तब भी उसके पास अभी क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी चारों कषाय विद्यमान हैं। फिर कषायसहित जीव तो हमारे ही समान हुआ न जब आदमी पूज्य नहीं तब डॉक्टर भी पूज्य कैसे हो सकता है और डॉक्टरी के अलावा हिंसा, झूठा, चोरी, कुशील, परिग्रह का भी उसके अभाव नहीं है। फिर वह मात्र उपकारी होने से पूर्ण पूज्य कैसे हो सकता है, हर्गिज नहीं।

रही बात आचार्य, उपाध्याय एवं साधुजन को पूज्य मानने की सो यह तीनों संसार का भावपूर्वक परित्याग कर चुके हैं। सदैव निजकल्याण हेतु त्याग, तपस्या, साधना, सामायिक में ही लगे रहते हैं। लोकरंजन नहीं लोक के कल्याण हेतु उपदेश दिया करते हैं। जो उपदेश देते हैं एवं निजकल्याण हेतु जिस मार्ग पर चलने की बात करते हैं स्वयं उस मार्ग पर चलकर अपने ही कथन को प्रत्यक्ष चरितार्थ कर रहे हैं। इनकी कथनी और करनी में भेद नहीं होता। मन में जो होता है वही वचन से निकलता है एवं उसी पर कायपूर्वक चला करते हैं। इसीलिये मन-वचन-काय को एकाग्र रखते हैं। कभी भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से रिश्ता नहीं रखते। सदैव सत्य, अहिंसा, क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन एवं ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। इसीलिये महाव्रती कहलाते हैं तथा लोक में प्रचलित

चक्रवर्ती एवं सुख की सर्वोत्कृष्ट विभूति माने जाने वाले इन्द्रपद का भी मन-वचन-कायपूर्वक परित्याग कर परम मंगलदायक, अनन्त सुख को प्रदान करने वाले मोक्षपद जैसे परम पद की कामना करते हैं, अनुचिंतन-चिंतन करते हैं, स्वयं उसे प्राप्त करने का प्रयास करते हैं एवं उसी को प्राप्त करने का उपदेश प्राणीमात्र को देते हैं। इसीलिये परम इष्ट अर्थात् परमेष्ठी कहलाते हैं, जो परमेष्ठी होता है वह पूज्य ही होता है। इसीलिये आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु पूज्य हैं, भगवान नहीं हैं।

वाचना नित्य चलती रही तथा जब भी अवसर मिला एवं प्रसंग आया कि रमेश ने अपने प्रश्नों का तारतम्य स्थापित कर लिया। यही वजह थी कि रमेश के प्रश्न स्वयं एक धारावाहिक की कहानी समान एक-दूसरे से संलग्न प्रतीत होने लगे।

**भिवकं वक्कं हिययं सोधिय जो चरदि णिच्च सो साहू।
एसो सुद्धिद साहू भणिओ जिण सासणे भयवं ॥ मू.चा.**

जो आहार और मन की शुद्धि रखते हुए सदा ही चारित्र का पालन करते हैं जिनशासन में ऐसे साधु को भगवान कहा गया है।

अगले दिन वाचना में पुनः भगवान को पंच परमेष्ठी में गर्भित बताया गया तब रमेश का भोला मन कुलबुला गया। तत्काल ही रमेश के मुँह से प्रश्न निकल गया; किन्तु प्रश्न के प्रारम्भ में रमेश के दिये संबोधन से न सिर्फ सभी चौंक गये अपितु खिल-खिलाकर हँसते हुए जोर-जोर से तालियाँ पीटने को भी मजबूर हो गये जब रमेश ने कहा कि "हे भगवान, मुनि महाराज"। सचमुच संबोधन आत्मा की गहराई से प्रकट हुआ था। हाँ, सुनने में जरूर अटपटा था; क्योंकि कोई भी मुनि महाराज को इस प्रकार का संबोधन नहीं देता किन्तु रमेश के मन में तो पिछले प्रश्न के उत्तर में महाराज का कहा हुआ एक-एक शब्द अन्दर में उतर चुका था एवं वह परम उपकारी महाव्रती चारित्रश्रेष्ठ, वाकपटु, उत्कृष्ट आगम मर्मज्ञ, वात्सल्यरत्नाकर, दयासिन्धु, करुणा के सागर, पूज्य गुरुवर मुनिवर विरागसागर को भगवान मान चुके थे। तथा गुरुवर के ही शब्दों में गुरुवर भले भगवान नहीं हों मगर भगवान बनने के मार्ग पर चलने वाले तथा सभी को चलाने वाले, संसार, शरीर और भोगों से विरक्त कठोर साधक, परम पद मोक्ष के अभिलाषी परमेष्ठी तो थे ही एवं जगत में जीवमात्र को मन-वचन-काय कृतकारित अनुमोदना से हिंसा से बचाकर अभय प्रदान करने वाले महान् उपकारी भी थे। इसीलिये व्यवहारिक रूप से निर्दोष पद पर चलने से व्यवहारिक भगवान तो थे। यही जानकर, यही मानकर रमेश ने बगैर किसी का संकोच किये निर्भय होकर पूज्य गुरुवर को भगवान का संबोधन दिया तथा सभी के हँसने पर खुद भी शर्मिन्दा नहीं हुए, सभी के साथ दिल खोलकर हँसते रहे।

हँसी थमते ही रमेश ने वाक्चातुर्य दिखाते हुये कहा-हे गुरुवर भगवन्त ! भगवान कौन होता है तथा भगवान में पाँचों परमेष्ठी क्यों सम्मिलित नहीं हैं ?

गुरुवर मुनिश्रेष्ठ के मुखकमल से अमृतवाणी झरने लगी—प्रिय वत्स रमेश, सत्य में शंका न करो, सदा सत्य पर अटल रहो, सत्य के मार्ग में बाधायें लाख आयें, जगत हँसे या तिरस्कार करे पर अडिग रहो, कभी भी सत्य के पथ से विचलित न हो। तुम्हारा संबोधन उचित है। हाँ, एकदेश सत्य है; किन्तु तुम्हारी अवस्था एवं बुद्धि के अनुसार सत्य के पूरी तरह करीब है। मैं और समस्त वीतरागी, महाव्रती सन्त यद्यपि भगवन्त नहीं हैं फिर भी एक डॉक्टर, एक वकील या लोक के अन्य उपकारी प्राणी की अपेक्षा निष्पृह उपकारी हैं और निष्पृह कल्याण करने वाला भगवान न होते हुये भी भगवान का रूप होता है। इसीलिये समस्त महाव्रती भी लोभ से रहित निष्परिग्रही होने से भगवान पद को प्राप्त करने हेतु इच्छुक एकदेश भगवान ही हैं; किन्तु भगवान पद से कोसों दूर हैं।

भगवान पद का अर्थ है लोक का सर्वाधिक भाग्यवान पद अर्थात् जिसके आगे लोक की समस्त विभूति फीकी नजर आती है। जिसके पास अक्षय, अनन्त सुख की अविरल धार निरन्तर निर्बाध रूप से प्रवाहित होती रहती है, जिसका सुख पराश्रित नहीं होता तथा जिसके ज्ञान में समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायें एक साथ युगपत् झलकती हैं तथा वह सर्वज्ञ भगवान उन पर्यायों का मात्र ज्ञाता, दृष्टा होता है कर्त्ता-धर्त्ता नहीं होता। ऐसे भाग्य को बनाने वाले न कर्म होते हैं न पाप-पुण्य। कर्म कषाय और पुण्य-पाप तो उस सर्वोत्कृष्ट भाग्यवान पद में बाधक हैं साधक नहीं। इसीलिये साधक मुनि अवस्था में महाव्रतों का उत्तम सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करते हुये जीवन बिताता है। पूर्वकृत कर्मों की निर्जरा हेतु बहिरंग तप अनशन, अवमौर्दय, व्रत परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन एवं काय-क्लेश की छह प्रचण्ड अनियाँ प्रज्वलित कर कर्म और कषायों का होम करता है एवं छह प्रकार के ही अन्तरंग तप की तीव्र ज्वाला प्रज्वलित कर प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग एवं ध्यानरूपी ज्वालाओं में रागद्वेष, मोह, पाप-पुण्य कषाय जैसी आत्मकल्याण में बाधक तत्त्वों एवं भावनाओं का क्षेपण कर स्वाहा करता है और जिस साधक की साधना में मनयोग, वचनयोग, काययोग पूर्वक आत्मकेन्द्रित हो एकाग्र होकर निर्विकार हो जाते हैं। चार घातिया कर्म ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय के दोषों से मुक्त हो जाते हैं वही अरहन्त प्रभु भगवन्त अर्थात् भगवान कहलाते हैं।

अरहन्त प्रभु के भी अभी चार अघातिया कर्म आयु, नाम, गोत्र एवं वेदनीय मौजूद होते हैं। इन अघातिया कर्मों के घात करने पर ही सिद्धपद प्राप्त होता है तथा चार घातिया कर्मों के साथ ही चारों अघातिया कर्मों का भी नाश करने वाले ही सिद्ध भगवान कहलाते हैं।

पंच परमेष्ठी में अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु महाव्रती सम्मिलित हैं। किन्तु जिन महाव्रती के चारों घातिया कर्म नष्ट हुये हैं वही अरहन्त पद के धारी हैं, वही भगवान हैं शेष परमेष्ठी जगत के परम उपकारी होने से परम मंगलकारी परमेष्ठी पद धारी हैं; परन्तु भगवान नहीं। क्योंकि भगवान पद को

धारण से रोकने वाले घातिया कर्म ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय के सहित होने से ही अरहन्त भगवान पद को प्राप्त नहीं है। किन्तु लोक एवं लोक की समस्त विभूति का पूर्ण परित्याग कर आकिंचन धर्म का पालन कर पूर्ण ब्रह्मचर्य में लीन पाँचों परमेष्ठी भी पूज्य हैं। किन्तु कर्मसहित होने से भगवान नहीं है, यही पंच परमेष्ठी एवं भगवान अरहन्त में अन्तर होता है।

रमेश जिज्ञासु तो थे, मगर सदा खेलकूद एवं धार्मिक क्रियाओं से दूर रहने के कारण जैनधर्म में प्रचलित शब्द एवं क्रियाओं से दूर ही थे। इसीलिये उन्हें गुरुवर द्वारा कथित तप के बारह भेद तो याद रहे; किन्तु कौन बहिरंग, कौन अन्तरंग यह याद न रख सके। इसीलिये अगले दिन प्रसंगवश पूछ लिया कि गुरुवर दिन और रात्रि भर भूखा रहना ही क्या अनशन है?

पूज्य गुरुवर ने कहा—भूखा रहना तप नहीं होता; क्योंकि बीमारी या तो स्वयं भूख से मिटती है या रोग मिटाने को प्राणी भूखा रहता है अथवा चिकित्सक के कहने से भूख एवं भूख मिटाने की सामग्री सामने होते हुये भी उसका उपयोग नहीं कर पाता; किन्तु यह तप नहीं है। तप तो स्वेच्छा से भूख का निराकुल परिणाम रखकर साधना है। आपके सामने भोजन सामग्री भी हो और भूख भी लगी हो; किन्तु इच्छापूर्वक परित्याग करने वाले को न तो भूख सताती है और न ही भोजन सामग्री ही अपनी तरफ आकर्षित कर पाती है और जो भी श्रावक एवं साधक ऐसा करते हैं वही अनशन तप के तपने वाले हैं। क्योंकि अनशन तप का अर्थ ही है भूख का साधना या भूख का मारना न कि भोजन का त्यागना।

जाने क्या सूझी रमेश को और पूरी तरह बालपन से भरा प्रश्न पूछ लिया कि गुरुवर रात्रि में सोते समय तो इच्छा पर हमारा वश नहीं होता यदि अनशन किया हो और सोते समय भूख लग जाय तब क्या करें?

प्रश्न सुनकर साधारण जन के साथ गुरुवर भी मुस्कराये बगैर नहीं रह सके; किन्तु गुरुवर ने गंभीरता से उत्तर देते हुये कहा कि उपयोग जब स्थिर होता है अर्थात् मन में लिये हुये निश्चय पर दृढ़ विश्वास होता है तब क्या दिन क्या रात, क्या सोना क्या जागना, सदैव परिणामों में यही चिंतन चलता है कि—

तीन लोक को नाज तु खाय, मिटे न भूख कणा न लहाय।

अर्थात् नरकों में तो एक भी कण खाने को उपलब्ध नहीं था और भूख इतनी तीव्र लगती थी कि तीनों लोकों का अनाज खाकर भी तृप्त नहीं होता। तब फिर यहाँ पर लगी भूख कितनी सरल है, नरक से जो बहुत अल्प भोजन की चाह रहती है। फिर जब नरक की भूख मुझ पर विजय न पा सकी तब यह छोटी सी भूख मुझ पर कैसे विजय प्राप्त करेगी? इसीलिये इस भूख पर ध्यान ही नहीं देना है। फिर भोजन किसके लिये आत्मा अर्थात् मैं तो भोजन करता नहीं, इन पुद्गल पदार्थों का सेवन भी तो शरीर रूपी पुद्गल ही करता है। तब मैं क्यों पर की चिंता करूँ, मैं तो पूर्ण स्वाधीन हूँ भूख, प्यास, चिंता आदि समस्त बाधाओं से रहित।

यह सोच जब मन में उतार लगे एवं अपना ध्यान पूरी तरह इसी विचार पर केन्द्रित कर लगे तथा स्व-पर का भेदविज्ञान कर निज को निज और पर को पर मान लगे तब निश्चित ही भूख के रोग से भी मुक्त रहोगे। फिर न दिन में भूख सतायेगी और न रात्रि में, न जागते में भूख लगेगी न सोते में। हाँ, जब-जब तुम्हारा उपयोग भटकेगा और तुम्हारा भूख या भोजन की तरफ उपयोग जायेगा तब भूख अवश्य लगेगी, वह तुम्हें सतायेगी भी और यदि भूख के वशीभूत तुमने भूख से उपयोग न हटाया तथा भूख के कारण व्रत को कोसते रहे, सवेरे का इन्तजार करते रहे तब तो समझलो कि तुम्हारे जीवन का सवेरा कभी नहीं आने वाला। बस खाने के लिये जिओ और खाते-खाते ही मर जाओ। न कल सुधरा न आज और न आने वाला कल।

रमेश के ज्ञान में भूख साधने की बात तो आ गयी मगर स्व-पर का एवं निज और पर कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा। मगर रमेश सोचता रहा कि आखिर यह भूख-प्यास साधी क्यों जाती है? जब शरीर को भूख-प्यास लगती है एवं खाने-पीने की सामग्री भी सामने मौजूद हो तब भूख-प्यास साधने का क्या मतलब? भूखे रहने से भी कहीं हमारे परिणाम स्थिर होते हैं, अरे भूखे-प्यासे रहने पर तो और मन की वेदना बढ़ जाती है और इस तरह भूख-प्यास साधना तो पाप है। सभी कहते हैं भूखे को भोजन दो, प्यासे को पानी पिलाओ। फिर स्वयं ही भोजन-पानी होते हुये भी भूखे-प्यासे रहें। बात कुछ समझ नहीं आयी, तब मन की इस उथल-पुथल को रमेश ने गुरुवर के समक्ष अगले दिन ज्यों का त्यों व्यक्त कर दिया।

लोगों ने पहले परिहास किया तथा आपस में खुसर-पुसर (कानाफुंसी) करने लगे कि रमेश तो गया काम से शायद इसका दिमाग पलट गया है तभी तो व्रत, नियम एवं अनशन जैसे तप की खिल्ली उड़ा रहा है तथा अपने पक्ष के समर्थन में कुतर्क भी दे रहा है ताकि साधना तप भी न करना पड़े, पेट भी भरे और धर्म भी हो जाय।

किन्तु दयानिधान, वात्सल्यरत्नाकर, पूज्य गुरुवर, मुनिवर अपने अन्तरंग में क्षणभर को उतर गये तथा अन्तरंग की गहराई से बाहर आते हुये नेत्रों को खोला तो सभा उनकी ओर ही टकटकी लगाये उत्सुकता भरी नजरों से देख रही थी कि गुरुवर इस अटपटे प्रश्न का क्या उत्तर देते होंगे गुरुवर की मधुर वाणी मुखरित हुयी-

हे ज्ञानी आत्मा ! अज्ञान का शिकार होने से बच। किसी को भूख लगे तो अवश्य उसे भोजन करा और किसी को प्यास लगे तो उसे पानी अवश्य पिला, कोई बीमार है तो उसकी दवा भी कर और निर्विचिकित्सा भाव (ग्लानिरहित) होकर सेवा भी कर। गरीबों की धन से, अभावग्रस्त की वस्तु से मदद कर, अपने कर्म और अपने धर्म का पालन कर। क्योंकि आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' में आगम आप्त की वाणी को उद्धृत कर यह पद समाविष्ट किया है- **“परस्परोपग्रहोजीवानाम्”**

अर्थात् 'खुद जिओ और दूसरों को जीने दो'। कर्मों के सताये प्राणियों को जब अशुभ कर्म का उदय आता है तब उन्हें भूख-प्यास तो बहुत सताती है और इस वेदना से तड़पते जीवों की मदद न कर, तू अपने कर्म मत बाँध। अपने स्वभाव में स्थित दया, करुणा, वात्सल्य, मैत्री, प्रेम का परिचय उदारता से प्रगट कर। सामने वाले की भी वेदना शांति को प्राप्त होगी तथा तुझे भी अनन्त पुण्य संचित हो जायेगा।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि तू खाने-पीने को ही धर्म मानले और खाना-पीना छोड़ने को पाप। हे भव्य आत्मा ! अपनी इस बिगड़ी हुयी सोच को सुधार। अच्छा सोच, क्या कभी कोई प्राणी भूख-प्यास से मरते देखा है या अधिक खाने-पीने से? बीमारी भी तो भूखे-प्यासे को नहीं चुनती, जो भूख से अधिक खाता है, प्यास से अधिक पीता है, बीमारी भी उसे ही दबोच लेती है। रोगी तो कमजोर होता है, डॉक्टर उसका भोजन भी बन्द कर देता है तब तो रोगी को मर जाना चाहिये एवं डॉक्टर को भूखों मारने का पाप भी लगना चाहिये; किन्तु क्या ऐसा संभव है? अरे, इसके ठीक विपरीत होता है, रोगी भूखा रहने से बीमारी से लड़कर स्वस्थ हो जाता है एवं डॉक्टर को रोगी को ठीक करने का पुण्य प्राप्त होता है।

साधु-संत भी अज्ञानी संसारी आत्मा के रागद्वेष मोहरूपी ज्वर का निदान करने वाले चिकित्सक हैं। अच्छी तरह जानते हैं कि अनन्तान्त पर्याय अनादिकाल से धारण करते हुये इस जीव ने सदैव इस उदर रूपी खाई में अनन्त बार भोजन कराया, पानी पिलाया **“किन्तु जितनी-जितनी दवा की मर्ज उतना-उतना बढ़ता गया।”** क्या यही कहावत चरितार्थ नहीं हो रही है इस मिथ्यादृष्टि आत्मा के साथ कि ज्ञानी जीव एक बार गलती करता है मगर अगली बार गलती न कर पिछली भूल को भी सुधार लेता है। मगर मिथ्यादृष्टि जीव तो तीनों लोकों में घूम आया, अनन्त बार पुद्गल परावर्तन भी कर लिये। चौरासी लाख योनियों में पुद्गल को खिलाया-पिलाया, विषयों की पूर्ति की मगर तृष्णा की खायी नहीं भरी सो नहीं भरी। फिर भी तू कहता है कि भूख-प्यास साधने से पाप लगेगा। तू खा, खूब खा, खूब पी ताकि भरपूर पुण्य कमा सके; लेकिन याद रख पाप का फल भी संसार है तो पुण्य का फल भी संसार ही है।

संसार में प्राप्त होने वाला इन्द्रियजन्य दुःख तो तुझे दुःख लगता है और इन्द्रिय आश्रित सुख को भी तू सुख मानता है यही तेरी भूल है। प्रथम तो इन्द्रियों पर आश्रित होना ही दुःख है। द्वितीय इन्द्रियों की क्षमता कर्मजन्य है जब तक सातावेदनीय कर्म का उदय होता है तब तक ही इन्द्रिय सुख भासित होता है और असातावेदनीय कर्म का उदय आते ही वही इन्द्रियाँ दुःख का कारण बन जाती हैं। जो अभी तक तुझे सुख देने वाली लगती थी, वही निरन्तर दुःख देती प्रतीत होती हैं।

इन्द्रिय दुःख तो इतना भयावह होता है कि प्राणी इस पर्याय को ही समाप्त करने पर उतारू हो जाता है। जरा सोच तेरे घर हीरे-मोती, सोने-चाँदी के बक्से भरे हैं मगर तू और तेरा परिवार कैसर जैसी बीमारी से पीड़ित है तब क्या तुझे ये हीरे-मोती, सोने-चाँदी देखकर दुःख की अनुभूति कम हो जायगी? अथवा

तेरे घर पर अनाज के भंडार भरे पड़े हैं मगर जो कुछ भी खाता है, कुछ पचता ही नहीं केवल शौचालय की याद सताती है। यदि तुरन्त नहीं भागता तो कभी-कभी कपड़े भी गन्दे हो जाते हैं। अब बता क्या अनाज से भरे भण्डार तुझे सुख के कारण हैं? अथवा तू खाना खाने बैठा एक से बढ़कर एक सुगन्धित स्वादिष्ट व्यंजन तुझे परोसे भी गये मगर मोबाइल पर खबर लगी कि दुकान में आग लग गयी या तू जिसका व्यापार करता है, उसके भाव उतरने से भारी घाटा हो गया या फिर तेरे ही शरीर में कोई ज्वर हो गया तब क्या तुझे वही भोजन रुचिकर लगेगा?

अरे भोले भव्य आत्मा ! तू जिसे सुख मानकर फूला फिरता है वह सब कर्मजनित संयोगी सुख है। संयोग हटते ही बिखर जाएगा तथा जाते-जाते दुःखी कर जायेगा। दुःख देने वाले सुख से फिर मोह क्यों? भूख-प्यास स्वयं दुःख है, जब लगते हैं तब दुःख देते हैं तथा पूर्ति अधिक करने पर भी दुःखदायी हैं इतना ही नहीं इनकी कभी स्थायी पूर्ति भी संभव नहीं। इसीलिये अस्थायी दुःखदायी हैं और नरकों में तो एक कण भी भोजन का न मिला और सागरों पर्यन्त जीवित रहा फिर यहाँ कैसे भूख से मरेगा?

इसीलिये सच्चे वीतरागी चिकित्सक तेरे रोग को भलीभाँति पहचान चुके हैं तथा तुझे भी तेरे रोग की पहचान कराना चाहते हैं। तू भी तो अपने रोग को पहचान और उसका निदान वीतरागी चिकित्सकों के बताये अनुसार कर। भूख मात्र दिन-रात्रि नहीं अनेक दिन-रात्रि तक साधने पर भी न मृत्यु होती है न परिणाम विकल होते हैं। सच तो यह है कि लोग वीतरागी, हितोपदेशी चिकित्सक की बतायी विधि अनुसार उपचार ही नहीं करते। फिर रोग बिगड़ने पर चिकित्सक एवं दवा को कोसते फिरते हैं। क्या यह उचित है? नहीं न ! तब सुनो-

कषाय विषयाहारो, त्यागो यत्र विधीयते ।

उपवासा सा विज्ञेया, शेषः लंघनं विदुः ॥

अनशन तप को धारण करने वाले श्रावक को मात्र भूख-प्यास पर नियंत्रण करना ही पर्याप्त नहीं है। मन्दिरजी में अपने ही आराध्य के समक्ष अथवा घर पर ही एकान्त स्थान में स्थिर होकर सामायिक लगाकर बैठना भी आवश्यक है जिसमें यह विचार, मनन, चिन्तन निरन्तर चलता रहे कि "मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ मुझे जाना है? शरीर के साथ ही आया था तो शरीर के साथ ही नष्ट भी हो जाऊँगा; किन्तु यह संभव नहीं क्योंकि शरीर अलग है, मैं अलग हूँ। मैं ज्ञान-चेतनाधारी जीव हूँ जबकि शरीर स्पर्श, रस, गंध, वर्ण युक्त पुद्गल अजीव है। जो गुण मुझमें हैं वह शरीर में नहीं हैं तथा जो गुण शरीर में हैं वह मुझमें नहीं हैं। फिर शरीर से मेरा कैसा रिश्ता? कब से यह शरीर मेरे साथ है, इस जन्म का शरीर मृत्यु के साथ विघटित होगा तथा अगले भव में अगला शरीर प्राप्त होगा फिर तो शरीर कोई भी मेरा स्थायी नहीं।

जब शरीर स्थायी नहीं तो शरीर से संबंधित खून के या दूध के या देश के या समाज के रिश्ते भी मेरे नहीं। मैं किसके लिये करता हूँ सब अपने-अपने कर्ता हैं, अपना-अपना भाग्य लिये अपने सुख और अपने दुःख के धनी हैं, फिर मैं क्यों किसी की परवाह करूँ? शरीर से भी मेरा स्थायी स्वभावी तादात्म नहीं है। आयुकर्म एवं नामकर्म से प्राप्त एक क्षेत्रावगाही संबंध है वह भी अस्थायी है। न इस पर्याय से पूर्व यह शरीर मेरा था न इस पर्याय के पश्चात् मेरा होगा।

यह शरीर ही मुझे सुख देता है तो इसका दिया सुख ही दुःख में क्यों बदल जाता है? भोजन भी प्रतिदिन देता हूँ, स्पर्श भी आवश्यकतानुसार ठंडा-गर्म, कठोर-मुलायम, चिकना-खुरदरा, भारी-हल्का करवाता हूँ। खट्टा-मीठा, चरपरा-नमकीन, खारा आदि समस्त स्वाद भी चखवाता हूँ। हल्की भीनी खुशबू भी देता हूँ, रंग-बिरंगे दृश्य भी दिखलाता हूँ, कर्णप्रिय स्वर भी सुनाता हूँ, मगर फिर भी यह उदास हो जाता है। कभी इसकी पूर्ति ही नहीं होती। जब देखो तब और लाओ, और लाओ। कब तक पूर्ति करूँ इन विषयों की? कभी तो विराम लगेगा इस पर, लेकिन कब?

आज मुझे कुछ नहीं खाना है, कुछ नहीं पीना है। मेरे कारण से बनने वाला भोजन नहीं बनेगा उतनी हिंसा बचेगी। आरम्भ परिग्रह भी घटेगा। मैं भी घर-गृहस्थी के चिन्ताजनक परिणामों से विरत होकर कितना निश्चिन्त हूँ। कोई दुःख की अनुभूति ही नहीं। यहाँ से उठकर जाऊँगा, तमाम तरह की बातें होंगी, तमाम तरह की खबरें मिलेंगी। उनमें कुछ हँसने वाली होंगी, कुछ रोने वाली। कुछ खबरें तो इतनी चिन्ताजनक होंगी कि खाना-पीना भी भुला देंगी। कितनी देर यहाँ पर हूँ, जगत के सुख-दुःख, चिन्तारूपी व्यामोह से मुक्त हूँ।

पंच परमेष्ठी का जप कर रहा हूँ, उनके गुणों का चिन्तवन कर रहा हूँ। भगवान आदिनाथ ने दीक्षा लेकर वर्षभर भोजन नहीं किया। वे वज्रवृषभ नाराच संहनन के धनी थे। भूख-प्यास के विकल्प को तजकर धर्म-ध्यान किया। फिर धर्म-ध्यान से शुक्ल ध्यान में उतरे तो केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। मैं भी भूख-प्यास से अपने को विरक्त कर रहा हूँ; क्योंकि भूख-प्यास शरीर के विषय हैं, मुझसे इनका रिश्ता नहीं। यह तो मेरे ज्ञान गुण में व्यवधान हैं। थोड़ी देर को इनसे दूर रहने से ही मुझे कितनी आत्मिक आनन्द की अनुभूति हो रही है। फिर स्थायी रूप से इनसे दूर हो जाऊँगा तब तो मुझे निश्चित ही परम आनन्द की प्राप्ति होगी।

अच्छा होता कि मेरे गृहस्थी के सारे कार्य छूट जाते तब न खाने की चिन्ता होगी, न कमाने की। न भोगों की इच्छा होती न विषयों की। न मन की गुलामी रहती न इन्द्रियों की। सदैव अपने ही अन्दर स्थित स्थायी चैतन्य ज्ञान आनन्द की अनुभूति करता। कभी भी विषयों की आकुलता मुझे व्याकुल नहीं कर पाती। निराकुलता ही सच्चा सुख है। आकुलता-व्याकुलता दुःख का मूल है। रोज-रोज की भूख-प्यास

भी तो आकुलता-व्याकुलता देती है। कम से कम एक दिन के लिये तो सच्ची स्वतंत्रता को देने वाली अपनी अजर-अमर, अक्षय, अनन्त सुख को देने वाली आत्मा के साथ निर्विघ्न गुजार लूँ। इसमें समाये अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति का पान कर अनुपम सुख पा सकूँ।

यही अनुभूति मैं धीरे-धीरे बढ़ाऊँगा तो निश्चित ही भूख-प्यास की आकुलता पर विजय प्राप्त कर अपने अतीन्द्रिय आनन्द के पान का सुपात्र बन जाऊँगा।

बस यही तो विधि है जो अनशन करने वालों को अपनाती है; किन्तु वह हमें नहीं अपनाते एवं सांसारिक कार्यों में लगकर अनशन तप को बदनाम कर देते हैं। वे सचमुच अनशन तप नहीं, शुद्ध बंधन करते हैं एवं धर्म को अपयश प्रदान करने का कारण बनते हैं। इसीलिये अनशन व्रत के रूप में अनशन तप तपना है तो पूरी विधि सहित आचरण में उतारो। फिर देखो, तुम्हें शिकायत मिलती है या शकून।

इतने लम्बे उत्तर ने उपस्थित ज्ञान-पिपासुओं को झकझोर दिया। सभी सोच रहे थे दिखने में कम उम्र, हम जिसे पागल समझ रहे थे आज उसी के इस भोले प्रश्न पर ही हमें धर्म का मर्म तथा अनशन का गूढ़ रहस्य समझ में आया। धन्य हो रमेश का। निश्चित ही यह निकट भव्य प्राणी है तभी तो इतना मेधावी है।

अगले दिन रमेश ने गुरुवर से पूछा-भगवन् हम तप करते ही क्यों हैं? क्या मात्र भाव निर्मल होने से काम नहीं चलेगा?

बिल्कुल रमेश की तरह भोलेपन एवं मासूमियत लिये हुये गुरुवर ने कहा-नहीं, भव्य ज्ञानी आत्मा। कर्मों को काटने के लिये तपरूपी अग्नि में कषायों को रागद्वेष सहित होम करना पड़ता है; लेकिन यह यज्ञ तभी सफल होता है जब आत्मा में अन्तरंग परिणामों में निर्मलता बढ़ती जाती है। निर्मलता को पहचानने की कसौटी ही है यह तप। जो तप में खरा उतरता है वह पूर्ण निर्दोष होकर पूर्ण निर्मलता को प्राप्त करता है। जो तप में डिग जाता है या तप में भी व्याकुलता का अनुभव करता है वह निश्चित ही पूर्ण निर्मलता को कभी भी प्राप्त नहीं कर पाता एवं उसके कर्मों की निर्जरा नहीं होने से संसार में रूलता रहता है।

(18) वैराग्य अंकुरित हो गया-

प्रश्नों का प्रभाव तो पड़ ही रहा था लोगों के ऊपर रमेश के। इसी के साथ-साथ कुछ अन्य गुणों की झलक भी लोगों को देखने को मिली जिससे लोगों का विश्वास और दृढ़ हो गया कि रमेश अवश्य ही असाधारण प्रतिभा का तो धनी है, साथ ही रमेश का भाग्य भी प्रबल है। भाग्य का भविष्य भी घटनायें ही बतला देती हैं। यही हुआ भी कि एक श्रेष्ठी के यहाँ चौका लगा था और महाराज न जाने क्या प्रतिज्ञा लें यही सोचकर वह सोच में डूबा था कि पड़गाहन में अकैला हूँ। कहीं ऐसा न हो कि महाराज दो अलग-अलग कलश की प्रतिज्ञा लेकर आयें और वह पड़गाहन से वंचित रह जाये।

अचानक उसे रमेश दिखलायी दिये तब उस श्रेष्ठी ने रमेश को देखा और निवेदन किया कि वह पड़गाहन हेतु खड़े हो जाये। रमेश ने भी स्वीकार कर लिया। खड़े हो गये पड़गाहन को, अचानक वह हो गया जिसकी कल्पना भी रमेश ने नहीं की थी। लघु महाराज श्री विशुद्धसागरजी आकर सीधे रमेश के सामने खड़े हो गये। रमेश ने भी तीन प्रदक्षिणा दी एवं विधिसहित महाराज को आहार करवाया। फिर क्या था लोगों में रमेश और भी अधिक आकर्षण का केन्द्र बन गये तथा सभी रमेश के भाग्य को सराहने लगे। जो भी चौका लगाता, पहले रमेश को ही बुलवाता।

इन सब घटनाओं का स्वयं रमेश पर भी कम प्रभाव नहीं पड़ रहा था। वह मन ही मन सोचने लगे कि क्या बात हो गयी है, मैं मन्दिर भी जाना पसन्द नहीं करता था, न ही मेरी किसी भी धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा थी। बस मित्रों के साथ पर्यटन का आनन्द लेता था इसीलिये मन्दिर किसी भी आमनाय का हो, सम्मानपूर्वक देखता नमन करता। इसी प्रकार समय बीत गया। पढ़ाई भी अच्छी चल रही थी, सब कुछ व्यवस्थित था। सभी नाते-रिश्ते मिलनसार प्रेम से परिपूर्ण थे। किसी भी प्रकार की कमी नहीं थी। मैं स्वयं भी सभी से उतना ही प्रेम करता था। किसी की तकलीफ या दुःख-दर्द देखा नहीं जाता। इसीलिये सभी की सहायता हेतु तत्पर रहते हैं। अन्याय सहने की अपेक्षा अन्याय से लड़ने की प्रवृत्ति अधिक है; किन्तु यह सभी लक्षण तो संसार की व्यवस्थाओं के प्रतीक हैं।

इसके बाद फिर रमेश सोचने लगे कि मेरा मन संसार से उचट सा क्यों रहा है? मात्र एक बार माँ ने कुछ भेद की बात कही थी मगर बड़े पापा के समझाने पर सब कुछ साफ हो गया था। फिर क्यों ऐसा लगता है कि सब कुछ मिथ्या है, सब झूठ है। कोई किसी का नहीं होता जबकि मेरे यहाँ तो सभी मुझे चाहते हैं, मेरे बगैर कुछ होता भी नहीं। मेरे सुख-दुःख का भी सभी अच्छी तरह ध्यान रखते हैं। जरा-सी बीमारी हो या दुःख, तकलीफ हो तो सभी तड़प उठते हैं। मेरे खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, सोने-जागने सभी का तो ध्यान रखते हैं। फिर क्यों मुझे अपनेपन में कमी महसूस होती है?

कुछ भी समझ नहीं आया रमेश को तथा उसका ध्यान चला गया अपने ही द्वारा पूछे गये प्रश्नों पर। पर प्रश्नों से अधिक ध्यान गया उसका पूज्य गुरुवर विरागसागरजी की सौम्यमूर्ति सा चेहरा। फिर याद आता गया उसे मुनिवर का वात्सल्य एवं प्रेमभरा चेहरा। मुनिवर का चेहरा ही नहीं वात्सल्य भरा व्यवहार ही इतना मधुर था कि स्वयं ही रमेश का आकर्षण गुरुवर की तरफ बढ़ता जा रहा था। उसी समय रमेश को याद आया युवा मुनि विशुद्धसागर का चेहरा जिसे देखते ही अल्पवय में साधना की स्मृति ताजा हो गयी।

रमेश को लगा कि न वैराग्य की कोई उम्र होती है न साधना की। प्रत्यक्ष प्रमाण हैं मुनि विशुद्धसागर, जो इतनी कम उम्र में ही वैराग्य और साधना के पथ पर चल पड़े हैं। तब फिर मैं भी तो वैराग्य के पथ पर चल सकता हूँ; किन्तु मुझे वैराग्य के पथ पर चलने की प्रेरणा तो होती है, हिम्मत नहीं। हिम्मत हो भी तो कैसे?

मुझे कोई भी किसी प्रकार का धार्मिक ज्ञान है ही नहीं। ज्ञान तो तब होता जब मैं ज्ञानियों की संगति में रहता एवं धार्मिक वातावरण में जीवन व्यतीत करता। ज्ञान के अलावा मुझे किसी भी प्रकार का धर्म, साधना या वैराग्य का अनुभव भी नहीं है। फिर भी मेरा मन बार-बार मुनिवर विरागसागर की तरह बनने को क्यों करता है? उस पर भी तरुण मुनि विशुद्धसागर की उम्र तो कहती है कि कल्याण का मार्ग तो कभी भी शुरू हो सकता है। हाँ, हाथ आया अवसर खो दिया तब न जाने पछतावा ही हाथ रहे और कुछ नहीं।

तुरन्त मन बदल गया तथा विचारधारा भी बदल गयी। याद आ गये संसार के सुख, गृहस्थी की जिम्मेवारियाँ तथा पीड़ित दुःखी हृदय प्राणियों के चेहरे जो टकटकी लगाये मेरे मदद के लिये मेरी ओर देख रहे हैं तथा बार-बार मुझे पुकारने के लिये करुण क्रन्दन कर रहे हैं। जीवन की जिम्मेवारियों का निर्वहन करना भी तो धर्म है जो भी अपने गृहस्थ धर्म का पालन नहीं करता तथा मुँह चुराकर भागता है अपनी जिम्मेवारियों से जी चुराता है; वह पलायनवादी है। पलायन करने वाले तो जीवन से हारे हुए हताश एवं विरले लोग हैं जो कायर है। जो गृहस्थी में रहकर अपने धर्म को नहीं निभा पाया वह गृहस्थी छोड़कर कैसे धर्म का निर्वहन करेगा। गृहस्थी के कार्य निभाना भी तो बहुत बड़ा तप है। गृहस्थी में जिसने रहकर धर्म की अग्नि प्रज्वलित नहीं की तथा छोटे-छोटे व्रत नियमों को धारण कर समता और संयम को नहीं साधा वह एकाएक इतने बड़े महाव्रत पद को महान् जिम्मेवारियों का कैसे निर्वहन करेगा?

घुटनों के बल चलते-चलते पैर खड़े हो जाते हैं। छोटे-छोटे नियम एक दिन बहुत बड़े हो जाते हैं।।

घर रहकर यदि हम क्रोध पर काबू नहीं कर सके। मान का मर्दन नहीं कर सके, मायाचारी से पराया धन छीनना, दूसरों को दुःख देना न छोड़ सके तथा परिग्रह की सीमा निर्धारित नहीं कर सके तब तो समझलो यही बाधाएँ साधु बनकर भी हमारे सामने आयेंगी तथा हम साधु वेश धारण करके भी क्रोधी, मानी, मायाचारी एवं परिग्रह के लोभी बने रहेंगे। मैंने देखा नहीं तो सुना अवश्य है कि दुर्वासा जैसे क्रोधी साधु एवं द्वीपायन जैसे मुनि हुये हैं जो क्रोध को वश में न कर स्वयं क्रोध के वशीभूत हो गये एवं दूसरों के विनाश के साथ-साथ अपने ही सर्वनाश का कारण बने। मुनि बनकर तपस्या करते हुये भी मुनिवर युद्ध भूमि में पुत्र की रक्षार्थ पहुँच गये कि मेरे होते कौन मेरे पुत्र का कुछ बिगाड़ सकता है। अपनी आहार व्यवस्था अथवा मन्दिर आदि के नाम पर झूठ बोलकर दान करवाने एवं उस पैसे को अपने गृहस्थी वाले घर या अपने चाहने वाले को देने के भी तो उदाहरण देखे जाते हैं। कई-कई साधु तो अपनी पद की गरिमा को इतना तज देते हैं कि कहलाते हैं अपरिग्रह महाव्रत के धारी तथा सत्य में रखते हैं इतनी गृहस्थी कि साधारण गृहस्थ भी उसे पाकर लखपति, करोड़पति बन जाय।

धिक्कार है ऐसे तप को, मुझे तो अभी गृहस्थी में रहकर ही कसायों पर विजय प्राप्त करनी है। राग को आग में जलाना है तथा समता भाव धारण करने का प्रयास करना है। साधुओं का तप तो स्वतंत्र तप है, साधुओं के ऊपर किसी प्रकार की जिम्मेवारी नहीं होती। न कमाने की, न खाने की, न पढ़ने की, न पढ़ाने की, न प्रवेश की। लड़के को योग्य बनाकर कमाई करने लायक बनाने या फिर लड़की को सुशिक्षित कर शादी योग्य होने पर शादी कर उसके घर भेजने की भी जिम्मेवारी नहीं होती। न जल की चिन्ता, न बिजली की चिन्ता, न दूध की, न घी की, न सब्जी की, न नमक-तेल की। साधुओं को मकान, जमीन के स्वामित्व या कब्जा की जिम्मेवारी नहीं होती; किन्तु गृहस्थ को तो इतनी ही नहीं उससे कहीं अधिक जिम्मेवारी होती है।

आश्चर्य होता है गृहस्थ को जिम्मेवारियों से मुक्त मात्र ज्ञान, ध्यान करने हेतु स्वतंत्र साधु की साधना विफल होती हुयी देखकर। हाँ, बहुत सुखद अहसास होता है सुबह से शाम तक चौबीसों घण्टे घर-गृहस्थी की खटखट में पिसते प्राणी को समय निकालकर उन्मुक्त, स्वतंत्र एवं प्रसन्नता के भाव लिये भगवान की भक्ति, पूजन करते देखकर। क्यों होता है ऐसा कि एक मजदूर जो सिर पर क्विण्टलों वजन लादता है, अच्छा खाना खाता है एवं चैन की नींद सोता है। वही पर संघों के अधिनायक आचार्यों की भी स्थिति कितनी हास्यास्पद हो जाती है जब वह भगवान भजन एवं निजकल्याण के हेतु ज्ञान, साधना, तप, सामायिक कार्यों से हटकर केवल बड़े-बड़े विधान, प्राण-प्रतिष्ठा एवं पंचकल्याणक तथा गजरथ के विशाल समारोह में संलग्न हो जाते हैं।

हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि कभी-कभी कोई साधु मात्र बड़े आयोजनों में संलग्न ही नहीं होते, संलिप्त भी हो जाते हैं। आयोजन समिति को अपने इशारों पर नचाते हैं तथा हिसाब की कुंजी अपने पास रखते हैं। स्वयं की पूछ न होने या प्रवचनों के समय में कटौती करने पर भी आग बरसाने लगते हैं। आम आदमी के सामने पोल खोलने की धमकी देते हैं। उन्हें जिसने साध लिया सो ठीक वर्ना शामत तो आयी ही समझो। कभी-कभी तो आमदनी में खर्च की मदें स्वयं निर्धारित करते हैं। जहाँ उनके चले-चपाटे होते हैं वहाँ पर दान दिलाते हैं अथवा जिस क्षेत्र से उनका नाम जुड़ा हो उसके लिये अपनी प्रेरणा से भारी भरकम चन्दा वसूल कर दान के रूप में दिलवाते हैं।

जब भी कोई दर्शन हेतु पहुँचता है, बड़े पैसे वाले रईसों से बड़ी-बड़ी योजनाओं पर चर्चा करते हुये मिल जायेंगे। कभी-कभी तो तीनों काल की सामायिक का समय ही व्यवस्थाओं की भेंट चढ़ा देते हैं। सभाओं में औषध, शास्त्र, अभय आहार, आगम के अभिकथित दान की चर्चा छोड़कर केवल रुपया-पैसे के दान पर बहुत जोर देते हैं। ताकि अधिक रुपया, अधिक धन जुड़ाने के कारण समिति उन्हें इज्जत दे एवं पूछ बनी रहे। मुनिधर्म के अनुसार जो आचरण नहीं करना चाहिये वह भी समय की आवश्यकता बतलाकर करते रहते हैं। आम आदमी भले उनके धर्म एवं आगम विरुद्ध आचरण देखकर नाक-भौं सिकोड़े; किन्तु उन्हें कोई परवाह नहीं होती, न ही उनके चेहरों पर कोई शिकन ही आती है।

उसी समय उसकी आत्मा में दूसरे पक्ष ने बिजली के करंट सा झटका देते हुये प्रवेश किया। रमेश एकदम हड़बड़ा गया। पूरा शरीर पसीने-पसीने हो गया। वह सोच ही नहीं पाया कि ऐसा क्या हुआ मेरे मन में, क्यों कर पंच परमेष्ठी में गर्भित महाव्रती आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं के प्रति विपरीत विचार आये। मुझे तो मात्र अच्छे गुण ग्रहण करना है। किसी की कमियों से मुझे क्या लेना-देना। मुझसे तो सभी अच्छे हैं।

आम आदमी बगैर जूता-चप्पल के नहीं चलता। वहाँ कंकड़-पत्थर, उबड़-खाबड़ गड्डों भरी जमीन पर हमारे साधु बगैर जूता-चप्पल पहने चलते हैं। हमें हर मौसम के अनुकूल वस्त्र एवं साधन चाहिये। सर्दी में गर्म, गर्मी में ठण्डे तथा बरसात में जल से बचाव वाले; परन्तु धन्य हैं हमारे दिगम्बर साधु जो बरसात में पेड़ के नीचे तप करने बैठ जाते हैं। इतना भी नहीं सोचते कि यदि जल सीधा उन्हीं पर गिरा तो क्या करेंगे? अरे गिरेगा क्या, गिरता भी रहता है; परन्तु उनका ध्यान अविचल रहता है। गरजते-बरसते बदलों एवं चमकती-कड़कती बिजली में भी निर्भय होकर ध्यान में लीन रहते हैं। न पेड़ गिरने का भय, न जंगली जानवर सिंह, भालू, चीता, सियार आदि का खतरा, न ही साँप, बिच्छू जैसे विषैले जन्तुओं के डसने का डर।

वे जानते हैं मृत्यु मेरी होती नहीं, मैं अजर-अमर हूँ। नष्ट एक दिन शरीर को होना ही है। पूर्व जन्म में मेरे द्वारा यदि किसी का कुछ बिगाड़ हुआ है तो वह अपना कार्य करेगा। मुझे न किसी से बदला लेना है, न ही किसी का उपकार चुकाना है। संसार के समस्त बन्धनों से मुक्त मैंने तो निजकल्याण हेतु ही यह भेष धारण किया है। यह भेष ही मुक्ति का अन्तिम सोपान है। देवताओं का शरीर भी संयम न रख पाने के कारण मुक्ति का साधक नहीं। ऐसा मैंने गुरुवर के मुख से सुना है तथा यह भी जान लिया है कि यह शरीर मुक्ति का साधन तो है मगर शरीर से राग होने पर मुक्ति नहीं होती। शरीर से मेरा जो अनादिकाल से संबंध जुड़ा है उसे ममत्व के रिश्ते को मारने पर ही मुक्ति मिलती है।

पहले स्व-पर भेद विज्ञान द्वारा अपने और पराये का निर्णय करना पड़ता है। अपने-पराये का निर्णय करने के बाद हित-अहित देखा जाता है। फिर गुरुवर कहते हैं कि हित करने वाले को अपनाया जाता है एवं अहित करने वाले को छोड़ा जाता है। मेरा हित करने वाला मेरा शरीर नहीं है। गुरुवर के कथनानुसार मेरा हित करने वाला तो मैं स्वयं आत्मा हूँ जो इस शरीर में स्थित है। अनादिकाल से मैंने इसे अपना मान रखा है। इसीलिये इसे भूख लगती है तो भोजन देता हूँ, प्यास लगती है सो पानी देता हूँ। निद्रा आती है सो सोया करता हूँ, थक जाता हूँ तो आराम देता हूँ, बीमार होता हूँ तो दवा देता हूँ। गर्मी से बचाने के लिये शरीर में ठंडक पहुँचाने वाले वस्त्र एवं भोज्य एवं खाद्य पदार्थ देता हूँ तथा कूलर, एयर कंडीशनर लगाकर रखता हूँ। भले लाखों मच्छर मरे तो मरे, मच्छर-मार दवायें लगाकर ही मच्छरों को मारकर इसे चैन की नींद सुलाता हूँ।

वहीं दूसरे महाव्रती महाराज सूर्य की तेज रोशनी में तपती पत्थर की चट्टानों पर ध्यान लगाकर तप तपते हैं और शरीर का नहीं स्वयं के शरीर से ममत्व मिटाने का प्रयास करते हैं। सर्दियों में भी जब हम ऊन के कपड़ों में, रूई की रजाइयों में छिपकर तथा अग्नि का सहारा लेकर सर्दी दूर करने का प्रयास करते हैं वहीं हमारे दिगम्बर साधु नदी किनारे खुली ठंडी रेत पर ध्यान लगाकर संसार शरीर से मोह को मिटाने हेतु ध्यान-मग्न हो जाते हैं।

दिगम्बर जैन साधु ही गुरुवर के कथनानुसार विवेकसहित पूर्ण सम्यक् श्रद्धान् के साथ तप तपा करते हैं तथा दिगम्बर जैन साधुओं का अभीष्ट भी तप की दुर्धर साधना से लौकिक कार्यों, लौकिक साधनों या लौकिक पदों की प्राप्ति नहीं होती। वह तो शरीर को साधन की तरह प्रयोग करते हैं, अपनी मुक्ति के लिये। क्योंकि मुक्ति भी इसी शरीर में रहते हुये, इसी शरीर से ममत्व त्याग, इसी शरीर को दिये जाने वाले सीमित एवं शरीर को मात्र चलते रहने वाले साधन देने से ही संभव है।

रमेश को वाचना जैसे उत्कृष्ट सत्संग से अत्यन्त उच्चकोटि का आध्यात्मिक लाभ हुआ था। यही वजह थी कि सदा संसार में डूबा रहने वाला रमेश आज संसार में रहने या संसार से मुक्त होने की राह पर चलने, इन दोनों परस्पर विरोधी विचारधाराओं के बीच जबर्दस्त संघर्ष चल रहा था। अभी रमेश के जीवन में अनुभव ही कितना था जो इतने महत्त्वपूर्ण मसले पर उचित निर्णय कर पाता।

रमेश का मोही मन कभी नाते-रिश्तों के मोह में जकड़ कर रह जाता तो कभी मोह के बन्धनों से मुक्त होने के लिये छटपटाने लगता। परन्तु अनिर्णय की स्थिति बरकरार रहती। लगता था कि निर्णय का सही समय अभी नहीं आया था। इसीलिये संघर्ष का दौर चल रहा था। रमेश ने भी जल्दबाजी करने में समझदारी नहीं समझी तथा अपने कार्यों में संलग्न हो गया।

क्या याद नहीं अर्जुन आदि पांडवों की कथा। कितने बलशाली थे पांडव जिन्हें परम शक्तिशाली भीष्म पितामह, स्वगुरु अक्षय शक्तिपूँज गुरु द्रोण, कुलगुरु कृपाचार्य, अजेय और अचूक धनुर्धर कर्ण जैसे योद्धाओं और सेनापतियों से सुसज्जित सेना को परास्त कर दिया था। वही पांडव जब भीलों ने गोपियों का हरण किया तब एकदम असहाय, निरीह नजर आ रहे थे। क्योंकि जब तक उनका पुण्य था शक्ति उनके साथ थी तथा शक्ति प्रभाव में भी थी; किन्तु पुण्य क्षीण हुआ कि शक्ति होते हुये भी प्रभावहीन हो गयी। रावण जैसे बलशाली शत्रु का वध करने वाले लक्ष्मण-नारायण बलभद्र राम भी तो पुण्य क्षीण होते ही अपने ही पुत्र लव-कुश से परास्त हो गये।

हमारे जीवन में भी पुण्य से संबंधित घटनाओं की कमी नहीं। पुण्य होता है तो हमारे बिगड़े हुये काम बन जाते हैं जबकि पुण्य क्षीण होते ही हमारे बने-बनाये काम ऐसे बिगड़ते हैं कि हम लाख कोशिश करलें बनाये नहीं बनते। बच्चे वर्ष भर पढ़ाई करते हैं; किन्तु किसी का पुण्य क्षीण होता है तब मात्र एक नम्बर से

डिवीजन एवं पोजिशन अर्थात् प्रथम श्रेणी की प्राप्ति एवं सब छात्रों में प्रथम स्थान दोनों ही चले जाते हैं। कभी-कभी तो मात्र पेपर में बुखार आया और सब कुछ खत्म जबकि पुण्य रहता है तब कितना भी बुखार रहे, इच्छा शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि हम ही अनहोनी को होनी में बदल देते हैं।

**पुण्य उदय कुल उत्तम पावे, पुण्योदय धन दौलत पावे।
पुण्य उदय से उत्तम नारी, पुण्य से ही सुत आज्ञाकारी॥
पुण्य हरे आके दुःख सारे, बने मित्र सब पुण्य सहारे।
पुण्य से होय निरोगी काया, पुण्य सुफल उत्तम बतलाया॥**

पुण्य होता है तब हमारी आवश्यकतायें हमें पता नहीं पड़ता स्वयमेव पूर्ण हो जाती हैं। हमारी बुरी दशा में पुण्य जाग्रत होता है, पुरखों से कर्ज लेने वाले भी किसी न किसी रूप में स्वतः हमारी मदद कर जाते हैं तथा मदद करके अहसान नहीं जताते, अहसान मानते हैं। पुण्य क्षीण होते ही हमारे ही नाते-रिश्तेदार हमसे मुँह मोड़ लेते हैं। जिन पर सर्वाधिक भरोसा होता है वही सबसे पहले किनारा करते हैं। आते हैं नया रिश्ता जोड़ने, पुराना रिश्ता तक खत्म करके चले जाते हैं।

पुण्य का खेल पृथ्वीराज चौहान से अधिक किसने जाना। सत्रह बार मुहम्मद गौरी ने आक्रमण किया; किन्तु सत्रहों बार पृथ्वीराज चौहान का पुण्य काम करता रहा, मुहम्मद गौरी हारकर भागता रहा। परन्तु पुण्य क्षीण होते ही अठारहवीं बार पृथ्वीराज चौहान हार गया तथा सत्रह से वंचित मुहम्मद गौरी पुण्य उदय में आते ही जीत गया।

रमेश के स्मृति-पटल पर इतिहास के झरोखे से पुण्य से संबंधित घटनायें ऐसी उभरती चली आ रही थी मानों घटनाओं की बाढ़ आ गयी हो; किन्तु रमेश की सोच की दशा पुनः बदल गयी। रमेश के मस्तिष्क में स्वयमेव प्रश्न उभर आया तथा रमेश की आत्मा स्वयं से ही प्रश्न कर बैठी कि जब पुण्य का फल इतना महान् है तब जिनके कारण पुण्य होता है उनका पुण्य कितना होगा ?

(19) वंदना करो मगर त्रती बनकर-

समाज को सन्मार्ग दिखाने वाले दुःख को दूर कर सुख का मार्ग बताने वाले तीर्थकर, अरिहन्त, भगवन्तों के साथ-साथ आचार्य, उपाध्याय एवं मुनि, ऋषि आदि साधु-संतों का जन्म-स्थान, साधना-स्थल, निर्वाण भूमि स्वयं पावन पवित्र तीर्थ का स्वरूप प्राप्त कर लेती है जिसके दर्शन एवं रज लेने मात्र से आम आदमी के पाप गल जाते हैं, कर्म खिरने लगते हैं। पुण्य का संचय होता है तथा भावों में शुद्धि आती है तो क्रिया भी शुद्ध होने लगती है। जब क्रिया शुद्ध होती है तब बंध भी शुभ ही होता है। नरक तिर्यच और खोटी योनियों का जन्म मिट जाता है। देव और मानव पर्याय प्राप्त होती है जिसमें अपने आराध्य की भक्ति

एवं अपने अन्दर स्थित आत्मारूपी परम आत्मा को प्राप्त करने का सहज और सरल अवसर भी उपलब्ध होता है।

ऐसे पावन पवित्र तीर्थों की वंदना हम सभी करने जाते हैं, मगर बहुत पैसा खर्चकर भी खुद के अन्दर भरी भावों की अशुद्धि को धो नहीं पाते। हाँ, अपने खोटे कर्मों के द्वारा तीर्थों की पवित्रता एवं शुद्धता अवश्य प्रभावित कर देते हैं; क्योंकि हमारा उद्देश्य ही बन गया है कि खर्च कितना भी हो जाय मगर शरीर को कष्ट न हो जाय। इसीलिये हर जगह जाकर भी हम खाने-पीने, रहने-सोने की सुविधा का पहले प्रयास करते हैं वंदना का बाद में। यही परिणाम भी प्राप्त होता है कि हमें खाने-पीने, सोने आदि विशेषताओं वाले शरीर तो भिन्न-भिन्न योनियों में मिल जाया करते हैं मगर नहीं मिलते तो भगवान के दर्शन। नहीं हो पता अपनी ही आत्मा से साक्षात्कार, नहीं हो पाती आत्मसुख की प्राप्ति। इसीलिये तो सांसारिक और शारीरिक सुख-दुःख को अपना मानकर उसी में डूबे रहते हैं। काश ! एक बार भी हम तीर्थों की वंदना सुविधा त्याग व्रतों को धारण कर पाते तो सत्य से साक्षात्कार होता सच्चा सुख मिल जाता।

रमेश भी तो आम दर्शनार्थी की भाँति जैन जगत के सर्वोत्कृष्ट आस्था के केन्द्र पावन तीर्थ सम्मेशिखरजी की वंदना हेतु जा रहे थे। आदेश था आचार्य गुरुवर श्री विरागसागर का दीक्षा के पूर्व पावन तीर्थराज की वंदना का। हाँ, आचार्यश्री ने आदेश पावन तीर्थराज की वंदना के पूर्व चलते-फिरते तीर्थ परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री विमलसागरजी के दर्शनों का दिया था सो रमेश भी महान् संत आचार्यश्री के चरणों में नमन करने हेतु ब्रह्मचारी राकेश (वर्तमान में मुनि विमुक्तिसागर) के पास पहुँच गये। पूज्य आचार्यश्री ने रमेश से पूछा- तेरी कितनी प्रतिमा है ? तब रमेश ने कहा- एक भी नहीं। तब आचार्यश्री ने कहा- **“तीर्थराज की वंदना करने जा रहा है वह भी अव्रती होकर, नहीं व्रती बनकर जा। व्रती बनकर ही पवित्र तीर्थों की वंदना करना चाहिये तभी सही और शुभ फल प्राप्त होता है।”**

ब्रह्मचारी राकेश भैया ने रमेश को श्रीफल देते हुये कहा- प्रतिमा ग्रहण कर लीजिये। उसी समय आचार्यश्री ने कहा- गुरु से व्रत नहीं लेगा तो किससे लेगा ? तब रमेश ने कहा- मेरे गुरु पूज्य आचार्य विरागसागरजी हैं, वह तो यहाँ नहीं है, फिर मैं प्रतिमा कैसे ले सकता हूँ ? तब मुस्कुराते हुए महान् संत वात्सल्यमूर्ति गुरुवर आचार्य विमलसागरजी ने कहा- मैं तेरे गुरु का गुरु हूँ, किसकी आज्ञा चाहिये, चल प्रतिमा ले ले। फिर भी रमेश की हिचकिचाहट बरकरार रही, फिर भी हाथ जोड़ते हुए बोले- आज्ञा दे रहे हैं तो ठीक, मगर प्रतिमा हमारे गुरु विरागसागरजी द्वारा दी मानी जायेगी। मुस्कुराते हुए आचार्यश्री ने कहा- हाँ ठीक है, विरागसागर की दी मान लेना, मगर वंदना व्रती बनकर ही करना।

**शाबाश पत्थरों होशियारी इसको कहते हैं।
बिन तरासे थे तो पत्थर थे, तरासे तो खुदा निकले ॥**

(20) भक्त को भगवान मिल जाँ-

जैन जगत के दैदीप्यमान किन्तु वर्तमान में विलुप्त आध्यात्मिक सितारे परम पूज्य समाधिस्थ गुरुवर आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज को कौन नहीं जानता। पूज्य आचार्यश्री के उपदेश ही नहीं आचार्यश्री के आशीर्वाद में भी वह अद्भुत शक्ति विद्यमान थी कि जिसे भी वह सच्ची श्रद्धा से प्राप्त हो जाता उसका तो जीवन ही निहाल हो जाता। जीवन की गति बदल जाती, जीव की गति बदल जाती, जीवन में छाया मिथ्यात्व और माया का अंधकार पलायन कर सम्यक्त्व और साधना का प्रकाश स्फुटित हो जाता; किन्तु हर किसी की किस्मत में मुक्ति की मनोकामना नहीं होती। सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिये ही वह आचार्यश्री के दर्शनों के लिये दूर-दूर से चले आते। आचार्यश्री भी उन्हें निराश नहीं करते जिसकी जैसी कामना, जिसकी जैसी भावना उसको वैसा ही मंगल आशीर्वाद। हाँ, इतना अवश्य था कि स्वयं के सुख एवं कल्याण की कामना लिये तो कोई भी सहज भाव से आचार्यश्री के समक्ष पहुँच जाता था; किन्तु मन में पर के पराभव या अकल्याण की कामना लेकर जाने वाले का यदि आचार्यश्री से साक्षात्कार भी हो जाता तब स्वयमेव ही उसकी दुर्भावना दबकर रह जाती तथा मुख से मात्र निजकल्याण की कामना ही निकल पाती तथा एक अज्ञातभय उसे शीघ्र आचार्यश्री के उस तेजोद्दीपित मुखमंडल के सामने से हटने को विवश कर देता।

इतने महान्, इतने असामान्य, अद्भुत और अद्वितीय पूज्य गुरुवर आचार्यश्री विमलसागरजी महाराज का सान्निध्य प्राप्त करने की सदा होड़ लगी रहती थी। मगर गुरुवर मात्र आशीर्वाद ही नहीं देते अपितु उनको आये लोक से परलोक की यात्रा करने एवं राग से वैराग्य की वयार बहाने वाले उस पथिक को तलाश करती जो न सिर्फ स्वकल्याण की राह पर चलता रहे बल्कि परकल्याण की भावना भी उसमें कूट-कूटकर भरी हो साथ ही वह अपने साथ सभी को ले चलने में भी समर्थ हो। यही वह विशेषतायें थी जिनके आधार पर गुरुवर आचार्य पूज्यश्री विमलसागरजी की पारखी नजरों ने महामुनि, महातपस्वी, महासंयमी तथा वात्सल्य से विभूषित 108 श्री विरागसागरजी को आचार्यपद के योग्य समझा और महामुनि पूज्यश्री विरागसागरजी को आचार्यपद देने हेतु घोषणा भी कर दी।

पूज्य आचार्यश्री विमलसागरजी स्वयं उस तीर्थराज श्री सम्मेशिखरजी में संघ सहित विराजमान थे। महामुनि विरागसागरजी भी बुन्देलखण्ड के शिखरजी तीर्थक्षेत्र श्री द्रोणगिरिजी में उस समय सन् 1992 में पावन वर्षायोग धारण किये थे। आचार्यपद प्राप्ति का समारोह आयोजित होने के पूर्व पूज्य आचार्यश्री का आशीर्वाद प्राप्त करना आवश्यक था। यद्यपि इस मंगल कार्य के पूर्ण करने हेतु पं. बाबूलालजी को महामुनि श्री विरागसागरजी द्वारा अधिकृत कर दिया था। फिर भी आवश्यकता महसूस हो रही थी किसी ऐसे ब्रह्मचारी साधक की जिसे माया-मोह प्रभावित नहीं करता हो। साथ ही ऐसा श्रद्धावान हो कि स्वयं के सुख-दुःख की परवाह किये बगैर ही गुरु-आज्ञा में स्वतः समर्पित हो।

ऐसे सुपाल की खोज करने में भी विलम्ब नहीं हुआ; क्योंकि गुरुओं की पारखी नजर तो सदैव अपने शिष्यों और अपने भक्तों पर रहती है। बगैर कुछ कहे कुछ सुने गुरु अपने शिष्यों के गुण-अवगुण की पहचान कर लेते हैं। मात्र पहचान तक ही गुरु सीमित नहीं रहते अपितु गुरु की कृपा का दायरा इतना बढ़ जाता है कि शिष्यों को पता ही नहीं चलता कि गुरुवर ने कब उसके अन्दर बैठे अवगुणों को पलायन कर सदगुणों का प्रवेश करा दिया। शिष्य को पता भी कैसे चले वह तो गुरु-चरणों की भक्ति में ऐसा खो जाता है कि भक्ति की महती में उसे होश ही नहीं रहता कि स्वयं उसे क्या करना है वह तो बस गुरु की ओर टकटकी लगाये देखता रहता है कि कब गुरुवर के श्रीमुख से उसे कोई आदेश प्राप्त हो और वह उसे पूरा करे। रमेशकुमारजी भी गुरुवर महामुनि विरागसागर के ऐसे ही समर्पित शिष्य थे तभी तो शीघ्र ही गुरुवर के मुख से वचनमृत निकल पड़े कि रमेश को भेजो वह निश्चित ही निर्लिप्त भाव से सांसारिक साधनों का उपयोग करते हुए वीतरागी गुरुवर का मंगल आशीर्वाद लायेगा और हम सभी निश्चिन्त हो जायेंगे। सभी एकदम से आश्चर्य के सागर में डूब गये; क्योंकि उस समय रमेश से भी योग्य और अनुभवी शिष्य समर्पित भाव से गुरु आज्ञा में थे फिर गुरुवर की इतनी महती कृपा रमेश पर ही क्यों? किन्तु न तो किसी को कुछ कहना पड़ा और न ही किसी से कुछ पूछना पड़ा; क्योंकि सामने का दृश्य ही ऐसा था कि सारी शंकाओं का समाधान स्वतः हो गया।

रमेश भाव विह्वल सा गुरु-चरणों में नतमस्तक था तथा कुछ कहना चाहते हुये भी कुछ कह नहीं पा रहा था। शायद शब्द उसका साथ छोड़ रहे थे अथवा वाणी ही कुछ कहने को बाहर नहीं निकल रही थी। गुरुवर का प्यार और स्नेह भरा हाथ जब रमेश के ऊपर आया तो गुरुवर के ही मुख से शब्द प्रस्फुटित हो गये कि **“वत्स, चिंता मत करो ! अपने पर विश्वास रखो, संयम से कभी विचलित मत हो, अब तक मेरे पास उपलब्ध शिष्यों से मात्र तुम ही ऐसे शिष्य थे जिससे कोई भी कार्य अभी तक गुरुवर द्वारा दिया ही नहीं गया था कि जिससे रमेश के शिष्यत्व और समर्पण के साथ-साथ गुरु के प्रति समर्पण की भी परीक्षा हो जाती। अब मेरे गुरुवर पू. आचार्य विमलसागरजी का मंगल आशीर्वाद लाना ही तुम्हारा संकल्प है।”** इसी के साथ सभी में हर्ष की लहर दौड़ गयी। रमेश से अनुभवी शिष्यों को भी रमेश के प्रति और प्यार उमड़ आया कि चलो हमारा एक और साथी आज से हमारे समान ही गुरुवर की छत्रछाया का कृपापात्र बन गया। हमसे भी जो सहयोग बन पड़ेगा, हम अवश्य ही अपने प्रिय साथी को हर उस कार्य में मदद करेंगे जो कभी भी वह हमसे अपेक्षा करेगा। प्रिय रमेश के आत्मबल एवं गुरुवर के प्रति समर्पण में हम भी बराबर के सहभागी बनेंगे। बस, यही सोच उस समय वहाँ विराजमान प्रत्येक शिष्य में प्रवाहित हो रही थी।

**शिष्य के अरमान खिल गये, भक्त को भगवान मिल गये।
जीवन के सब पाप धुल गये, ऐसे सदगुरु संत मिल गये।।**

शिष्य की तो पहचान ही यही है कि वह निर्लोभ भाव से गुरु के प्रति पूर्ण समर्पण कर दे। गुरु आज्ञा ही नहीं गुरु की चर्या और गुरु के वेश पर भी कभी शंका न करे। जो कुछ भी जानकारी या शंका हो, गुरुपद पर बैठाने के पूर्व ही पूर्ण कर ले। क्योंकि सब कुछ सोच-समझकर कार्य करने वाले को कभी भी पछतावा नहीं होता। हाँ, कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पूर्व जन्म के संस्कार प्रबलता से उदय में आते हैं तब हमें गुरु की खोज नहीं करनी पड़ती और न ही गुरु की परीक्षा लेनी पड़ती है बल्कि संयोग ही ऐसा आता है कि गुरुवर स्वयं शिष्य के पास पहुँच जाते हैं तथा शिष्य भी एक अनजानी डोर में श्रद्धासहित बंधकर गुरुवर के पीछे-पीछे चला आता है। यही तो हुआ था रमेश के साथ जब स्वयं गुरुवर विरागसागर रमेश के जन्म स्थान ग्रामकुपी पहुँच गये। रमेश के भी पूर्व जन्म के संस्कारों ने ऐसी हिलोर ली कि उस हिलोर ने मोह, माया, ममता के बंधनों को तड़-तड़कर तोड़ दिया और रमेश के जीवन की धार ही बदल दी। अब तो रमेश को उठते-बैठते, सोते-जागते हर क्षण, हरपल, हर समय बस गुरुवर विरागसागर की वात्सल्यभरी सौम्य मुखाकृति ही लुभावनी, मनभावनी लगती। यह भावना बढ़ते-बढ़ते आज इतना बड़ा आकार ले लेगी। यही सोच-सोचकर रमेश का रोम-रोम रोमांचित हो रहा था। रमेश का लघुमन सोच ही नहीं पा रहा था कि वह गुरु-चरणों में है या भगवतचरणों में।

शिष्य की खुशी का उस समय क्या ठिकाना हो सकता है, जब गुरु ही शिष्य को अपने गुरु के चरणों में नमन करने व नमन श्रद्धा, भक्तिसहित कर गुरुवर का मंगल आशीर्वाद ग्रहण करने का शुभ अवसर प्रदान करे। ऐसा ही सुसंयोग एवं शुभ समय आज रमेश के जीवन में उदय हुआ था। जिसे पाकर रमेश का भक्ति भरा मन आज रह-रहकर भक्ति की श्रद्धाभरी कुलांचे ले रहा था। रमेश गद्गद थे कि पूज्य गुरुवर विरागसागर महामुनि ने उसे इस योग्य तो समझा अन्यथा वह स्वयं तो आज तक स्वयं को किसी कार्य के योग्य ही नहीं समझता था।

गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर रमेश पहुँच गये पावन तीर्थराज श्री सम्मदशिखरजी। दैनिक कार्यों को पूर्णकर बढ़ चले मंगल यात्रा पर तथा चढ़ चले पावन पर्वत श्री पार्श्वनाथगिरि श्री सम्मदशिखरजी के ऊपर। साथ में थे पं. बाबूलालजी टीकमगढ़ वाले एवं उनके पुत्र। लगभग 2-3 बजे निकलने पर भी कई लोग रमेश से आगे निकल गये थे; किन्तु जब सिंहशावक जैसी मस्त स्वाभाविक चाल में रमेश ने अपने पैरों को गति क्या प्रदान की देखते ही देखते अनेक यात्री पीछे छूटते गये एवं अपनी गति से उनसे आगे निकलते गये। यहाँ तक कि स्वयं पंडित अपने पुत्रसहित कब पीछे छूट गये, तन के साथ मन में भी भक्ति की गंगा बहाते रमेश को इसका भान तक नहीं हुआ। अपनी ही धुन में डूबे रमेश बढ़े तो ऐसे बढ़े कि बढ़ते-बढ़ते वह अकेले ही आगे रह गये। गंधर्वनाला से भी आधा किलोमीटर आगे बढ़ने पर जब कोई नहीं दिखा तब पहली बार पर्वतराज की वंदना को आये साहसी रमेश को भी एक अज्ञात भूल का अहसास मन में भय व्याप्त कर गया

कि कहीं रास्ता तो नहीं भूल गये। अचानक एक कुत्ता कहीं से आया और रमेश के आगे-आगे चलने लगा। रमेश भी सारा भय भूलाकर उसी के पीछे-पीछे चल पड़े तथा लगभग चार बजे श्री मंदिरजी में पहुँच गये। वहीं पर साथ ही पहुँचे ब्रह्मचारी भैया विमलजी एवं ब्रह्मचारिणी बहिन (वर्तमान में पू. आर्यिका माँ सागरमतिजी) के साथ पूरी भक्ति-भाव सहित भगवान की पूजा-अर्चना की एवं शेष वंदना पूर्णकर वापिसी के लिये श्री पार्श्वनाथ प्रभु की टोंक से नीचे चल पड़े।

रमेश, ब्रह्मचारी भैया तथा ब्रह्मचारिणी बहिन को प्रभु के प्रति भक्ति ने समय को विस्मृत कर दिया। परिणामस्वरूप तीनों यात्री ही साथ थे, दूर-दूर तक कोई न नजर आ रहा था और न ही किसी मानव की उपस्थिति का दूर-दूर तक अहसास हो रहा था। मन को फिर शंकाओं की घटाओं ने घेर लिया कि कहीं कुछ गड़बड़ न हो जावे। अकेले पुरुष ही होते तब भी कोई बात नहीं थी, साथ में बहिन भी है, छोड़कर तो जाया नहीं जाता। वैसे भी कमजोर की रक्षा सहजोर किया करते हैं बहिनें तो भाइयों के हाथ (कलाई) पर सूत का धागा इसीलिये बाँधती हैं कि भैया अब आप मेरी रक्षा के बंधन में बंध गये हैं। इसे हर हाल में निभाना और मेरी हर प्रकार से रक्षा करना। भाई भी उस बंधन को इतनी खुशी के आवेश में स्वीकार करता है तथा कहता है कि प्यारी बहिना यह बंधन नहीं मेरा तो अहो भाग्य है जो मुझे मेरे कर्तव्य की याद दिलाता है तथा जिसका निर्वहन करने पर ही सच्ची खुशी प्राप्त होती है। आज वही वक्त आ गया था रमेश के जीवन में। रमेश ने भी परिस्थितियों से हार मानने के स्थान पर प्रभु की शरण में जाना बेहतर समझा। कुछ देर पलक बंद कर प्रभु का स्मरण करते रहे। आँखें खोली तो सामने एक भीलनी खड़ी थी जिसने सामने बहते नाले की ओर इशारा करते हुए कहा कि इसी नाले के किनारे-किनारे चले जाओ, कभी भी इस तरह गलत रास्ते पर मत आया करो। सही रास्ता चलो तभी सही मंजिल पर पहुँचोगे, गलत रास्ते पर चलकर जीवन भर भटकने के अलावा कभी भी सही मंजिल की प्राप्ति नहीं होगी।

रमेश सही रास्ते पर साथियों सहित बढ़ते जा रहे थे, मगर मन में भीलनी बुढ़िया का एक-एक शब्द कोंध-कोंधकर कानों में टोकर मार रहा था कि "गलत रास्ते पर चलोगे तो जीवन भर भटकते रहोगे, कभी भी सही मंजिल पर नहीं पहुँचोगे, सही रास्ते पर चलोगे तो सीधे अपनी सही मंजिल पर ही पहुँचोगे।" सोच रहा था बालक रमेश का मन कि बुढ़िया माँ ने सिर्फ पर्वत से उतरने और आगे बढ़ने का ही रास्ता नहीं दिखाया वरन् जीवन में आये भटकाव से निपटने की सच्ची सीख भी दी है। अभी तक हम सचमुच भटकते ही तो रहे कभी इस भव में कभी उस भव में। कभी पत्नी में भटके तो कभी पति में, कभी नातों में रोये तो कभी रिशतों में। कभी संपत्ति को अपना माना तथा धन-दौलत, मकान एवं विषय सामग्री को ही मंजिल माना तथा पूरा जीवन गुजर गया। इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हुई; परन्तु विषयाभिलाषा और बढ़ी तब अगले भव में भी भोग का निदान किया। स्वर्गों के सुख अनन्त बार भोगे पर मन को मार नहीं पाया, भटकते ही रहे भटकते ही गये। नरकों के दुःख भी भोगे तो पर से बैर निकालकर नये बैर बाँधते रहे वहाँ भी मन की सुनी, तन की

सुनी परन्तु सच्ची आत्मा की आती सत्य आवाज एक बार भी नहीं सुनी। बार-बार रास्ता दिखाने वाले मिले मगर हमने उन्हें ही भूला हुआ मानकर अपनी समझ में भटकने को छोड़ दिया। मगर ये नहीं जान पाये कि वह तो तर गये, हम मर गये मर-मरकर जिन्दा हुये फिर मर गये, नहीं मरे तो मरे सी जिन्दगी जीते रहे। इसीलिये अच्छा है कि अब आज के बाद कभी नहीं भटकेंगे। गुरुवर के बताये रास्ते पर पूर्ण समर्पण तथा बगैर किसी शंका, कांछा के आगे बढ़ेंगे। बस, रमेश का यही संकल्प साकार हुआ तथा भटकना छूट गया, मंजिल की तरफ एक-एक कदम बढ़ता जा रहा है।

(21) सजा सच बोलने की-

कहा जाता है कि सच की कभी हार नहीं होती तथा सच हमेशा कठोर होता है, सच 'दूध का दूध, पानी का पानी' कर देता है। इसके साथ-साथ यह भी सच है कि सच की खातिर कभी-कभी हमें बहुत कुछ त्याग भी करना पड़ता है। सच की खातिर अपमान भी सहना पड़ता है, सच की खातिर अपनों की बुराई भी मिल सकती है, अधिक क्या कहें सच की खातिर सजा भी मिल जाती है। हाँ, यह अलग बात है कि सच जिस किसी के भी हृदय में बस जाता है उसे सच की खातिर मिला कष्ट भी आन्तरिक सुख की अनुभूति कराता है। सच की खातिर मिली सजा भी दुःख तकलीफ और अपमान आम आदमी को भले महसूस हो मगर सच में जीवन जीने वाले को वह दुःख भी सुख लगता है। वह तकलीफ शांति प्रदान करती है तथा अपमान में भी सम्मान की प्रतीति होती है; क्योंकि सच कहने की नहीं, सच सुनने की नहीं अपितु सच तो अन्दर की अनुभूति का नाम है। सत्य का साधक इस अनुभूति को स्वयं में समाहित करता रहता है, यदि कभी जरूरत होती है तब साधक की यही अनुभूति शब्दों के माध्यम से कुछ अंशों में प्रगट हो जाया करती है।

ग्रीष्मकाल में आचार्यश्री का प्रवास नगर बीना में चल रहा था। आचार्यश्री विरागसागरजी अनुशासन और मर्यादा का स्वयं तो पालन करते ही थे। अपने अनुगामी साधु और श्रावकों को भी अपने प्रवचन एवं संदेश के माध्यम से यही शिक्षा देते थे। आचार्यश्री ने आदेश दिया कि कोई भी ब्रह्मचारी किसी भी ब्रह्मचारिणी बहिनों से आपस में किसी भी प्रकार की वार्ता, शब्द तथा संकेतों से नहीं करेंगे। कुछ दिन गुजरने के बाद आचार्यश्री ने पूछ लिया कि नियम तो ठीक चल रहा है कि नहीं। सभी ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणी बहिनें एकदम चुप हो गयी। किसी के मुख से कुछ नहीं निकला। सहज भाव से सत्य के साधक ब्रह्मचारी भैया रमेश ने सहसा कह दिया कि आचार्यश्री डायरेक्ट चर्चा तो नहीं, हाँ इन्डायरेक्ट (अप्रत्यक्ष) चर्चा अवश्य हो जाया करती है। आचार्यश्री ने इसे अपनी आज्ञा, अनुशासन और मर्यादा का उल्लंघन मानते हुये सभी ब्रह्मचारियों को तीन नीरस भोजन का आदेश दिया। किसी ने एक किसी ने दो नीरस भोजन किये तत्पश्चात् नीरस की छूट आचार्यश्री से माँगने लगे। इसके बावजूद रमेश ने न तो छूट की माँग की न ही नीरस से रमेश का मन मलिन हुआ। आचार्यश्री ने सभी की भावना परखी तथा यथोचित छूट भी प्रदान की।

आचार्यश्री की नजरों से रमेश का अन्तर्मन भी छुपा नहीं था। रमेश की दृढ़ता तथा सत्यनिष्ठा से भलीभाँति परिचित होते हुए भी आचार्यश्री ने रमेश से कहा कि यदि परेशानी हो तब शेष प्रायश्चित्त बाद में कर लेना। रमेश ने तुरन्त कहा— नहीं, कोई भी परेशानी नहीं है, प्रायश्चित्त पूरा ही करेंगे। रमेश ने दृढ़ संकल्प के साथ प्रायश्चित्त पूर्ण किया जबकि रमेश तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार का वार्तालाप किसी भी ब्रह्मचारिणी बहिन से नहीं करते थे और न ही कभी श्रावकों को अनावश्यक चर्चा के लिये अपने पास बैठने देते थे। रमेश के मन में यही विचार मंथन चल रहा था कि मैं भले ही किसी से चर्चा नहीं करता था, मगर दूसरों की चर्चा की बात दूसरे ही गुरु के समक्ष प्रगट करते, यही सन्मार्ग होता। मेरे द्वारा दूसरों की गुप्त बात प्रगट करना भी सत्य को दोष लगाना है इसीलिये मैं भी प्रायश्चित्त का उपयुक्त पात्र हूँ। मुझे सजा नहीं सुधरने के लिये गुरुवर का वरदान मिला है।

(22) यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं न करणीयं न चरणीयं—

कहावत स्वयं अपने अन्तर में छिपे मर्म को बयां कर रही है। कह रही है— कहावत कि कोई भी कार्य कितना भी सत्य एवं शुद्ध हो; किन्तु लोक में उसके कारण अशांति, असहिष्णुता एवं अनमेलता की भावना आती हो तब उस कार्य को नहीं करना चाहिये।

ऐसा ही एक प्रसंग आ उपस्थित हुआ। आचार्यश्री विशदसागर को सन् 1993 में जब वह बीना वाले बसन्त सिंघई के यहाँ ब्रह्मचारी रमेश के रूप में पहुँचे तब वहाँ पर बसन्तजी की पत्नी घर में अकेली थी। स्वयं बसन्तजी घर में नहीं थे। ब्रह्मचारी रमेश ने अन्दर पहुँचकर चारों तरफ दृष्टि घुमायी; परन्तु बसन्तजी की पत्नी के अलावा कोई नजर नहीं आया। उसी समय उन्हें गुरुवर विरागसागर का कथन याद आ गया कि किसी भी घर में अकेली स्त्री हो तो उस घर में आना—जाना पुरुष का अपनी ही नहीं उस स्त्री तथा लोक की मर्यादा के विरुद्ध है। बस, क्या था रमेशजी लौटकर वापिस आने लगे। ब्रह्मचारीजी को अचानक वापिस जाता देख बसन्तजी की पत्नी ने जोर से कहा— अरे भैयाजी, आप क्यों वापिस जा रहे हैं ? तब रमेशजी ने कहा— घर में आप अकेली हैं, हम नहीं जायेंगे। तब महिला ने पड़ोसी को बुलाकर बैठा लिया। थोड़ी देर बाद बसन्तजी आ गये। बसन्त की पत्नी ने ब्रह्मचारीजी के वापिस लौटने की बात बसन्तजी को सुनायी, तब बसन्तजी ने ब्रह्मचारीजी से कहा— भैयाजी आप भी मजाक करते हैं। अरे अपना ही तो घर है। बात बसन्तजी ने आचार्यश्री से भी कह दी। आचार्यश्री ने पूछ लिया— ब्रह्मचारीजी चौके से वापिस क्यों हो रहे थे ? क्या परेशानी थी जो ऐसा निर्णय लेना पड़ा ? तब ब्रह्मचारी रमेश ने बड़ी ही संजीदगी से उत्तर दिया— आचार्यश्री आप ही तो कहते हैं “यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं न करणीयं न चरणीयं।” आप ही बतायें घर में महिला अकेली हो तब वहाँ ब्रह्मचारी का प्रवेश कैसे संभव है ? आचार्यश्री ने मंद—मंद मुस्कराते हुये कहा— हाँ ठीक है, लोक की मर्यादा रखना आवश्यक है, यही करना चाहिये।

(23) पहले स्वज्ञानी बनो फिर परज्ञानी-

हम स्वयं जल में तैरना जानते हो तब तो पानी में डूब रहे व्यक्ति को हमारे द्वारा डूबने से बचाने की संभावना हो सकती है। यदि स्वयं ही जल में प्रवेश करने की कला का ज्ञान न हो तब दूसरों को जल में डूबने से बचा लेने की संभावना ही समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार जिस व्यक्ति को यह पता नहीं कि वह क्या कह रहा है ? क्या कर रहा है ? वह तो किसी भी प्रकार जिन्दगी जिये जा रहा है। मतलब यह कि उसका जीवन निरुद्देश्य ही हुआ; क्योंकि जीवन जब उद्देश्यपूर्वक हो जाय तब उद्देश्य की पूर्ति हेतु उद्देश्य की ही आवश्यकतानुसार व्यवहारिक कार्य-कलाप किया जाता है। यदि उद्देश्य ही पता नहीं हो तब तो किया गया समस्त कार्य व्यवहार अन्त में सिवाय पछतावा के कुछ भी प्रदान नहीं करेगा।

जीवन में ज्ञान प्राप्ति भी एक उद्देश्य है। ज्ञान भी दो प्रकार का होता है- एक लौकिक ज्ञान, दूसरा पारलौकिक ज्ञान। लौकिक ज्ञान हमें हमारे वर्तमान जीवन को लोक के साथ सामंजस्य स्थापित कर जीने की कला बताता है वहीं पारलौकिक ज्ञान वर्तमान जीवन के पार भविष्य में जीव को नश्वर शरीर त्यागकर सम्पूर्ण और शाश्वत ज्ञान की कला सिखाता है जिसके आधार पर हमारा स्वयं का वर्तमान तो सुखमय बनता ही है हमारा भविष्य भी उज्ज्वल बनता है। उसी भविष्य के गर्भ में वह ज्ञान छिपा है जो दिव्यज्ञान (केवलज्ञान) कहलाता है तथा जिसमें छिपा है अनन्तसुख, अनन्तबल, अनन्तवीर्य तथा अनन्तज्ञान। इसे प्राप्त करने की कला कहने में बहुत सरल करने में बहुत कठिन है। पूर्ण अपरिग्रही, पूर्ण निःशंकित एवं पूर्ण निरवांछित तप तपने वाला ही इसे प्राप्त करता है। मगर उस मंजिल तक पहुँचने के पूर्व हमें बहुत ही सावधानी पूर्वक क्रमशः अल्प-अल्प उद्देश्यपूर्ण संकल्प सहित एक-एक कदम उठाना पड़ता है। एक भी निरुद्देश्य व जल्दबाजी का कदम हमें हमारी राह से भटका सकता है। हमारे सम्पूर्ण पुरुषार्थ को भंग कर सकता है। इसीलिये दया के सागर गुरुवर आचार्य अपने शिष्यों को प्रारम्भ से ही सही दिशा में आगे बढ़ाते हैं तथा जरा-सी भी भूल या यद्वा-तद्वा गतिविधि देखते हैं तब रोककर शिष्य को सही राह पर लाते हैं तथा यह भी स्मरण कराते हैं कि स्वयं में पूर्ण बनो, तब पर में झाँको।

बात है सन् 1993 में अतिशय क्षेत्र श्रेयांसगिरि में चल रहे आचार्यश्री के वर्षायोग की। एक दिन एक अलमारी में रखी पुस्तक उठाकर रमेश ने पढ़ना शुरू की। आचार्यश्री ने देखते ही पूछा- किससे पूछकर उस पुस्तक को उठाया था तथा पढ़ने का प्रयास किया ? सहज भाव से रमेश ने उत्तर दिया- वहाँ रखी थी इसलिए उठाकर पढ़ने लगा और डरते-डरते वह पुस्तक वहीं पर रख दी। रमेश थोड़ा सा झुंझलाये तभी आचार्यश्री ने कहा- ध्यान रखें कभी बिना अनुमति के कोई किताब नहीं पढ़ सकते। आचार्यश्री चले गये तो रमेश के मन में उदासी छा गयी तथा विचार आया कि आखिर पुस्तक पढ़ने में अपराध क्या है ?

आचार्यश्री ने सुबह स्वाध्याय की चर्या में स्वयं ही समाधान किया- “योग्य साधक पहले स्वमत में प्रवीण हो, पश्चात् परमत का अध्ययन करे, तब सही दिशा में अग्रसर हो सकेगा। यदि स्वयं आगम का ज्ञान न हो और आगम पढ़ने लग जाये तब भटक ही जाएगा।” फिर रमेश को ही इंगित करते ही आचार्यश्री ने कहा- पहले जैनागम के पारगामी बनो, बाद में अन्य मत का कुछ भी पढ़ना, मैं मना नहीं करूँगा।

(24) डाँट अपमान नहीं स्व-सुधार का सशक्त साधन-

असहिष्णुता और असहनशीलता तथा असंयम वर्तमान में चरम लक्ष्य पर है। कोई किसी की बात भी सुनने को तैयार नहीं। बात भले ही उसी के भले के लिये की जा रही है। बात सुनने के पहले मन पर अहंकार हावी हो जाता है। स्वयं की भूल होते हुए भी मन बार-बार यही कहता है कि आखिर मुझसे ही क्यों कहा ? सामने वाले से क्यों नहीं कहा, वह तो मुझसे भी अधिक दोषी है ? बात यदि डाँट-फटकार में बदल जाये तब तो कहना ही क्या ? हमारा मन तो डाँट के नाम पर ही सातवें आसमान पर चढ़ जाता है। डाँटने वाले चाहे हमारे माता-पिता हो, गुरुजन हो। हमसे बड़े और सम्मानित लोग ही क्यों न हो हमारा अहंकार हमें किसी के आगे झुकने की अनुमति ही नहीं देता। अब तो बात यहाँ तक बढ़ गयी है कि यदि पति पत्नी को डाँट दे तो वह पति को ही त्याग देती है, मगर अपनी भूल के लिये डाँट सहन नहीं कर पाती। पुत्र अपने माँ-बाप की डाँट से क्षुब्ध होकर आत्महत्या करने पर उतारू हो जाता है। गुरु शिष्य को डाँट लगाये तब तो गुरु को ही शिष्य के हाथों सजा भोगनी पड़ती है; क्योंकि अब शिष्यों को शिक्षा के नाम पर मध्याह्न भोजन दिया जाता है, शिष्य को भी पढ़ाई की नहीं भोजन की लगन रहती है, अब जब वह पढ़ेगा ही नहीं तब वह कैसे सीखेगा कि गुरुजन हमारे भविष्य को सुधारने और संवारने के लिये ही डाँट लगा रहे हैं। बच्चियों की कहानी तो इससे भी अलग है।

बच्ची को तो बचपन से ही पराये घर की अमानत बताई जाती है तथा कहा जाता है कि ससुराल में सास-ससुर, जेठ-जेठानी, नन्द-नन्दोई डाँटे भी तो सह लेना। यहाँ मायके में लाड़ में रह लो मगर ससुराल में तो बंधन में रहना होगा। बचपन की यही बातें बच्चियों पर इतना बुरा असर डालती हैं कि वह मायके में झाड़ू-बुहारी, चौका-चूल्हा-बर्तन तथा खान-पान के किसी भी काम में हाथ बंटाने के स्थान पर मात्र पढ़ने पर ही जोर देती है। पढ़ाई के नाम पर जीवन के आवश्यक सभी गृहस्थ कार्यों से दूर भागती है। परिणामस्वरूप ससुराल जाकर कुछ भी करना न जानने से रोज-रोज गृह कलह की पात्र बनती है। स्वयं दुःखी रहती है, पति को दुःखी करती है तथा पूरे परिवार को नरक बनाकर रख देती है। अकेले में बैठकर रोते हुये सिसकियाँ लेती है तथा सोच-सोचकर पछताती है कि अगर माँ-बाप भाई-बहिन की बात मानली होती गृहस्थी के काम भी पढ़ाई की तरह सीख लेती तब आज यह इतने बुरे दिन नहीं देखने पड़ते। किसी

के भी डांट लगाने पर सभी मुझको मनाते समझाते तथा सही राह पर चलने की सीख देते मगर मैं तो अपने अहंकार में अकड़ी रहती। बात-बात पर तुनक जाती यही वजह है कि आज तुनकना तो आता है मगर संभलना नहीं आता।

संभलेगा कौन जो बात को सहेगा, डांट खाकर भी जिसकी सहिष्णुता समाप्त नहीं होगी वही खुद को संभालेगा, दूसरे को संभालेगा तथा संभल-संभलकर चलते हुये ऐसे कदम रखना सीख जाएगा कि किसी की भी डांट खाने की जरूरत ही नहीं रहेगी। मगर यह सब कौन करेगा जो स्वयं पर नियंत्रण रखेगा। दूसरों के कहे को सीख की तरह लेगा, डांट को अपमान नहीं सम्मानपूर्वक ग्रहण करेगा। समझलो यही मुक्ति पथ का राही है। यही सद्गृहस्थ है, यही सन्मार्गीश्रावक है और यही मन के अहंकार को नाशकर दूसरे के समक्ष विनयावनत खड़ा हो सकता है। यह पालता ही पालता अन्यथा बुढ़ापा आ जाय तब भी झुकना नहीं आता। रस्सी जल जाती है मगर एंठ नहीं जाती।

ऐसा ही हुआ था, एक बार संघस्थ ब्रह्मचारी गोकुलभाई ने कपड़े सुखाने हेतु रस्सी बाँधी। रमेश ने उसी रस्सी पर अपने कपड़े सुखाने हेतु डाल दिये। ब्रह्मचारी गोकुलजी ने देखा तो देखते ही तमतमा गये। आव देखा न ताव चीखते हुए कहा- “कहाँ से आ जाते हैं यहाँ अधिकार जमाने। आगे से ध्यान रहे मेरी रस्सी पर कभी कपड़े मत डालना” यह कहते हुये रस्सी पर टंगे रमेश के कपड़े उतारकर फेंक दिये। रमेश ने भी गर्मागर्म जवाब ब्रह्मचारीजी को दे दिया। जिसकी शिकायत आचार्यश्री तक पहुँच गई। आचार्यश्री ने रमेश से कहा- तुमने गोकुलजी को जवाब दिया, देखो कितने बड़े बुजुर्ग और पितातुल्य हैं, अपने से बड़ों का सदा सम्मान करना चाहिये। भविष्य में इस बात का ध्यान रखना तथा एक रस का त्याग करना। जो बात दूसरों को बुरी लगे उसे करने से सदा बचना।

रमेश ने सब कुछ चुपचाप सुना, मगर मन ही मन तिलमिला उठे तथा सोचते रहे कि आखिर मेरा अपराध क्या है ? मैंने तो जवाब ही दिया, कुछ किया तो नहीं जबकि ब्रह्मचारी गोकुलजी ने न सिर्फ मेरे कपड़े रस्सी से उतारकर फेंक दिये बल्कि मुझे भली-बुरी बातें जोर-जोर से कहकर अपमानित भी किया। उनसे तो कुछ नहीं, मुझे ही प्रायश्चित्त दे दिया। क्या बड़े होने का मतलब छोटों से मनचाहा व्यवहार करना जब चाहे छोटों को अपमानित करना है। आचार्यश्री ने भी मेरी बात सुने बगैर ही प्रायश्चित्त दे दिया मुझे बिल्कुल भी समझ नहीं आ रहा कि आखिर मेरे ही साथ ऐसा व्यवहार क्यों किया गया ? गलती दोनों की थी तब सजा सिर्फ मुझे क्यों ? डांट सिर्फ मुझे क्यों ? क्या छोटों का दिल नहीं होता, यह बात रमेश के गले उतर ही नहीं रही थी कि क्या छोटों के अपमान पर ही बड़ों का सम्मान टिका है ?

इसी उधेड़बुन में बैठे रमेश विचार तंद्रा में खोये थे, तभी मुनि निर्णयसागर ने उस कमरे में प्रवेश किया तथा स्वाभाविक रूप से पूछा- रमेश क्या बात है ? शांत नजर आ रहे हो, रमेश ने मुनिश्री को कोई उत्तर

नहीं दिया मानो मुनिश्री की बात सुनी ही नहीं हो अथवा सुनकर अनसुनी कर दी हो। मुनिश्री ने पुनः पूछा तो साथी संजय भैया ने कहा, आचार्यश्री ने डांट लगा दी। इतना सुनते ही मुनिश्री निर्णयसागर एकदम प्रसन्नचित्त होते हुए बोले- यह तो बहुत अच्छी बात है। दूसरे की बात सुने वगैर ही मुनिश्री ने आगे कहा- ब्रह्मचारीजी बताओ दो बोतल रखी है, एक में दबा रखी है, एक खाली है। यदि तुमसे कहा जाये यह डांट लगाकर आ जाओ, तुम बताओ किस बोतल में डांट लगाकर आओगे ? चुप रहने पर पुनः मुनिश्री बोले बोलिये रमेशजी क्या मुझसे भी नाराज है, किस बोतल में डांट लगाओगे भरी में न। रमेश ने भी बगैर मुँह से कुछ कहे हाँ, में सिर हिला दिया। तब मुनिश्री ने समझाते हुये कहा- आचार्यश्री ने तुम्हें गुणों से भरा हुआ पाया इसीलिये डांट लगा दी ताकि यह गुण कहीं बिखर न जाये। ब्रह्मचारी गोकुलजी का क्या ? वह तो बहुत बुजुर्ग हैं मगर किसी की भी न सुनते हैं, न मानते हैं जो भी मन में आया वही करते हैं। मान-मर्यादा का तो ख्याल भी नहीं रखते। इतनी उम्र पा चुके हैं कि उन्हें डांटने से छूट तो सकते हैं झुक नहीं सकते। इसीलिये निजकल्याण के लिये आगामी डांट तुम्हारा कल्याण ही करेगी, इतना ध्यान रखना। सचमुच रमेश के जेहन में सब कुछ समा गया तथा सिर का सारा बोझ उतरा तो मन हल्का हो गया।

राहों में शूल बिछाना चाहिए, बिछे हुए शूल हटाना चाहिए।

भावसहित गुरु भक्ति करके ए विशद, फर्ज अपना हरदम निभाना चाहिए।

(25) सोच अपनी-अपनी-

दुनिया में समाज को सुधारने का प्रयास करने वाले एवं समाज के साथ-साथ स्वयं के कल्याण हेतु घर-परिवार एवं गृहस्थी का भी मोह त्यागकर तप, त्याग एवं साधना में लीन रहने वाले साधु-संत यत्र-तत्र सर्वत्र विहार करते हैं। साधुओं के तप का इतना प्रभाव होता है कि आम आदमी के रोग, शोक, आधी व्याधि एवं कामनाओं की पूर्ति उन तेजस्वी साधुओं के दर्शन एवं विनयावनत नमन के साथ ही पूर्ण हो जाया करती है। साधु-संत जिस किसी नगर या बस्ती में पहुँचते हैं, भक्तों का मन स्वयमेव उनकी सेवा एवं स्वागत हेतु तड़प उठता है। साधु-संत की जितनी अधिक ख्याति हुआ करती है लोग उतना ही अधिक श्रद्धा एवं भक्ति के साथ आदरपूर्वक उतनी ही अधिक दूरी से साधु की अगवानी करते हैं। जब साधु के प्रति अगाध श्रद्धा एवं आस्था अत्यधिक बढ़ जाती है तब भक्त भी उनके दर्शनों हेतु दूरी की परवाह किये बगैर हजारों किलोमीटर की कष्ट साध्य यात्राकर उनकी चरण-रज लेकर ही सुख एवं शांति की अनुभूति प्राप्त करता है।

साधु देश, काल, परिस्थिति एवं समाज के बंधनों में नहीं बँधते। साधुओं के वचन अमृत के समान सभी का कल्याण करने वाले होते हैं। साधुओं के वचनों में एवं साधुओं की क्रिया में किसी भी प्रकार का राग या द्वेष किसी के प्रति नहीं हुआ करता। जिसकी जैसी भावना अन्दर से हुआ करती है, साधु का दर्शन भी

उसे वैसा ही प्रतीत हुआ करता है। कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि भक्त किसी साधु की ख्याति बहुत सुनता है तथा व्याकुल हो उठता है उनके दर्शनों को। मगर जब दर्शन करता है और उसकी भक्ति साधु की ख्याति दोनों में अन्तर होता है तब भक्त बहुत बड़ी असमंजस में फंस जाता है वह निर्णय ही नहीं कर पाता कि कमी मुझमें है, मेरी भक्ति में है अथवा स्वयं साधु में ?

बात कुछ ऐसी ही हुई रमेश के साथ। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में बहुप्रतिष्ठित एवं अत्यधिक ख्याति प्राप्त कर्मयोगी संत आचार्य 108 श्री विद्यासागर की ख्याति उड़ते-उड़ते रमेश के कानों में पहुँच चुकी थी। रमेश बहुत विह्वल थे, आचार्यश्री के दर्शनार्थ किन्तु वह स्वयं भारतवर्ष के दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के एक अन्य महान् ख्याति प्राप्त कर्मयोगी, उपसर्गविजेता, वात्सल्य रत्नाकर, आचार्य 108 श्री विरागसागरजी के परम भक्त थे। यही कारण था कि जिस प्रकार एक भक्त अपने ही आम्नाय के समस्त साधुओं का आदर एवं मूल्यांकन एक समान दृष्टि से करता है, रमेश में भी वही भाव था तथा वह उसी समान संवेग के साथ अवसर प्राप्त होते ही पूज्य आचार्य 108 श्री विद्यासागर के दर्शन करना चाहते थे।

वह अवसर भी रमेश के जीवन में आ गया जब रमेश को बहुत प्रयत्न के बाद पूज्य आचार्यश्री विद्यासागरजी के दर्शन तो हुये मगर दर्शन करने की जटिलता एवं अपने मन में वर्षों से संजोये प्रश्नों का अनुकूल या प्रतिकूल कोई भी उत्तर न मिलने से रमेश के मन को वह शांति प्राप्त नहीं हुई, जिसकी कामना उसने अपने स्वप्निल संसार में सजा कर रखी थी। बल्कि शांति के स्थान पर एक वैचारिक उथल-पुथल उसके मन में क्रांति का बीज बो गयी।

हुआ यह कि पूज्य आचार्यश्री विद्यासागरजी की शीतकालीन वाचना मध्यप्रदेश के प्रसिद्ध नगर एवं परम पूज्य समाधिस्थ राष्ट्र संत श्री गणेशप्रसादजी वर्णी की कर्मस्थली सागर में चल रही थी। रमेश को भी सागर होते हुए छतरपुर जाना था। आचार्यश्री की वाचना की जानकारी सागर में होने की जानकारी होते ही रमेश का मयूर मन आचार्यश्री के दर्शनार्थ मचल उठा। पहुँच गये सागर मोराजी जहाँ पर पूज्य आचार्यश्री विराजमान थे। दरवाजे पर खड़े व्यक्ति ने रमेश को अन्दर जाने से मना कर दिया तथा पन्द्रह मिनट बाद आने को कहा। थोड़ी देर रुककर पुनः रमेश पहुँच गये, दर्शन हेतु मगर दरवाजे पर खड़े व्यक्ति ने पुनः थोड़ी देर की बात कहकर वापिस कर दिया। रमेश ने सोचा मेरी कोई व्यक्तिगत पहचान नहीं है, शायद इसीलिये दर्शन नहीं हो रहे हो। उसी समय ब्रह्मचारी जिनेश भैया दिखे जो सदैव पूज्य आचार्य श्री विरागसागरजी के पास आते-जाते रहते थे तथा आचार्यश्री की व्यवस्थाओं में बढ-चढकर हिस्सा लेते थे। जिनेश भैया से आचार्यश्री के दर्शन कराने को कहा तो उन्होंने भी बहाना कर दिया कि अरे मैं नहीं जानता आपको, कहीं जा रहा हूँ। वहीं से निकल रहे टड़ा वाले ब्रह्मचारी भाई राजेश से दर्शन का निवेदन किया तो उन्होंने भी हाथ खड़े कर दिये।

जिन आचार्य की ख्याति सम्पूर्ण भारत में फैली है उनके दर्शन हेतु उनके दर पर आकर नहीं मिल रहे थे। बार-बार किये जा रहे प्रयास भी व्यर्थ हो रहे थे। धीरे-धीरे रमेश को समय की कमी की चिंता सताने लगी। जल्दबाजी के कारण उतावलापन हावी हो गया। स्वाभाविक बात है कि उतावलापन वह भी तरुणाई के साथ हो जाये तो क्रोध की उत्पत्ति अवश्यंभावी हो जाया करती है। हुआ भी यही रमेश के दिल-दिमाग पर क्रोध हावी हो गया। मन में विचारधारा भी तेज हो चली। सोच रहे थे कैसा संयोग है डेढ़ घंटे से लगातार प्रयास कर रहा हूँ मगर सफलता है कि और दूर चली जा रही है। क्या दर्शन नहीं होंगे ? क्या बगैर दर्शन के ही वापिस जाना पड़ेगा ? भविष्य में दर्शन मिले न मिले क्या भरोसा ? जल्दी जाना भी है आखिर क्या करूँ, क्या न करूँ कुछ सूझ ही नहीं रहा था। बस, दर्शन की भावना इतनी प्रबल हुई कि समय की कमी ने धैर्य का बाँध तोड़ दिया तथा मन में भावातिरेक लिये तीसरी बार दरवाजे पर पहुँच गये। इस बार भी पूर्व की भाँति दरवाजे पर खड़े व्यक्ति ने मना किया तो रमेश की हिम्मत जवाब दे गई और अचानक ही क्रोध के आवेश में तरुणाई चीख पड़ी। रमेश बोल रहे थे- तुझे शर्म नहीं आती, मुझे तीन बार आने पर भी तू बार-बार दर्शनों के लिये मना कर रहा है, तेरा बाद कभी होगा भी या नहीं ? आवाज आचार्यश्री के कानों में पहुँची तब उन्होंने पूछ लिया- कौन है ? द्वारपाल ने कहा- एक ब्रह्मचारी है, दर्शन करना चाहते हैं, तुरन्त आज्ञा मिल गई। रमेश भी बगैर पल गंवाये पलक झपकते अन्दर पहुँच गये।

बड़ी ही भक्ति-भावपूर्वक आचार्यश्री को नमोऽस्तु बोला, विनयावनत होकर कायोत्सर्ग भी किया तथा पूज्य आचार्यश्री की चरण-रज सिर पर लेते हुए नम्र निवेदन किया- हम बीना से परम पूज्य आचार्यश्री विरागसागरजी के संघ से आपके पावन दर्शन हेतु आये हैं। पूज्य आचार्यश्री ने आशीर्वाद तो दिया, मगर उसके बाद मन में उठ रहे जितने भी प्रश्न संजोकर लाया था, एक-एक कर आचार्यश्री के समक्ष रखता गया। मगर आश्चर्य कि एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं मिला। हाँ, आचार्यश्री ने किसी प्रश्न पर 'हाँ' की तो किसी प्रश्न पर 'हूँ', किसी प्रश्न पर सिर हिलाया तो किसी प्रश्न पर मंद-मंद मुस्कान बिखेर दी। एकदम हतप्रभ रमेश ने एक भी प्रश्न का उत्तर मिलते न देख वहाँ से उठने में ही भलाई समझी। हाँ, रमेश के उठते-उठते आचार्यश्री का शुभाशीर्वाद भरा हाथ अवश्य रमेश पर उठा; परन्तु रमेश का अन्तर्मन व्यथित था किंकर्तव्यमूढ़ रमेश सोच ही नहीं पा रहा था कि आचार्यश्री के दर्शन तो हो गये, शुभाशीर्वाद भी मिल गया मगर मन में उठ रहे उन अनगिनत प्रश्नों का क्या जो मुझे अब भी कचोट रहे हैं ? आखिर इतने बड़े, इतने श्रेष्ठ, इतने ख्यातिबन्ध आचार्य के पास समाधान न मिले तो कहाँ जाऊँ ?

एक सप्ताह के अन्तर पर पुनः सागर जाना हुआ। रमेश की अन्य कहीं भी ठहरने की व्यवस्था नहीं होने से फिर मोराजी रुकने हेतु पहुँच गये। ब्रह्मचारी अनिल (वर्तमान में मुनिश्री विहितसागर) ने पूरी व्यवस्था बनाई तथा आचार्यश्री के पुनः दर्शन हेतु कहा, मगर रमेश के मन में खिन्नता इतनी घर कर गई थी

कि पुनः दर्शन करने की इच्छा भी शेष नहीं रही। इसीलिये ब्रह्मचारी भैया से नम्रतापूर्वक कहा कि मुझे तो वीतरागी मुद्रा के दर्शन करना है सो कमरे में चारों तरफ वीतरागी मुद्राधारी संत विराजमान हैं, इन्हीं के दर्शन मिल गये यही मेरा सौभाग्य है, इन्हीं में ही आचार्यश्री की छवि निहारूँगा, मगर मेरे कारण आचार्यश्री की साधना में व्यवधान हो अथवा मुझे ही क्रोध, कषाय का प्रसंग बन जाये ऐसा कोई कार्य नहीं करूँगा।

(26) आस्था भटकने में नहीं स्थिर होने में बढ़ती है-

भटकना जीव का स्वभाव नहीं, कर्मों का संयोग ही जीव को चार गतियों की चौरासी लाख योनियों में भटकाता है तथा पंचमगति मुक्ति की प्राप्ति नहीं होने देता। संसारी प्राणियों में मनुष्य योनि ही वह सर्वोत्कृष्ट योनि है जिसकी प्राप्ति होने पर ही मुक्ति का मार्ग खुल पाता है। मनुष्य पर्याय पाकर भी जीवनभर घर-गृहस्थी के सजाने-सँवारने में समय लगा दिया, फिर मुक्ति का पथ कहाँ खुला। यदि संसार मार्ग को त्यागकर माया-मोह से वैराग्य धारणकर साधुत्व के सन्मार्ग पर भी आ गये फिर भी स्थिरता नहीं आयी। सुविधानुसार गुरु को चुना, सुविधा न रही तो गुरु ही बदल दिया। तब स्वयं सोचो आस्था कहाँ रही, गुरु के प्रति अथवा सुविधा के प्रति ? समर्पण कहाँ किया गुरु के समक्ष अथवा सुविधा के समक्ष ? निश्चित मानो अभी वैराग्य हुआ ही नहीं यह तो गृहस्थी में मनमाफिक सुख-सुविधा न मिलने पर साधुओं को समाज द्वारा दी जा रही सेवा का आकर्षण है। गृहस्थी के बोझ व कर्तव्यों का निर्वहन न कर मुफ्त का माल समाज से लेने हेतु पलायन है। यही वजह है कि यह पलायन अपनी गति बनाये रखता है, मन को स्थिर ही नहीं होने देता, जरा-सा आकर्षण अन्यत्र दिखा नहीं कि वहीं पलायन कर दिया।

ऐसा ही हुआ था क्षुल्लक विज्ञानसागरजी के साथ। पूज्य आचार्यश्री विरागसागरजी से दीक्षा लेकर पन्ना से आचार्यश्री विमलसागरजी के साथ विहार कर गये थे। लगभग दस माह आचार्यश्री विमलसागरजी के साथ रहे फिर वहाँ से भी अन्यत्र किसी संघ में जाने के विचार क्षुल्लक विज्ञानसागरजी के मन में उठने लगे। उड़ते-उड़ते खबर रमेश भैया के पास भी पहुँच गयी। रमेश ने ब्रह्मचारी विज्ञानसागरजी को बड़े ही आदर सम्मान के साथ प्रेमपूर्वक एकांत में बैठाया तथा समझाते हुए कहा- महाराज आप थोड़ा तो विचार कीजिये, अपना घर अपना होता है, यत्र-तत्र कब तक भटकते रहोगे। आज यहाँ, कल वहाँ, परसों कहीं और यह तो उचित नहीं है। रमेश से डरते हुए क्षुल्लकजी ने कहा कि हम अपनी ही जबरदस्ती से संघ छोड़कर बाहर निकल आये थे अब अगर वापिस गये और आचार्यश्री विरागसागरजी ने भी स्वीकार नहीं किया तब तो हम कहीं के भी नहीं रहेंगे। कोई भी आचार्य हमें स्वीकार नहीं करेगा तथा हमारी पिच्छी-कमण्डल छीनकर हमें घर का रास्ता दिखा देगा।

रमेश ने पूर्ण दिलाशा देते हुए क्षुल्लक विज्ञानसागर ने कहा- नहीं, ऐसा नहीं होगा। पूरी तरह निश्चिन्त रहो। आचार्य विरागसागरजी बहुत ही दयालु एवं भक्तवत्सल हैं, वह आपको मात्र क्षमा ही नहीं

करेंगे अपितु अपनाकर अपने संघ में रहने की अनुमति भी देंगे। मैं आचार्यश्री के साथ घंटों एक ही कमरे में रहकर उनके कोमल, मधुर, विमल और सरल स्वभाव से भलीभाँति परिचित हूँ तथा मैं आपकी सम्मानसहित वापिस की जिम्मेवारी लेता हूँ। फिर भी स्वाभाविक घबराहट के घेरे से क्षुल्लकजी बाहर नहीं निकल पा रहे थे। तब रमेश ने कहा अच्छा मैं आपको एक गाँव पूर्व ही रोक दूँगा, फिर आचार्यश्री की आज्ञा लेकर साथ ले जाऊँगा। तब क्षुल्लक आश्वस्त हुये। रमेश के साथ ही चले आये। साथ में ब्रह्मचारी राजेन्द्रजी भी थे।

रमेश ने पूज्य आचार्यश्री से निवेदन कर पूरी बात बतायी। साथ ही कहा कि मैं अपनी जिम्मेदारी पर लाया हूँ। ब्रह्मचारी राजेन्द्रजी ने भी रमेश का पूर्ण सहयोग किया। तब आचार्यश्री विरागसागरजी ने क्षुल्लक विज्ञानसागरजी को संघ में स्वीकार कर लिया तथा साथ में रहने की अनुमति प्रदान कर दी। बाद में रमेश के साथ ही क्षुल्लकजी को पूज्य आचार्यश्री ने ऐलक दीक्षा दी।

मैं श्रद्धा के फूल खिलाने की, आश लिए बैठा हूँ।
हृदय के प्रांगण में चुभन का मधुमास लिए बैठा हूँ॥
यहाँ संसार को पार करने की, चाहत है अंतर मन में।
'विशद' ज्ञान और ध्यान की, मैं प्यास लिए बैठा हूँ॥

(27) सेवा में मेवा-

सामान्यतया घर-गृहस्थी में भी कोई किसी की किसी भी प्रकार की जिम्मेवारी नहीं उठाना चाहता। वैसे भी परिवार सीमित हो गये हैं 'हम दो हमारे दो' के व्यवहार ने माता-पिता की पारिवारिक व्यवस्था ही समाप्त कर दी। 'हम दो' मतलब पति-पत्नी, 'हमारे दो' मतलब उन दोनों के द्वारा होने वाली दो संतान। इससे अलग इस नारे में किसी की गुंजाइस ही खत्म हो जाती है तभी तो माता-पिता को या तो पूरी तरह उपेक्षित कर दिया जाता है अथवा घर में असुविधा और अशांति से बचने के लिये घर से बाहर का ही रास्ता दिखा दिया जाता है। क्या गुजरती उन बूढ़े माँ-बाप पर जिन्होंने जब कुछ करने के दिन थे तब संतान को खुद भूखा रहकर भरपूर खाना खिलाया। स्वयं फटे-पुराने कपड़े पहने, मगर औलाद को नित नवीन वस्त्रों से सुसज्जित किया। स्वयं उतना नहीं पढ़े-लिखे जितना पढ़ा लिखाकर संतान को आगे बढ़ा दिया। खुद तो कर्ज में लद गये मगर बच्चों को खुद के पैरों पर खड़ाकर स्वावलम्बी बना दिया। यही सोच-सोचकर कि मेरे दिन ही कितने हैं ? बच्चों की खुशी में मेरी खुशी है सो बच्चे हँसेंगे तो हम भी हँस लेंगे मगर हाय री किस्मत ! यह क्या हुआ ? किन खोटे कर्मों की सजा मिली ? कौन से पाप उदय में आये जो तिनका जोड़कर बनाये हुये अपने ही आशियाने से बाहर होना पड़ा ? घर से बेघर करने वाला भी कौन वही कुलदीपक जिसे दिन देखा न रात, चौबीसों घंटे कड़ी मेहनत कर खून-पसीना एक कर रोशन किये रहा, उसी प्राणों से प्यारे बेटे ने उनकी आशाओं का टिमटिमाता दीपक ही बुझा दिया।

आवश्यक नहीं कि सभी संतानें इसी तरह का व्यवहार अपने माता-पिता के साथ करें। श्रमणकुमार भी जो संतान ही थे, जिन्होंने सेवा में मेवा समझा तथा मरते-मरते मर गया पर जीते जी माता-पिता की हर इच्छा खुशी-खुशी पूर्ण करने में ही अपना कर्तव्य एवं अपना धर्म मानता रहा। आज भी ऐसी संतानों की कमी नहीं जिनकी नजर में सेवा ही सब कुछ है। सेवा ही उत्तम धर्म है जिसके माध्यम से ही सिद्धि प्राप्त करते हैं तथा सभी प्रसन्न हो जब उसे आशीर्वाद देते हैं तब उस आशीर्वाद को ही वह अपने जीवन की अमूल्य पूंजी मानकर धन्य हो जाता है। दूसरे जिस कार्य को करने से घबराते हैं अथवा दूर भागते हैं वह उसी काम को आगे बढ़कर करता है तथा सेवा में ही आत्म-संतुष्टि प्राप्त करता है।

रमेश भी सेवा को धर्म मानने वाले शिष्य थे जिन्होंने घर तो त्यागा, मगर सेवाभाव को ऐसा अपनाया कि सेवा को ही जीवन का आवश्यक अंग बना लिया। इसीलिये आचार्यश्री विरागसागरजी के संघ में रमेश को सच्चे सेवक के रूप में एक नई पहचान मिली। रमेश ने भी इस उपाधि को हृदय में धारण किया, कभी भी दिमाग पर हावी नहीं होने दिया। यही वजह रही कि आचार्यश्री विरागसागरजी का चातुर्मास जब श्रेयांसगिरि में चल रहा था तब अक्सर आचार्यश्री की तबियत खराब रहती तो सबसे पहले सेवा को रमेश के लिये ही बुलाया जाता तथा रमेश के आने पर ही अन्य कोई सहयोग के लिये साहस कर पाता। आचार्यश्री की तबियत इतनी खराब हुई कि आहार लेते ही उल्टी हो जाया करती थी। बुखार था कि 104-105 डिग्री से नीचे आने का नाम ही नहीं ले रहा था। स्वास्थ्य यहाँ तक बिगड़ा कि आहार में आचार्यश्री ने एक रस थोड़ा सा लिया कि बैठना पड़ गया वह भी एक बार नहीं कई-कई बार। परन्तु रमेश ने कभी भी हिम्मत नहीं हारी, आहार से ले जाने से लेकर निरन्तराय आहार कराने एवं बीच-बीच में शरीर की देखभाल, सफाई, हाथ फेरना, नाक, कफ, लार को साफ करना बड़े ही मनोयोग से प्रसन्नतापूर्वक कराने में अपनी जिम्मेदारी मानी। कभी रमेश को देरी हुई तो आहारचर्या का समय बढ़ा दिया गया। संघस्थ दीदी आशा, ऊषा, रचना, तृप्ति परेशान हो उठती तथा किसी को भेजकर शीघ्र रमेश को बुलाती। कभी अन्तराय होता तो रमेश भी आचार्यश्री के साथ ही मंदिरजी में आकर साधना करते या आचार्यश्री की सेवा करके शुभाशीष का मेवा प्राप्त करते। आचार्यश्री का स्वास्थ्य ठीक हो गया पर रमेश ने सेवा पूर्ववत् जारी रखी।

(28) बात साथ की-

किसी को किसी का साथ मिल जाये इससे साथ पाने वाले की खुशी का ठिकाना नहीं रहता। साथ की सभी को जरूरत होती है, भले ही समय सुख का हो अथवा दुःख का। हम भूल जाते हैं कि साथ दुःख में ही काम आता है; क्योंकि दुःख इंसान को बहुत परेशान करता है, रूलाता रहता है, पलभर भी चैन नहीं लेने देता जबकि सुख में बात बिल्कुल उल्टी होती है, इंसान के पास सुख वह सामग्री उसके पास आ जाती है जिसकी उसे चाहत होती है अथवा इंसान के पास दुःख देने वाली सामग्री का ही अभाव हो जाता है

जिससे उसे खुशी में कोई बाधा नहीं रहती। मगर यह याद रखना चाहिये, खुशी भी हम अकेले सह नहीं पाते। मानलो आपको अचानक इतना सोना या धन मिल जाये जिसकी आपने कल्पना स्वप्न में भी नहीं की हो तथा धन प्राप्त होने पर बजाय धन को यथोचित व्यय करने के स्थान पर उसके चोरी चले जाने से सुरक्षा एवं दूसरे को पता न लग जाने की चिंता आपको अपनी रोटी पानी से भी दूर कर देती है। न भूख लगती है, न ही प्यास, न ही नींद आती है, बस हरपल उस अचानक आये धन के बारे में सोचता रहता है तथा ऐसे-ऐसे स्वप्न देखता है कि धीरे-धीरे अपना आपा भी खो बैठता है तथा आपा खोते-खोते पागल तक हो जाता है। इसीलिये यह सत्य है कि साथ किसी निःस्वार्थ मित्र का मिल जाये तब वह सोना या धन सुरक्षित ही नहीं रहेगा बल्कि उसका व्यय भी धीरे-धीरे आपको ऐसी खुशी देगा कि आपकी मानसिक असंतुष्टि संतुष्टि में बदलने लगेगी तथा आप भी धन के मालिक न बन पूर्व कर्मों का फल मान आगे के सुफल हेतु उस धन का सुव्यय करेगा; किन्तु बात यहाँ सुख के साथी की नहीं परेशानी में साथ देने वाले की है।

ब्रह्मचारी रमेश आचार्यश्री के संघ में ऐसा ही साथ देने में अपनी अलग छाप छोड़ चुके थे। ब्रह्मचारी राकेशजी को पहले दीक्षा देने फिर दीक्षा देने से मना करने के कारण ब्रह्मचारीजी बहुत ही परेशान थे। बार-बार आचार्यश्री से निवेदन करते मगर सफलता नहीं मिलती। धीरे-धीरे भय उन पर हावी हो गया कि अब आगे कहा तो आचार्यश्री नाराज हो जायेंगे। यहीं से शुरू है रमेश की भूमिका। मौका देखकर रमेश ने आचार्यश्री से निवेदन किया कि मेरा भी साथ रहेगा तथा उनका भी कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा। पहले आचार्यश्री चुप रहे फिर अनुमति प्रदान कर दी। रमेश ने पहले से ही श्रीफल की व्यवस्था कर ली थी तथा ब्रह्मचारी राकेशजी को पास ही कमरे में रोक लिया था। अनुमति मिलते ही रमेश ने श्रीफल आचार्यश्री के चरणों में ब्रह्मचारी राकेशजी के हाथ से समर्पित करवा दिया तथा एकान्त में ले जाकर कहा- अब किसी तरह की चिन्ता मत करना। आचार्यश्री बहुत दयालु हैं, भक्तवत्सल हैं, सदैव शिष्यों का ख्याल रखते हैं। शिष्य की परीक्षा करके ही उनके बारे में निर्णय लिया करते हैं। अच्छा हुआ अब आचार्यश्री की परीक्षा में उत्तीर्ण हो गये।

(29) अंतराय नहीं भाग्य का लेखा-

भारतीय संस्कृति में पहले प्रत्येक घर में रसोई पूरी शुद्धता के साथ तैयार होती थी। प्रत्येक जैनी स्वयं व्रती होता था। पानी छानकर पीना, रात्रि में भोजन नहीं करना तथा नित्य देवदर्शन करना उनकी चर्या थी। पंच उदम्बर फल, बड़, पीपल, उमर, कठूमर व गडन्त तथा तीन प्रकार के मधु मांस मद्य का आजीवन त्यागी होता था। पाँचों पाप : हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से विरत रहना उनके स्वभाव में शुमार था। इसीलिये वह स्वयं रसोई इस तरह शुद्धता से तैयार करते थे कि अचानक भी कोई साधु अथवा व्रती आ जावे तब भी वह निशल्य होकर आहार करे। वैसे भी स्वयं भोजन करने के पूर्व लगभग दस से ग्यारह बजे

तक साधु का इन्तजार करना उनके दैनिक चर्या में शामिल था। अगर साधु नहीं आये तब साधु के आने का समय निकलने के उपरांत ही श्रावक स्वयं भोजन करने बैठते थे।

पूर्णरूपेण शुद्धता से भोजन तैयार करने के बाद भी जब साधु आते थे तब आहारचर्या में कभी-कभी अन्तराय (विघ्न) उपस्थित हो जाते थे। जिससे श्रावक को मन में बहुत पीड़ा और अशांति का अनुभव हुआ करता था। अब समय बदल गया है। सफाई ने शुद्धता का स्थान ग्रहण कर लिया है। पहले मात्र सोड़ा में कपड़े धुल जाते थे एवं गोबर का लेपन तथा छुई की पुताई से अधिक हिंसा भी नहीं होती थी, सफाई भी जब होती थी तब परिणामों में भी अहिंसा का भाव होने से अन्दर-बाहर सभी तरह की शुद्धता बनी रहती थी। अब तो अम्लीय (एसिड भरे) कीटनाशक डिटर्जेंट का जमाना है। हिंसा ही हिंसा के कारण ये डिटर्जेंट कपड़े, दीवाल, फर्श तथा नाना प्रकार की सफाई तो करते हैं मगर इनके प्रयोग से इतने त्रस, जीवों का घात होता है वह हमारी कल्पना से बाहर है। ऐसा लगता है मानो हिंसा को ही हमने अहिंसा मान लिया है। इसी का परिणाम है कि पहले यहाँ आहार के बाद साधु भी संतुष्टि का अनुभव करता था, आज वही आहार के बाद भी वह संतुष्टि और निर्भयता साधु को प्राप्त नहीं होती जो साधु को प्राप्त होनी आवश्यक है। संतुष्टि तो स्वयं साधु जाने मगर इस हिंसक प्रवृत्ति में हो रहे व्यवहार में लगता है प्रायश्चित भी साधु को ही करना पड़ता है। तभी तो आये दिन साधु को अन्तराय के कठिन मार्ग से गुजरना पड़ता है। उससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह है कि फिर भी साधु अन्तराय का दोष स्वयं के पूर्व कर्मों का फल मानता है। कभी भी श्रावक को अन्तराय हेतु दोष नहीं लगता।

साधु मार्ग पर पहुँचने से पूर्व श्रावक को भी साधुओं के सान्निध्य में रहकर अन्तराय के मार्ग पर चलना पड़ता है। इसमें परिचय होने पर ही गुरु शिष्य को दीक्षा हेतु पात्र स्वीकार करता है; क्योंकि अन्तराय का अर्थ मात्र भूखा रह जाना नहीं है। अन्तराय का अर्थ है मन पर नियंत्रण। जब साधक के समक्ष किसी त्रस जीव का शव अथवा हिंसा का कारण अथवा ऐसी अशुद्ध वस्तु बाल आदि भोजन के साथ आ जावे जिसे हम साधारण तौर पर भी ग्रहण नहीं करते उस परिस्थिति में साधु अथवा साधक सम्पूर्ण भोजन को ही अशुद्ध मानकर उस भोजन को अस्वीकार कर देता है तथा मात्र मुँह को थोड़े से जल से अन्दर धोकर वह भी बाहर ही निकाल देता है, गले तक नहीं जाने देता।

दीक्षा से पूर्व ब्रह्मचारी रमेश भैया की भी यही हालत थी। आये दिन अन्तराय होना रमेशजी के लिये आम बात थी। इसी से परेशान होकर एक दिन रचना दीदी (वर्तमान में विशाश्री माताजी) ने कहा- भैया आपके तो रोज अन्तराय आ जाते हैं। दीक्षा नहीं हुयी इसीलिये अभी तो सामायिक के बाद दूसरी बार भोजन के लिये जा सकते हो, मगर दीक्षा के बाद क्या होगा ? तब रमेश भैया ने मुस्कराते हुये उत्तर दिया- दीदी ! जो भाग्य में हो वह होता ही है, कभी कोई किसी प्रकार से टाल नहीं सकता, होकर ही रहता है। हाँ, प्रभु और गुरु की कृपा रही तब सब सहन हो जायेगा।

(30) प्रेरणास्रोत-

दुनिया में अच्छे कामों के लिये बार-बार प्रेरित करने पर भी लोग स्वयं को अच्छे मार्ग पर चला नहीं पाते। पापों में रत रहकर नित्य ऐसे कार्य करते हैं जिससे हमारा पथ मुक्ति की तरफ नहीं अपितु या तो तिर्यच अथवा नरक गति की ओर बढ़ जाता है। कभी क्रोधवश तो कभी मानवश, कभी मायाचारी से तो कभी लोभवश हमें हर कार्य मात्र बुराई की तरफ हो जाते हैं। यद्यपि आम व्यवहार में हमारे कामों को बुरा नहीं माना जाता; क्योंकि सभी वही कार्य कर रहे हैं जिससे हमारे कार्यों में दोष उत्पन्न होता है। दोष का निवारण वही कर सकता है जिसे स्वयं दोषों की पहचान हो। दोषों की पहचान किसे हो सकती है? जिसने संसार के और शरीर के दुःखों का अनुभव किया हो तथा संसार से परे मुक्ति पर जिसे पूर्ण विश्वास हो। मुक्ति पर जिसे विश्वास होगा निश्चित ही वह संसार, शरीर और इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाले सुखों को क्षणिक मानेगा। आप स्वयं सोचे कि संसार में प्राप्त होने वाला सुख संयोग जनित है तथा शरीर और इन्द्रियाश्रित है। इष्ट का मिलन हो जाये तब सुख और अनिष्ट से छुटकारा मिल जाये तब भी सुख; किन्तु कितने समय तक? जब तक कि पुनः कोई नया कारण दुःख देने वाला उत्पन्न न हो जाये तब तक। अगर इसी क्रम में आयु कर्म क्षीण हो जाय अथवा इन्द्रियाँ शिथिल हो जाये तब इष्ट का मिलन भी वह सुख नहीं देता न ही अनिष्ट का वियोग हमें वह सुख दे पाता है। दे भी कैसे सकता है? पूर्व कर्मों के उदय पर ही हमें सुख और दुःख के कारण उत्पन्न होते हैं। तब इस कारण को आधार देने वाले कर्मों का नाश जब तक नहीं होगा हमारा सुख, सुख ही नहीं सकता।

दिगम्बर जैन साधु इसीलिये महाव्रती होते हैं। बारीक से बारीक अहिंसा का पालन करते हैं, एक इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर दया करते हैं। लोभ तो उन्हें छू भी नहीं सकता; क्योंकि वह तन के वस्त्र भी त्यागकर पूर्ण परिग्रही होते हैं। किसी पर क्रोध आ जाये उससे पहले ही उसे क्षमा करते हैं। यहाँ तक कि वचन झूठ नहीं हो इसलिये वचनबद्ध नहीं होते; किन्तु वचन पूर्ण करने का हरसंभव प्रयास करते हैं। कभी शरीर की जरूरतों की परवाह नहीं करते भोजन भी याचक प्रवृत्ति से नहीं सिंहवृत्ति से करते हैं तथा मृत्यु या दुःखों से निर्भय रहते हैं। दुःखों को शरीर का रोग एवं सुख का सच्चा कारण आत्मा के सभी गुणों की पहले पहचान फिर उनकी अनुभूति मानते हैं।

आत्मा की इसी अनुभूति के मार्ग पर चलने के लिये ब्रह्मचारी रमेश पूज्य आचार्य विरागसागर के संघ में आये। मगर संघ में आकर भी दूसरों को इसी मार्ग पर आने की प्रेरणा देना नहीं भूले। ब्रह्मचारी रमेश के अन्तरायों का सिलसिला जारी था। लोग तो अब रमेश भैया के अन्तरायों से भयभीत रहने लगे थे। इसीलिये कोशिश करते थे कि उनका भोजन किसी दूसरे के चौके में निर्विघ्न हो जाये तथा वह स्वयं अन्तराय के दोष से बचे रहें। अक्सर अन्तराय होने से ब्रह्मचारी रमेश को सामायिक के बाद दोपहर में निकलना होता था।

गृहस्थों को इतनी देर तक धन्धा पानी छोड़कर बच्चों से चौंके की शुद्धि बनाये रखना बहुत मुश्किल एवं दुष्कर कार्य होता था। मगर मजबूरी में एवं धार्मिक उत्साह में सभी खुशी-खुशी यह शुद्धि बनाये रखते थे। भोजन भी ब्रह्मचारी रमेश भैया को कराने के बाद ही करते थे।

अन्तराय से बचने हेतु रमेश ब्रह्मचारी भैया को बुलाने से पूर्व ही ब्रह्मचारिणी दीदियों को भी बुला लिया जाता था ताकि बहनें भोजन की शुद्धता को अच्छी तरह परख लें जिससे किसी भी प्रकार की अन्तराय की गुंजायश भी नहीं रहे। इसके बाद भी अन्तराय थे कि आने से परहेज नहीं कर रहे थे। परहेज करते भी कैसे ब्रह्मचारी भैया के कर्मों का उदय था, आता रहा मगर रमेशजी ने कभी भी मन को मलिन नहीं होने दिया। बल्कि पूरे उत्साह और उमंग से अपना कर्तव्य करते रहे।

एक बार भोपाल में रहने वाली अंकिता अपनी नानी के पास आयी थी। संघ में आने-जाने एवं व्रतों में रुचि होने से साधुओं के आहार के समय श्रावकों के घर सामग्री शोधन हेतु अंकिता भी जाती रहती थी। रमेशजी का जहाँ भोजन चल रहा था वहाँ पर अंकिता दीदी (वर्तमान में विज्ञाश्री माताजी) भी शोधन हेतु आई थी। ब्रह्मचारी रमेश ने चौंकेवालों से साधारण तथा नया चेहरा होने से अंकिता दीदी का परिचय पूछ लिया, यह कौन हैं ? ब्रह्मचारीजी को बताया कि यह पचोले की भांजी है, भोपाल में रहती है, अभी दर्शन करने आई है। उसी समय रमेश को अंकिता का चेहरा देखते ही ऐसा लगा मानो वह मूर्ति में मूर्तिमान की झलक देख रहे हों। बगैर विलम्ब किये ब्रह्मचारी रमेश ने परिहास करते हुये कहा इनको ऐसे ही रहना है अथवा कुछ व्रत वगैरह भी लेना है; परन्तु यह क्या, बात उल्टी पड़ गयी। पता चला कि वह तो व्रत लेना चाहती है मगर आचार्यश्री से बात करते हुये डरती है। इसी भय के कारण बातचीत नहीं हो पा रही है। बस, क्या था रमेश ने भी सोच लिया कि व्रत तो दिलाना ही है। अच्छा कार्य है- कल्याण के मार्ग पर बढ़ने हेतु भी यह आवश्यक है। अंकिता दीदी को लेकर निर्णयसागर के पास पहुँचे। महाराज से अंकिता दीदी के वैराग्य के पोषण, वृद्धि एवं दृढ़ता हेतु निवेदन किया। दूसरे दिन ही पूज्य आचार्यश्री कमरे में आये। रमेश ने अवसर देखा और अवसर का भरपूर लाभ उठाते हुये शुभ कार्य कर लिया जिसका संकल्प वह कर चुका था। सभी को कमरे से बाहर ही रोक दिया तथा अंकिता दीदी से व्रत ग्रहण करने हेतु आचार्यश्री को निवेदन सहित श्रीफल समर्पित करवा दिया। यह कार्य रमेश ने सिर्फ अंकिता दीदी के लिये ही नहीं किया जिसके बारे में भी पता चला कि उसके भाव मोक्षमार्ग पर बढ़ने के हैं। रमेश ने सदैव आगे आकर उसके भावों को पहले पुष्ट किया, फिर भावों में दृढ़ता दिलाई, फिर वैराग्य के पथ पर स्थिर कर दिया।

(31) आवश्यकता अनुभव की-

कार्य कोई भी हो, अनुभव की आवश्यकता हर जगह होती है। अनुभव से कार्य कुशलतापूर्वक संपन्न होता है। अनुभव के अभाव में कार्य का पूर्ण होना तो दूर प्रारम्भ होना ही कठिन होता है। नये डॉक्टर में

कितनी भी योग्यता क्यों न हो ईलाज हेतु अनुभवी डॉक्टर ही चुना जाता है। मुकदमा भी लड़ने के लिये नये के स्थान पर पुराने वकील को ही तरजीह (प्रमुखता) दी जाती है। पुलिस में भी पुराने और कठिन केस हल करने हेतु तेज-तर्रार नये अधिकारी के स्थान पर पुराने और अनुभवी अधिकारी को जिम्मेवारी सौंपी जाती है। शासन व्यवस्था में भी राष्ट्रीय नेता वही सफल होते हैं जो अनुभवी होते हैं। संघों या आम आदमी के निर्वाचन में भी प्रमुखता अनुभव को प्राप्त होती है। यह अलग बात है कि कभी-कभी अनुभव असफल हो जाय, नया सफल हो जाय मगर आमतौर पर प्रमुखता अनुभव की ही महसूस की जाती है।

आजकल तो लड़के के स्थान पर लड़की की ही बारात ले जायी जाती है। पहले अनुभवी बुजुर्गों को भारत में खास महत्त्व दिया जाता था। कभी-कभी ऐसी समस्याएँ खड़ी हो जाती थीं जिनका समाधान बुजुर्ग अनुभवी ही कर पाते थे। एक बार एक बारात में नये-नये लड़के खासतौर से बुलाये गये। लड़के वाले ने खुशी-खुशी नये लड़कों की बारात तैयार कर ली। उसी समय उसके कुछ रिश्तेदारों ने सलाह दी कि क्या करते हो, एक भी बुजुर्ग साथ नहीं आया ? कोई बात आ गयी तो हल कौन करेगा ? लड़के वाले को बात समझ में आ गयी और एक बक्से में एक बुजुर्ग को छिपाकर ले गये; क्योंकि बुजुर्ग ने ही सलाह दी कि जब बारात ही खासतौर पर नवयुवकों की बुलायी गयी है तथा बुजुर्गों का लाना मना है तब मुझे खुले आम नहीं ले जाया जा सकता। बुजुर्ग के ही कहने पर एक बक्से में उन्हें छिपाया गया। ताकि किसी को भी पता न चले और काम भी बन जाये।

बारात पहुँची तो ठहरने वाले स्थान के ठीक सामने कीचड़ देखकर सारे बाराती परेशान हो गये, उस पर भी कीचड़ से निकलने पर भात एक-एक गिलास पानी पैर धोने की। अभी असमंजस में पड़ गये क्या करें क्या न करें, सभी एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। अचानक दूल्हे के पिता को बुजुर्ग की याद आई और चुपचाप सारी समस्या बुजुर्ग से कह दी। बुजुर्ग ने कहा कि जब तुम कीचड़ पार करके जाओगे तब तुम्हें दरवाजे पर पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े मिलेंगे उससे सभी अपने-अपने पैरों का कीचड़ छुटा लेना बाद में गिलास में भरे पानी से पैर ही नहीं हाथ भी साफ कर लेना। दूल्हे कि पिता ने चुपचाप सारे बारातियों को यह उपाय समझा दिया। सभी बारातियों ने ऐसा ही किया। लड़की वाले भी बारातियों की चतुराई देखकर दंग रह गये।

सभी बाराती ठहरने के स्थान पर प्रवेश कर गये। सवेरा होने जा रहा था। उसी समय कुछ लोग आये और बारातियों से हाथ जोड़कर पूछने लगे- **“दो के बदले एक चाहिये, दो के बदले एक चाहिये”**। किसी के कुछ भी पल्ले नहीं पड़ा, सभी के सिर चकरा गये। यह कैसी विडम्बना है, जब हमें एक मिलेगा तब हमें भी दो देना पड़ेगा लेकिन क्या ? यही बात किसी के जेहन (दिमाग) में नहीं आ रही थी। पुनः सभी हैरतभरी निगाहों से एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। दूल्हे का पिता भी क्या करता, पुनः बक्से में छुपाये बुजुर्ग की

शरण में पहुँचकर सारी उलझन बतला दी। बुजुर्ग ने पूछा— सवेरा हो गया क्या ? हाँ, दूल्हे के पिता ने कहा। तब बुजुर्ग बोले— सवेरा होते ही मुँह धोने के लिये दातुन चाहिये होती है। तब दूल्हे के पिता ने हैरानी भरे अंदाज में पूछा— दातुन का एक के बदले दो देने से क्या प्रयोजन ? तब बुजुर्ग ने कहा— भैया दातुन तो एक ही लोगे दाँत घिसने के लिये, मगर जीभ साफ करने के लिये तो दातुन के दो टुकड़े करोगे न ? बात दूल्हे के पिता की समझ में आ गयी तुरन्त उसने पूछने वालों से कह दिया— सभी को एक-एक दो। अभी लड़की वालों ने उसकी बात नहीं समझी, तुरन्त एक-एक दातुन प्रत्येक बाराती को दे दो। सभी बारातियों ने दाँत घिसे, दातुन से फिर दातुन के ही दो फांक (टुकड़े लम्बाई में) करके जीभ साफ की और दोनों को हाथ में लेकर बोले— **“लो भाई, दो के बदले एक दिया था सो अब एक के बदले दो ले लो।”** लड़की वाले झेंपकर रह गये कुछ कहते नहीं बना।

अब बारी थी, दोनों ही पक्षों की बुद्धि की अन्तिम परीक्षा की। दोनों ही पक्ष अपने-अपने बुद्धि बल से एक दूसरे को मात देना चाहते थे। मगर लड़की वाले को यह बात समझ ही नहीं आ रही थी कि ये नये-नये लड़के इतने बुद्धिमान नहीं हो सकते। इनके स्वभाव में तो नाचना, गाना, उछल-कूद करना, शोर मचाना, मौज-मस्ती में रहना है, इनके पास किसी प्रकार का अनुभव नहीं है। कोई बुजुर्ग साथ नहीं, फिर भला बगैर अनुभवी बुजुर्ग की मदद लिये यह हमारे द्वारा पेश समस्या का इतना सहज और सटीक समाधान ही नहीं करते। हमारे सामने ही उलझन पैदा कर देते हैं 'कुछ तो दाल में काला है' मगर क्या समझ में नहीं आता ? उधर लड़के वाले भी इसी उधेड़बुन में लगे थे कि अब न जाने कौन सी समस्या आयेगी ? कहीं हल नहीं हुई तो सारी पोल खुल जायेगी, किरकिरी और बदनामी होगी सो अलग।

दोनों ही तरफ अपनी-अपनी सोच, अपनी-अपनी विचारधारा और अपना ही एक अन्जाना अपमान का भय छाया था। उसी समय बारातियों के समक्ष एक-एक परिया गुड़ की रखते हुये लड़की वालों ने सभी बारातियों से खाने को कहा। गुड़ की एक-एक परिया बाराती के सामने क्या आयी, मारे पसीना के बारातियों के चेहरे का रंग उड़ गया। अब तो कहीं खैर नहीं सोचने लगे, कहाँ बारातों में खूब खाते-पीते हैं, मौज-मस्ती करते हैं, खुशी ही खुशी मनाते हैं मगर यहाँ तो आफत पर आफत सामने आ रही है। सारी खुशी काफूर हो गयी है, लगता है बारात में नहीं मातम में आये हैं। सचमुच बारात होते हुये शोर-गुल का स्थान मरघट जैसे सन्नाटे ने ले लिया था। अब तो एक-दूसरे को चेहरा भी दिखाते नहीं बन रहा था। बुजुर्ग से भी कैसे पूछें, इस बार तो लड़की वाले बारातियों के सामने ही हाथ जोड़े खड़े थे। लड़के का पिता सबसे अलग बक्से के पास सामान रखाने के नाम पर बैठा थो, लड़की वाले उसकी तरफ से बेपरवाह थे।

मौका देखकर लड़के के पिता ने सारा माजरा बुजुर्ग को समझाया कि समस्या कठिन है, क्या करें ? तब बुजुर्ग बोला— पहले लड़की वालों से बोलो— हम लोग गुड़ अवश्य खायेंगे मगर हाथ-पैर धोकर तैयार

होकर। इसीलिये आप लोग पहले पानी लाओ। लड़की वाले क्या करते मजबूर थे, चुपचाप पानी लेने चले गये, उसी समय बुजुर्ग ने कहा- एक-एक परिया उठाओ और उसके छोटे-छोटे टुकड़े कर एक-एक टुकड़ा (डली) प्रत्येक बाराती को दो। बाद में जब सभी बारातियों ने हाथ-पैर धौलिये तब एक-एक परिया गुड़ की उठाकर उसके छोटे-छोटे टुकड़े कर प्रत्येक बाराती को दिये गये। एक-एक कर सारी पारी खत्म हो गयी तो लड़की वाले क्या स्वयं लड़के वाले भी भौचक्के रह गये, कितना अधिक गुड़ था, सारा का सारा खत्म हो गया।

मगर लड़की वाले अपने इस अपमान को सह नहीं पाये, बुरी तरह तिलमिला गये, मगर कुछ कर नहीं सकते थे, बाजी उनके हाथ से निकल गयी थी। उसी समय लड़की वालों की तरफ से सबसे अधिक बुजुर्ग व्यक्ति हाथ जोड़े हुये आगे आया और सभी से हाथ जोड़ते हुए बोला कि हमें हार स्वीकार है, आप हमारे अतिथि ही नहीं मानदान है; परन्तु यह बात हमारे गले नहीं उतर रही कि बगैर किसी बुजुर्ग अनुभवी व्यक्ति के हमारे द्वारा प्रस्तुत इतनी भारी कठिनाइयाँ आपने इतनी सहजता से हल कैसे कर ली? लड़के का पिता भी कम विनम्र नहीं था; तुरन्त उस बुजुर्ग के समक्ष हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बड़े ही मधुर शब्दों में बोला कि रिश्ता हमेशा बराबरी में होता है इसलिये आप अपने आपको किंचित् भी छोटा महसूस नहीं करें। आप तो हम सभी में बुजुर्ग और श्रेष्ठ तथा सम्मानित है और अनुभवी हैं तथा आपका अनुमान सही है कि इतने कठिन प्रश्न बगैर बुजुर्ग अनुभवी के हल नहीं हो सकता। बात सुनकर वह बुजुर्ग सकते में आ गया कि बुजुर्ग कोई सामने दिखता नहीं, ये बुजुर्ग की बात कर रहे हैं।

तभी लड़के के पिता ने पुनः उसी नम्रता और मृदुता से कहना शुरू किया कि हम रिश्ता जोड़ने आये हैं और रिश्तों में दोनों की हार, दोनों की जीत समान हुआ करती है। यदि आप हारे तो हम भी जीते नहीं, हारे ही हैं। इसके साथ ही उन्होंने बक्से का ढक्कन ऊपर कर दिया जिसमें से बुजुर्ग व्यक्ति को निकलते देख दोनों ही पक्ष के लोगों की आँखें फटी की फटी रह गयी तथा सबके मुख से निकला 'अन्त में अनुभव ही काम आता है।' मुनिवर विशदसागरजी ने आचार्यश्री से दीक्षा ग्रहण कर गुरु की शरण में गुरु के समीप रहना ही उचित माना। मुनिवर जानते थे कि गुरु ही वह पारस होते हैं जो लोहे को सोना बना देते हैं। गुरु के पास रहने से स्वयं में मर्यादा, अनुशासन आता-जाता है। ज्ञान और चारित्र की वृद्धि होती है। समय के साथ-साथ समाज और संसार की रीति-नीति का सत्य भी उजागर होता है। ज्यों जीवन की सच्चाई समझ में आती है त्यों-त्यों आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। यही अनुभव ही अन्त में साधक को संसार के बंधनों को काटने में काम आता है।

आचार्यश्री विरागसागरजी महाराज का विहार चल रहा था। जबेरा से समाज के श्रेष्ठीगण वर्षायोग हेतु आमंत्रण देने आये तथा आचार्यश्री के श्रीचरणों में नम्र निवेदन करते हुये बोले कि महाराजश्री, हमारे यहाँ भी

संघ से कुछ साधु भेज दें तब हम सभी वर्षायोग में आध्यात्म की अमृतवाणी का संत के श्रीमुख से पानकर अपना जीवन धन्य कर लें। पूज्य आचार्यश्री ने मुनिश्री विशदसागरजी से जवेरावालों का अनुरोध बताते हुए पूछा— इनके आग्रह को देखते हुये तुम्हारे जाने की स्वीकृति दे दें ? तब मुनिश्री ने बड़ी मासूमियत से पूर्ण विनम्रता के साथ गुरु-चरणों में निवेदन करते हुये कहा कि **“हे गुरुश्रेष्ठ ! मुझे दीक्षित हुये अभी एक वर्ष भी नहीं हुआ, कुछ आता-जाता नहीं, सीखने का समय है। अभी आपके पास रहकर अच्छी तरह सीखूँगा, यही अनुभव बाद में बढ़ेगा तब आपकी आज्ञा का अवश्य ही पालन करने योग्य हो जाऊँगा।”** आचार्यश्री ने कहा— हमें पता है तुम्हें क्या आता है, क्या नहीं आता ? सोचना हमारा काम है फिर गुरुवर ने मौन धारण कर लिया और संघ का विहार जबलपुर हो गया।

(32) दीक्षा हेतु गुरु से अनुरोध—

गुरुवर तुम जैसा निर्मल पद पाने को चित्त मेरा ललचाया है।
 निर्मल शुभ भाव से भक्त गुरु चरण शरण में आया है।।
 वैरागी का वैभव लख मेरा रोम-रोम पुलकाया है।
 निर्ग्रन्थ निज पद पाने गुरुवर सविनय त्रियोग चढ़ाया है।।

रमेश की गुरु चरणों में दृढ़ता देखकर सबको विश्वास हो गया कि यह दीक्षा लेगा अचानक प्रसन्नता के साथ आचार्यश्री से निवेदन किया कि मुझे जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान की जाए। आचार्यश्री ने कहा—हे भव्य जीव ! जैन दीक्षा एक सबल योद्धा की भाँति पालन करना आवश्यक है; क्योंकि तलवार की धार के समान यह जैनी दीक्षा लाखों कष्टों, उपसर्गों के आने पर भी छोड़ी नहीं जाती है। समस्त परिषद समतापूर्वक सहन करने वाला ही अपने आत्म तत्त्व को सिद्ध कर सकता है। यद्यपि आचार्यश्री की दूरदृष्टि उन्हें पहचान चुकी थी किन्तु फिर भी परीक्षा करके, ठोक बजाकर दृढ़ता देखनी ही थी। आचार्यश्री का विचार था कि नये-नये ब्रह्मचारी हैं इसलिए उन्हें क्षुल्लक दीक्षा दी जाए। किन्तु रमेश ने कहा नहीं, हम क्षुल्लक दीक्षा नहीं लेंगे। मंच पर जब दीक्षा की बात आई तो रमेश ने अपनी दृढ़ता का परिचय दिया और आचार्यश्री ने फिर ऐलक दीक्षा प्रदान की। दीक्षा प्राप्त होते ही—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव।
 त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव-देव॥

(33) प्रथम प्रवचन—

बगैर तैयारी के अचानक ही किसी को प्रवचन करने को कहा जाय, सोचो उसकी हालत क्या होगी ? प्रवचन बड़े-बड़े ज्ञानी और पंडित भी बहुत सोच-समझकर करते हैं। आम नेता को भाषण देने के लिये

कहा जाय तब वह न जाने कहाँ-कहाँ की लच्छेदार बातें करता होगा, आम आदमी को पता ही नहीं चलेगा कि नेताजी किस विषय पर बोल रहे हैं, हाँ बीच-बीच में नेता अपने वाक्चातुर्य से जनता से अपने लिये तालियाँ जरूर बजवाता रहता है; परन्तु धर्म और आध्यात्म के क्षेत्र में खाली ताली ठोकने से तो कोई फर्क नहीं पड़ने वाला। धर्म और आध्यात्म के विषय पर बोलने हेतु पहले तो गहन अध्ययन की आवश्यकता होती है। मात्र अध्ययन से भी काम नहीं चलने वाला, अध्ययन करके प्राप्त ज्ञान को पहले अपने दिमाग में संजोकर रखना पड़ता है, इतना ही नहीं विषय के अनुसार वक्तव्य देकर श्रोता को अपनी बात समझाना पड़ती है। विषय बिगड़ जाये या विषय से अन्यत्र चला जाये तब तो न वक्ता की कीमत होती है न ही वक्तव्य की।

ब्रह्मचारी रमेश के समक्ष भी ऐसी विषम परिस्थिति पैदा हो गई। ब्रह्मचारी रमेश दीक्षा के पूर्व कई जगह बिनौली हेतु गये, घूमते हुये ब्रह्मचारी रमेश देवेन्द्रनगर, जिला-पन्ना भी गये। वहाँ पर लोगों ने जिज्ञासावश ब्रह्मचारी रमेश भैया से प्रवचन हेतु निवेदन किया। साथ में उपस्थित ब्रह्मचारी संदीप ने कह दिया- हाँ हाँ प्रवचन करेंगे। प्रवचन के लिये ब्रह्मचारी भैया संदीपजी गद्दी पर बैठे मगर मात्र पाँच मिनट में ही प्रवचन पूर्णकर गद्दी से उठ गये। लोगों ने ब्रह्मचारी रमेशजी से भी प्रवचन हेतु आग्रह किया। रमेश ने कभी प्रवचन नहीं किये थे। फिर भी लोगों ने आग्रह किया तो मना नहीं कर सके। बगैर अर्थ जाने ही संस्कृत के सूत्र से इस प्रकार प्रवचन प्रारम्भ किया-

**वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्य स्वभावानि मूढ स्वानि प्रपद्यते ॥**

प्रिय बन्धुओ ! शरीर, मकान, धन, पत्नी, पुत्र सभी शत्रु के समान हैं जो अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता है वह इन्हें मित्र नहीं मान सकता। मित्र या हितैषी मानने पर इन्हीं के मोह में फंसकर सदा प्राणी अपना समय बर्बाद ही करता है। पर का हित करता है कि वक्त पड़ने पर उसके हित में साधक होगा। वक्त पड़ता भी है; परन्तु जिसका हित किया वही सबसे पहले अहित पर उतर आता है। उस समय समझ में आता है कि अपना कोई नहीं। व्यर्थ ही भ्रम पालते रहे खुद को ही धोखा देते रहे। अपना समय बर्बाद किया, इतना बड़ा जीवन खो दिया। पत्नी, पुत्र, पुत्री, मकान को पालने, सजाने संभालने में। जब किसी काम के नहीं हे तब जिस पुत्र को गोदी ले लेकर खिलाया यह जरूरत की चीजें देकर सदा मुस्कुराया उसी पुत्र ने पिता को पिता के ही बनाये मकान से बेदखल कर दिया। बेसहारा बिना छत के आँसू बहाता फिरा मगर पत्नी भी दुःख में काम नहीं आयी। सुख की तलाश में साथ छोड़ गयी। अब बताओ किसका मोह ? कौन है अपना ? सभी स्वार्थ के साथी हैं। जरूरतें पूरी होती हैं तब तक सभी सम्मान करते हैं, आगे-पीछे घूमते हैं, मान-मनुहार करते हैं। जब जरूरत पूरी करने के लायक नहीं रहे तब साथ में रहना भी छूट गया।

मकान तो गया ही जिनको अपना-अपना कहते नहीं थकते थे, वही मिल समान नाते-रिश्ते, शत्रु समान परिणामों को पीड़ा देने लगे। बजाय सहारा देकर सुख पहुँचाने के सहारा छीनकर दुःख का कारण बन गये।

लोगों ने तालियाँ बजायी तो रमेश भैया का उत्साह और बढ़ गया। मन में जो संकोच भय बनकर छाया था, तिरोहित हो गया। आगे बोलते गये, नाते-रिश्ते मोह के कारण हैं। मोह होता है परिणाम संक्लेशित होते हैं। कभी हमारी कही सुनली तो अपेक्षा और बढ़ जाती है। हमें भी ध्यान नहीं रहता कि सामने वाले को हमारे अलावा भी बहुत काम है। खुद को तैयार करना, काम पर जाना, काम से दिनभर थके-हारे परेशान लौटना, उसकी भी मजबूरी है। हर कोई चाहता है उसे सुख और शांति मिले। मगर अफसोस कि सुख और शांति जहाँ है वहाँ वह देखना भी नहीं चाहता। सुख और शांति आत्मा के स्वभाव हैं, जो आत्मा की अनुभूति करता है, आत्मा से राग करता है, आत्मा में रम जाता है, उसे ही सच्चा सुख, सच्ची शांति प्राप्त होती है। आत्मा भी अपनी न कि पराई; परन्तु हम तो पर से सुख चाहते हैं; पर आत्मा ही नहीं पर काया पर शरीर यह आश्रित हैं इसीलिये दुःख उठा रहे हैं और दुःख उठाते रहेंगे जब तक कि सही राह पर चलना प्रारम्भ नहीं करेंगे। बोन में धारा प्रवाह इतना बंधा हुआ था कि स्वयं रमेश को ही पता नहीं चला कि बोलते-बोलते पच्चीस मिनट हो गया। वक्ता को जब श्रोता की ताली मिलती है तो वक्ता का उत्साह आसमान छूने लगता है; परन्तु रमेश को अचानक लगा कि उनका विषय पूर्ण हो गया है, अगला विषय क्या लूँ ? यह सोच भी नहीं पाये कि बोलना बन्द कर दिया। सभी ने रमेशजी के वैराग्य की जमकर प्रशंसा की।

**दिले तस्वीर गुरुवर की जो अपने साथ रखता है।
समझ वो खुद अंधेरी में, उजाला साथ रखता है॥
गुरु के अक्स में हमको, खुदा का अक्स नजराये।
उठा नजरें गुरु सिर पर, हमारे हाथ रखता है॥**

(34) बाधक नहीं साधक बनों-

हमारी आदत हुआ करती है कि हम कभी कभार वस्तु स्थिति को समझने का प्रयास नहीं करते। सामने वाले की इच्छा और मजबूरी पर ध्यान न देकर स्वयं की मजबूरी का रोना रोते रहते हैं। हम अपने दुःखड़ा रोने में यह भी भूल जाते हैं कि हम अपने अन्दर छुपी प्रतिभा को स्वयं न तो पहचानते हैं और न ही उस छुपी हुयी प्रतिभा को प्रगट ही कर पाते हैं। यह प्रतिभा गुरु की तीखी नजरों से छिप नहीं पाती। गुरुवर ना सिर्फ हमारे अन्दर छिपी प्रतिभा को परखते हैं, उस प्रतिभा को पहले दोषों से मुक्त कर तरासते हैं। फिर तराशी गयी प्रतिभा को निखरने के अवसर भी प्रदान करते हैं; परन्तु जिसके अन्दर प्रतिभा छिपी रहती है वह स्वयं उस प्रतिभा के साथ-साथ एक अवगुण और छुपाये रहता है वह अवगुण है भय का। अपनी ही प्रतिभा के ऊपर उसे आत्मविश्वास की कमी होती है। यही विश्वास की कमी उस प्रतिभा के धनी के दिमाग

में एक अज्ञात भय भरने लगती है। प्रतिभा होते हुये भी उसके अन्दर शंका घर कर जाती है कि न जाने मैं इसमें सफल हुआ अथवा नहीं, बस यही शंका और भय उसकी नैसर्गिक प्रतिभा के प्रगट होने एवं निखरने में अवरोध उत्पन्न करता है। अवरोध जब आ जाता है तब प्रतिभाशाली स्वयं किसी कार्य के करने में साधक नहीं, बाधक बन जाता है।

जब कोई कुशल तैराक किसी को जल में तैरना सिखाता है तब उसे जल में एकदम अकेला छोड़ देता है। मगर अकेला छोड़ने के पहले जल में तैरने संबंधी समस्त क्रियायें भली-भाँति समझा देता है। सारी क्रियायें समझकर भी सीखने वाला कहे कि नहीं मुझे जल में नहीं उतरना अकेले, आप साथ उतरें तभी उतरूँगा। बताओ भला ! क्या कभी इस तरह का भयभीत प्राणी जल में तैरना सीख सकेगा ? नहीं ! कभी नहीं ! वह अपने भय के बंधन से मुक्त होकर जब तक अकेला ही पानी में नहीं उतरेगा तब तक वह स्वयं ही अपने तैरने की कला सीखने का बाधक रहेगा।

कोई वाहन सीखने वाला भी भयभीत रहे कि मैं अकेला वाहन नहीं चलाऊँगा, सिखाने वाला स्वयं चलवाता रहे तभी चलाऊँगा। तब तो सीख लिया उसने वाहन चलाना। यह अलग बात है कि मन का भय छोड़कर जब तैरना सीखने वाला जल में अकेले उतर जाता है तब सिखाने वाले की नजर उसी पर रहती है। ज्यों ही सीखने वाला कोई भूल करता है, सिखाने वाला उस भूल का सुधार करवाता है। भूल सुधरते ही सीखने वाले का आत्मविश्वास इतना बढ़ जाता है कि वह छोटी-मोटी भूलों को स्वयं करता है सुधार भी करता है मगर भय से मुक्त हो जाता है तथा तैरना भी सीख जाता है।

बिल्कुल इसी प्रकार कोई भी वाहन हो या यंत्र उसे सैद्धान्तिक रूप से सीखकर पहले सिखाने वाले के साथ सीखने वाला अभ्यास करता है; परन्तु हमेशा सीखने वाले के साथ रहने पर वह अपाहिज ही बना रहता है। इसीलिये सिखाने वाले को छोड़कर स्वयं के बल और विश्वास पर वह कार्य प्रारम्भ करता है तब सिखाने वाला भी उसकी हर कमी को दूर कर उसे समस्त दोषों से मुक्त कर देता है। पूरी तरह भय मिटने पर ही सीखने वाला कुशलता प्राप्त करता है।

एकान्त में कोई कितनी भी बड़ी कला या विद्या का साधक क्यों न बन जावे। जब तक वह उसे सभी के सामने सार्वजनिक रूप से प्रगट नहीं करता, एक भय उसके ऊपर प्रभावी रहता है। यही भय उस साधक की कला धीरे-धीरे कमजोर करता रहता है अथवा वह उस कला का उपयोग कभी किसी के हित में नहीं कर पाता। स्वयं ही घुटता रहता है, अपने ही भय में व्यथित रहता है कि मेरी यह कला किस काम की ? इसी व्यथा से मुक्त होने को छटपटाता है जरा-सा साहस करते ही वह भय को ही भयभीत कर देता है। अपनी कला से स्वयं का ही नहीं समाज के कल्याण का भागीदार बन जाता है। बाधायें पार करते ही व्यक्ति अपनी कला का निर्भय उपयोग कर पाता है। समाज के सभी कामों में बाधक नहीं साधक होता है।

मुनि विशदसागर के अन्दर भी जो नैसर्गिक क्षमता समाज कल्याण की विद्यमान थी। वह उन्हें भले ज्ञात नहीं थे; परन्तु गुरुवर ने उसे समझ लिया था। गुरुवर ने सब कुछ जानकर भी जब विशदसागर की साथ रहने की इच्छा देखी तब अधिक जोर जाने के लिये उस समय नहीं दिया। वक्त बहुत नहीं बीता था, वर्षायोग में स्वाभाविक कुछ न कुछ विडम्बना बन ही जाती है इसीलिये साधु बहुत सोच-समझकर साधना के अनुकूल स्थान का चयन करता है। आचार्यश्री के पास पुनः श्रेयांसगिरि एवं कटंगी से वर्षायोग हेतु आमंत्रण आ गये। तब आचार्यश्री ने मुनि विशदसागर को ही बुलाया और समझाते हुये कहा-“यहाँ पर वर्षायोग में कुछ असमानता प्रतीत होती है।” यदि हमें श्रेयांसगिरि में वर्षायोग करना पड़ा तो स्थान और समाज की संख्या के अनुसार साधुओं की अधिकता हो जाएगी जिसे संभालना समाज को कठिन हो जायगा संख्या कम रहे तो समाज भी खुशी-खुशी साधुओं की व्यवस्था कर लेगी और साधुओं की साधना भी निर्विघ्न चलती रहेगी। अठारह पिच्छियों में कुछ तो कम करना ही पड़ेगी। यदि तुम कटंगी वर्षायोग कर लो तो दो क्षुल्लक भी रहेंगे वर्षायोग बहुत आनन्द से सम्पन्न हो जायेगा।

गुरुवर ने बात ही कुछ इस प्रकार रखी थी कि मुनि विशदसागर के पास कोई विकल्प नहीं था, सिवाय हाँ करने के। उसी समय मुनिवर को गुरुवर की दी गई सीख याद आ गई- **“यदि गुरुवर के साथ साधक नहीं बन सके तो कोई बात नहीं; परन्तु बाधक कभी न बनो, यही शिष्य का परम कर्तव्य है।”** यही विचार मन में बिजली की तरह कौंध गया और मुनिवर ने चुपचाप गर्दन नीची कर ली। आचार्यश्री ने मौन स्वीकृति लक्षणम् की युक्ति का प्रयोग कर कटंगी वालों को विशदसागर के वर्षायोग की स्वीकृति प्रदान कर दी। आचार्यश्री ने स्वीकृति तो दे दी मगर विशदसागर के मन में अभी भी भय था। उन्होंने सुन रखा था कि कटंगी में बहुत विद्वान हैं तथा बहुत गहरे एवं बहुत कठिन तर्क करते हैं। यदि मैं उत्तर न दे सका तो मेरी ही नहीं संघ की भी बदनामी का कारण न बन जाऊँ ? यही सोचकर परेशान थे। परेशानी को दबाकर गुरुवर से मुनि विशदसागर ने कहा- यदि वर्षायोग जबेरा में ही कर लिया जाय तब भी ठीक रहेगा। परन्तु तुरन्त ही आचार्यश्री ने कहा- कटंगी वालों की विशेष भावना है, उन्हें स्वीकृति भी मिल गयी है। आगे किसी विकल्प की बात ही नहीं थी। गुरु आज्ञा स्वीकार कर वर्षायोग हेतु कटंगी विशदसागरजी ने प्रस्थान कर दिया।

अभी कटंगी पहुँचे नहीं थे कि रास्ते में एक बुजुर्ग ने आकर महाराज को नमोऽस्तु की एवं पास में बैठे श्रावक से कहने लगे- महाराज की उम्र लगभग बहत्तर वर्ष की तो होगी। श्रावक भी विद्वान् था तुरन्त बोला- अवश्य महाराज की उम्र बहत्तर वर्ष की होनी चाहिए, यदि आपकी उम्र एक सौ बहत्तर वर्ष की हो। बुजुर्ग के मुँह से कुछ कहते नहीं बना। कहते भी क्या ? जब कुछ कहने लायक रहा नहीं ? दूसरे दिन कुछ ब्रह्मचारी भैया, बहिनों ने आकर मुनिश्री को नमोऽस्तु की एवं रत्नत्रय पूछ लिया। साथ ही पूछ लिया- आपका स्वाध्याय कैसा चल रहा है, तब मुनिश्री ने कहा- आचार्यश्री के संघ में जैसा चल रहा था वही यहाँ पर भी

चल रहा है। अब आगे तय करेंगे। श्रावकों से मुनिवर ने भी पूछ लिया— आप लोगों का स्वाध्याय में क्या चल रहा है ? उत्तर मिला— महाराज ! यहाँ पर सुबह समयसार चलता है, दोपहर में चौबीस ठाना चलता है। अभी ब्रह्मचारी संजीव पढ़ाते हैं, कल से आप ही स्वाध्याय करवाये महाराजजी तो ठीक रहेगा।

(35) मिल गयी भय से मुक्ति—

असुरक्षा और भय जिसके मन में बैठ जाये उसका जीवन जीना ही कठिन हो जाता है। यहाँ पर चर्चा हम भय के विस्तार की नहीं करेंगे, न ही सातों प्रकार के भय की चर्चा करेंगे। हाँ, यहाँ चर्चा उस भय की अवश्य करेंगे जिसमें जय—पराजय का भाव छिपा रहता है। भय को स्पष्ट समझने के लिये हम पहले एक भय से संबंधित उदाहरण देख लेते हैं। श्वेताम्बर पंथ वाले अपने आपको बहुत श्रेष्ठ समझते थे। सदैव इस प्रयास में रहा करते थे कि किसी न किसी प्रकार दिगम्बरों को नीचा दिखाया जावे। इसी प्रयास में एक अवसर आ गया— विद्वानों में अपने—अपने पंथ को श्रेष्ठ करने का वाद—विवाद जोर पकड़ने लगा। श्वेताम्बर पक्ष से प्रस्ताव आया कि मेरी तरफ से एक विद्वान और आपकी तरफ से एक विद्वान जो भी आप श्रेष्ठ समझते हो को बैठाया जावे उसमें जो भी विजय प्राप्त करेगा, दोनों पंथ वाले उसी की बात मानेंगे। समय व स्थान भी निश्चित कर दिया गया। दोनों पक्षों ने अपने में श्रेष्ठ विद्वान भी तय कर लिया।

श्वेताम्बर पक्ष ने अपना विद्वान तो तय कर लिया; परन्तु फिरभी अन्दर ही अन्दर भयभीत थे कि कहीं पराजित नहीं हो जायें इसीलिये उन्होंने वाद—विवाद में छल का भी सहारा लिया। मंच को इस तरह से बनवाया कि श्वेताम्बर विद्वान के बगल में ही एक आवरण डाल दिया गया। आवरण के पीछे ही एक देवी को बैठा दिया गया ताकि देवी जो भी कहे वह श्वेताम्बर विद्वान ही सुन सके एवं देवी की सहायता से आसानी से विजय पायी जा सके। निश्चित समय पर बहस प्रारम्भ हुई। छह माह तक बहस अनवरत चली मगर किसी भी पक्ष की न विजय हुई न ही पराजय; परन्तु दिगम्बर पक्ष को श्वेताम्बर पक्ष के विद्वान द्वारा कभी—कभी रुककर उत्तर देने पर आश्चर्य हुआ। बात कुछ समझ से बाहर थी। सभी ने बुद्धि लगाई तब कुछ समझ में आया कि पर्दे के पीछे कोई रहस्य है वरना विद्वान को बात सोचने में इतना समय कैसे लगता है ?

दिगम्बरों ने विचार किया तथा चक्रेश्वरी देवी की आराधना की। चक्रेश्वरी देवी ने प्रगट होकर कहा कि पर्दे के पीछे से देवी द्वारा ही प्रश्नों का उत्तर दिया जा रहा है। इसलिये तुम एक ही प्रश्न को दो बार करना, देवी एक ही बार एक प्रश्न का उत्तर दे सकती है, दूसरी बार नहीं। दिगम्बर में छाया भय समाप्त हो गया। अगले दिन दिगम्बर विद्वान ने एक ही प्रश्न जब बार—बार पूछ लिया तो श्वेताम्बर विद्वान पहले तो एक बार उत्तर दे गया। दूसरी बार देवी मौन साध गई, विद्वान से जब काफी देर तक शब्द ही नहीं निकला तो अन्त में उसने हार स्वीकार कर ली।

यह उदाहरण बतलाता है कि भय का संबंध मात्र जीव के प्राणों से नहीं होता। प्राणी अपने प्राणों के अलावा कई समस्याओं के समाधान खोजते समय भी भयभीत रहा करता है। जो भी साहस से काम लेता है, भय उसके पास से स्वयमेव पलायन कर जाता है। उसकी समस्या भी हल हो जाती है तथा आत्मविश्वास से परिपूर्ण हो जाता है। कुछ ऐसा ही भय कटनी के विद्वानों के बारे में मुनिराज विशदसागर के मन में भी समाया हुआ था। मुनिश्री सोच रहे थे कि दीक्षा लिये अभी पाँच माह हुए हैं। हमने क्या समयसार हमारे पिताजी ने नहीं पढ़ा, यह पढ़ाने की बात कर रहे हैं। कुछ संयत होकर महाराज ने स्वाध्याय प्रेमियों को उत्तर दिया— ठीक है, आप लोग अपना स्वाध्याय जारी रखें। हम वर्षायोग स्थापना के बाद अपना कार्यक्रम समय आप सभी की सुविधानुसार निश्चित कर लेंगे। अभी दो दिन गुजरे थे कि ब्रह्मचारी संजीवजी चौबीस ठाना की सामान्य सी जिज्ञासा लेकर आ गये। मुनिराज ने सहज जिज्ञासा शांत की, ब्रह्मचारीजी संतुष्ट हो गये तो मुनिराज के मन का भय एकदम भाग गया। भयमुक्त होते ही सोचने लगे— मैं व्यर्थ ही भय से पीड़ित था। इतने बड़े विद्वान से इतनी सामान्य जिज्ञासा की अपेक्षा मुनिवर को नहीं थी; किन्तु इस सामान्य सी घटना ने मुनिवर का आत्मबल असामान्य रूप से बढ़ा दिया। वह सोचने लगे— मैं समाधान भी कर सकता हूँ, मेरे लिये इतना ज्ञान ही काफी है। जब छोटा समाधान कर लिया तब बड़ा समाधान भी करूँगा। हाँ, समाधान के लिये गुरुकृपा और स्वाध्याय की जरूरत है। गुरु की तो महत्ती कृपा है मुझ पर, रही स्वाध्याय की बात सो यह कार्य तो मुझे करना ही है।

(36) ज्ञान प्राप्ति की लगन जागी—

सतना में पूज्य आचार्य गुरुवर विरागसागर की शीतकालीन वाचना चल रही थी। वाचना के बीच में ही आचार्यश्री सर्वार्थसिद्धि का स्वाध्याय कर रहे थे जिसमें **‘सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन कालान्तर भावाल्प बहुत्वैश्च’** सूत्र पर विद्वानों के बीच गहन और सूक्ष्म चर्चा चल रही थी। आचार्यश्री के सान्निध्य में संघस्थ मुनि निर्णयसागर, ऐलक विनम्रसागर एवं अनेकों गुणी विद्वान् इस महत्त्वपूर्ण वाचना की चर्चा में भाग ले रहे थे। कभी कोई विद्वान् प्रश्न करता तो आचार्यश्री उसका सटीक उत्तर देते। मुनिवर भी जिज्ञासा प्रगट करते तो आचार्यश्री उसका भी यथोचित समाधान कर देते। कोई ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारिणी भी कोई तर्क रखते तो उसका भी सप्रमाण निदान आचार्यश्री अपने आगमोक्त ज्ञान से कर देते।

वाचना का पूर्ण मनोयोग से श्रवण ऐलक विशदसागर भी कर रहे थे; परन्तु तप चर्चा इतनी ऊँची थी कि उनकी पहुँच से बहुत दूर थी। ऐलक विशदसागरजी खेद, खिन्न थे कि इतनी ऊँची और इतनी महत्त्वपूर्ण चर्चा हो रही है, मेरे सिर के ऊपर से गुजर रही है, मगर मेरे सिर (दिमाग) में समा नहीं रही। सोचते—सोचते ऐलक विशदसागर बहुत दुःखी हो गये; परन्तु उसका निदान उन्हें सूझ ही नहीं रहा था। आखिर जब पानी सिर से ऊपर निकल गया तो सारा दुःख भूलकर ऐलक विशदसागर ने भी सोच लिया कि मैं भी अपना अध्ययन इतना बढ़ाऊँगा कि हर बात सीखकर रहूँगा।

अचानक ऐसा संयोग बैठा कि ऐलकजी को ब्रह्मचारी संदीप भैया के पास से करुणानुयोग प्रवेशिका नामक पुस्तक प्राप्त हो गयी। उस पुस्तक को पहले पढ़ा फिर कण्ठस्थ करना शुरू कर दिया। जो भी समझ में नहीं आता उसे जाकर मुनिश्री निर्णयसागर से समझ लेते। एक माह की वाचनापूर्ण भी नहीं हुई थी कि ऐलकजी ने सब कुछ कंठस्थ कर लिया। करुणानुयोग के माध्यम से संसार, शरीर और जीव की रचना एवं जीव के अन्य द्रव्यों अजीव (पुद्गल) धर्म, अधर्म, आकाश, काल से संबंध एवं स्वतंत्रपना तथा सातों तत्त्व जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष सहित पाप-पुण्य का भी विशद ज्ञान ऐलक विशदसागरजी ने प्राप्त किया। इसी बीच आचार्यश्री के समक्ष सादूमल जिला-ललितपुर, बुन्देलखण्ड (उत्तरप्रदेश) से पंचकल्याणक हेतु निवेदन आया तो संघ का विहार सादूमल की ओर हो गया। ऐलक विशदसागर का अध्ययन भी रास्ते में जारी रहा।

रास्ते में संघस्थ त्यागी व्रतियों की चौबीस ठाना की क्लास चल रही थी। ऐलकजी के करुणानुयोग प्रवेशिका पढ़ने का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होने लगा है। जो ऐलक विशदसागर एक भी प्रश्न का उत्तर देना तो दूर एक छोटी सी भी बात समझने में अपने आपको हीन महसूस करते थे तथा कोई उन्हें अज्ञानी न समझे सो गर्दन झुकाये, आँखें नीचे की ओर किये बैठे रहते थे। सदा गुमसुम रहकर टुकुर-टुकुर दूसरों को देखा करते थे। आज वही ऐलकजी चौबीस ठाना की चर्चा में आगे बढ़कर ऐसे हिस्सा ले रहे थे कि सभी आश्चर्यचकित थे कि ऐसा क्यों हो गया, अचानक ऐलकजी जो-जो प्रश्न समझ भी नहीं पाते थे स्वयं गंभीर से गंभीर प्रश्न कर रहे हैं ? जो बात दूसरों के समझ नहीं आ रही उसके बारे में भी आचार्यश्री से तर्कयुक्त प्रश्न कर रहे हैं। आचार्यश्री जो भी प्रश्न करते उसका भी अपने ज्ञान के आधार पर उत्तर देते। धीरे-धीरे ऐलक विशदसागर की ज्ञान गंगा अपने ही प्रवाह में बहने लगी। उसमें जो भी अवरोध आता आचार्यश्री उसको दूर करते। ज्ञान की वृद्धि होती गयी सर्वार्थसिद्धि तो अस्सी प्रतिशत ऐलकजी को ग्राह्य हो गया। आचार्यश्री का विश्वास भी ऐलकजी पर बढ़ने लगा।

टीकमगढ़ (मध्यप्रदेश) प्रवास के समय आचार्यश्री ने प्रातःकालीन स्वाध्याय की जिम्मेवारी ऐलक विशदसागर को सौंपी। जिसका निर्वहन उन्होंने पूरी तरह किया, जिससे लोगों को भारी लाभ प्राप्त हुआ। लोगों को भले लाभ प्राप्त हो रहा था मगर अन्तरायों के रूप में अशुभ कर्म ने अपना असर दिखाना शुरू किया। एक दिन तो कभी दो-तीन दिन भी नियमित अन्तराय आते। आचार्यश्री ने भी स्थिति की गंभीरता को देखते हुये ऐलकजी को अपने से पूर्व ही आहार को निकलने का आदेश दिया। बस्ती भर में आहारचर्या के समय पहले सभी यही पूछते कि ऐलकजी का पड़गाहन हो गया फिर पूछते कि ऐलकजी का आहार निर्विघ्न सम्पन्न हो गया। यदि यह पता पड़ जाता कि अन्तराय हो गया तो पूरी बस्ती में ही दुःख एवं पीड़ा की लहर दौड़ जाती। बाहर से भी लोग आते तो सर्वप्रथम ऐलक विशदसागरजी के स्वास्थ्य एवं अन्तराय

की खबर लेते। मगर इस सबसे निश्चिन्त और बेफिक्र ऐलकजी थे, जो आत्मकल्याण के पथ पर अपनी चाल से चले जा रहे थे।

**हम जब से हो गये खुद अपने सहारे।
तूफ़ां भी बन गये, अपने लिये सहारे॥**

(37) बस एक सहारा गुरुवर का-

इंसान कितना भी विद्वान, बुद्धिमान, विवेकमान क्यों न हो। जब तक उसे गुरु का सहारा नहीं मिलता उसका ज्ञान नहीं निखरता। ज्ञान में निखार न हो तो ज्ञान की खोट नहीं निखरती। खोटा ज्ञान इंसान को शैतान भी बना सकता है। इंसान के अन्दर जब अज्ञान और मिथ्या मान्यताओं का खजाना भरने लगता है, वह यदि सद्गुरु के पास पहुँच जाये तब सद्गुरु उसे उसके जीवन में आये मिथ्यात्वरूपी अज्ञान से निकालकर सम्यक्त्वरूपी सत् सन्मार्ग पर ले आते हैं। गुरु की लगाम नहीं हो तब इंसान का मनरूपी घोड़ा विषयों के विषैले पथ पर सरपट दौड़ने लगता है। दौड़ते-दौड़ते वह दिशाहीन हो जाता है। जब वह दिशाहीन होता है तब घर तो छूटता ही है, आगे भी मंजिल अज्ञात होने से बस भटकता ही रहता है। भटकते-भटकते जब उसे सही राह नहीं मिलती तब वही अज्ञात पथ पर चलना उसकी नियति हो जाती है, जिस पथ पर आकर्षण तो बहुत हैं मगर सच्चे और सच्चा सुख देने वाले एक भी नहीं। मात्र समय को बर्बाद करने वाले और अपने ही आत्मगुणों का घात कराने वाले आकर्षण पग-पग पर मिलते हैं। वह आकर्षण अपने प्रति इंसान की बुद्धि को इस कदर आकर्षित करते हैं कि इंसान इन्हीं आकर्षणों के लोभ में दयाविहीन हो जाता। जब दया हृदय से जाती है तब दिमाग पर क्रोध अधिकार जमा लेता है।

गुरु की शरण में ही संसार के स्वरूप का, संसार की अच्छाई-बुराई का तथा संसार में स्थित समस्त जीव और पुद्गल की नाना पर्यायों का ज्ञान प्राप्त होता है। स्वयं की सच्चाई, स्वयं में समाये अनन्तबल, अनन्तवीर्य, अनन्तसुख और अनन्तज्ञान का परिचय हमें गुरु ही देता है। गुरु ही हमें अपने और पराये का ज्ञान करवाता है। गुरु ही दुनिया में छाये स्वार्थ के रिश्तों की पहचान भी कराता है। गुरु ही सिद्ध पद प्राप्त कराता है, अपने स्वार्थ के वशीभूत ही पर को अपना मानते हैं। निःस्वार्थ की पूर्ति हेतु ही पर से नाना प्रकार की अपेक्षायें रखते हैं। वह अपेक्षायें पूर्ण नहीं होती, हमारा स्वार्थ सिद्ध नहीं होता। तब हम ही उनके दुश्मन बन जाते हैं।

सच्चा शिष्य वही है जो गुरु जैसे तरु की छाँव में पल्लवित होता है। जो शिष्य गुरु के साये में ज्ञानार्जन एवं गुरु के ही सान्निध्य में साधना करता है, वह अपने दोषों से दूर होता जाता है। गुरु की कृपा प्राप्ति हेतु पर का कुछ भी नहीं चाहिये, चाहिये भी तो स्व का समर्पण, स्व द्वारा की गई विनय, स्व द्वारा किया गया गुरु का सम्मान और स्व द्वारा की गई गुरु के प्रति भक्ति/शिष्य में विनय, मर्यादा, भक्ति और

समर्पण हो तो गुरु उसे सम्पूर्ण विद्याओं में पारंगत कर देता है। आत्मा से परमात्मा बनने की कला सिखला देता है।

ऐलक विशदसागर की विनय, मर्यादा, भक्ति और समर्पण ने गुरु विरागसागर ने मोक्षमार्ग पर ऐलकजी को चलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। जीवन का गुरु से सच्चा परिचय पाया तो संसार शरीर भोगों से विरक्ति हो गयी। रमेश रमेश न रहे संसारी गृहस्थी की अस्मिता ही मिट गयी। अब तो उनकी स्मृति ऐलक विशदसागर के रूप में की जाने लगी; परन्तु यही मंजिल नहीं थी। मंजिल का तो अभी प्रथम पड़ाव भी नहीं था; क्योंकि साधुत्व की सीढ़ी तो पूर्ण दिगम्बरत्व से प्रारम्भ होती है। हाँ, दिगम्बरत्व के ठीक मुहाने पर अवश्य गुरुवर की कृपा से ऐलक विशदसागरजी पहुँच गये थे। इसीलिये वह गुरुवर का सान्निध्य ही अधिक से अधिक चाहते थे।

प.पू. आचार्य विरागसागरजी का विहार मध्यप्रदेश से उत्तरप्रदेश अर्थात् टीकमगढ़ से ललितपुर की ओर हुआ। वर्ष उन्नीस सो पंचानवे (1995) का पावन वर्षायोग भी ललितपुर में श्री दिगम्बर जैन मंदिर क्षेत्रपालजी में हुआ। इसके पूर्व गुरुवर आचार्यश्री के समक्ष अशोकनगर, मध्यप्रदेश से भी वर्षायोग स्थापना हेतु निवेदन हुआ। आचार्य गुरुवर विरागसागर के मन में विचार आया कि ऐलक विशदसागरजी अब कुछ योग्य और निपुण हैं। यह वर्षायोग स्वतंत्रतापूर्वक कर सकते हैं सो गुरुवर ने ऐलकजी से उनकी राय माँगी। मगर शिष्य ऐलक विशदसागर को गुरु से विदाई की बात सुनते ही अन्दर तक सिहरन दौड़ गयी। वगैर कोई समय व्यर्थ गंवाये गुरु चरणों में विनम्र निवेदन करते हुये ऐलकजी ने कहा— मुझे तो अभी आपके चरणों में रहना है। अन्य कोई भी जगह हमारे रहने योग्य नहीं। अपने चरण—सान्निध्य में रहने का सुअवसर मुझसे मत छीनिये। गुरुवर ने भी शिष्य के आग्रह को स्वीकार कर लिया। साथ ही रहने की गुरु के साथ शिष्य को अनुमति मिल गयी।

हाँ, शिष्य का मन कुछ समय के लिए विचार मंथन में डूबता उतरता रहा कि अभी तो गुरुवर से ज्ञान—पिपाशा करने का सही अवसर है। इस समय तो मैं अपरिपक्व हूँ, साधना भी कच्चे घड़े की तरह है जिसे गुरु के अनुशासन की अग्नि में तपाना आवश्यक है इसीलिये गुरु से अलग रहना मेरे लिये कदापि संभव नहीं। यहाँ तो गुरु ही सन्मार्ग दिखाने वाले हैं। स्वतंत्र रहने पर मुझे ही समाज को अपनी क्रिया, अपने आचरण और अपने ज्ञान से दिशा देनी होगी जो फिलहाल मुझमें नहीं है। यदि है तब भी मैं उसे स्वीकार नहीं करता। कुछ दिन तक चली यह विचार शृंखला गुरु भक्ति में स्वतः समाप्त हो गयी।

वर्षायोग चल रहा था ललितपुर में। इसी प्रवास में बहुत से तरुणाई लिये बालक ऐलक विशदसागरजी से प्रभावित होने लगे, बिल्कुल वैसे ही जैसे खरबूजा को देखकर खरबूजा रंग बदल लेता है। अन्तर सिर्फ इतना था कि यहाँ पर रंग बदल रहा था गृहस्थी का और रंग चढ़ रहा था साधुत्व का। चोला च्युत हो रहा था

राग का, आकर्षण बढ़ रहा था वैराग्य का। ऐलक विशदसागरजी से बहुत से बालक प्रभावित थे जिनमें से एक मनीषकुमार ने तो ऐलकजी के साथ चलने का निश्चय कर लिया। मगर होनी को कुछ और ही मंजूर था। सो होनी हो न सकी, अनहोनी बनकर पिताजी आये और मनीषकुमार को जीप में लेकर चले। मगर कहते हैं कि—

**होनी सो होकर रहे, अनहोनी नहीं होय।
जाके उर वैराग्य उपज, सो साधु ही वह होय॥**

हुआ वही, अनहोनी भी होनी में बदल गयी। जो बालक मनीषकुमार ऐलक विशदसागरजी के सान्निध्य में रहा। उसके अंदर वैराग्य के अंकुर इतने अन्दर तक पनप चुके थे कि बलपूर्वक भी वह घर की चारदीवारी में नहीं रोका जा सका। स्वतंत्र पक्षी पिंजड़े में बंद हो जाये तब वह वैसे ही मुरझाने लगता है। यही दशा मनीष की थी। अन्त में पक्षी आजाद हो गया और मुनि विशोकसागर के रूप में दशों दिशाओं को अपने वैराग्य से प्रकाशित करने लगा।

(38) सिर मुंडाते ओले पड़े—

किसी भी कार्य की शुरुआत करें और उसमें भारी विघ्न उपस्थित हो जाये तब बरबस ही यह कहावत चरितार्थ होने लगती है कि **'सिर मुंडाते ही ओले पड़े'**। कई लोग जब बड़ी आशा लिये किसी व्यापार को प्रारम्भ करते हैं मगर लाभ के स्थान पर हानि हो जाये। हम किसी के रिश्ते की बात करने जाये और पुराना रिश्ता भी टूट जाये अथवा हम कोई निर्माण कार्य करें और वह निर्माण कार्य पूर्ण होने के पूर्व ही ध्वस्त हो जाये अथवा साधु हमारे दर पर पड़गाहा जावे मगर वगैर आहार हुये ही वापिस चला जावे अथवा हमें किसी वस्तु की सख्त जरूरत हो परन्तु हमसे भी तीव्र जरूरत वाला आ जावे तब बरबस ही मुँह से निकल पड़ेगा कि **'सिर मुंडाते ही ओले पड़े'**। यह मुहावरा सचमुच जैनधर्म के बुनियादी सिद्धान्त पर आधारित है कि 'हम जैसा कर्म करेंगे वही हमारे उदय में आयेगा।'

घाटा अचानक नहीं पड़ गया, रिश्ता बनने के बजाय पुराना रिश्ता क्या वैसे ही टूट गया, निर्माण कार्य भी क्या सहज में ध्वस्त हो गया ? अथवा साधु स्वाभाविक सहज ही हमारे घर आकर ही वापिस चला गया। यह सब हमारे आस्था के प्रश्न हैं, कोई भी आस्तिक जो जन्म-जन्मान्तर को जानता है। पूर्व और भविष्य के भव पर विश्वास करता है, वह यह अवश्य जानता है कि प्रत्येक घटना चाहे वह अच्छी हो या बुरी सभी पूर्व कर्मों का फल है।

कौरव सौ थे, पांडव पाँच मगर सौ कौरव भी पाँच पाण्डवों के हाथों न सिर्फ पराजित हुये बल्कि मृत्यु तक को प्राप्त हुये। कौरव क्या राव सरीखा महापराक्रमी, वीर, योद्धा, शक्तिशाली जीव भी मात्र दो रघुवंशी

राम-लक्ष्मण के हाथों पराजित हुये बल्कि मृत्यु की गोद में सो गये। क्या यह सब अचानक हुआ ? नहीं, सब कुछ पूर्व नियोजित था। कौरव हों या रावण सभी के पूर्वकृत कर्म उदय में आये और उन्हें कर्मों से वही फल प्राप्त हुआ जिसका निदान उन्होंने पूर्व भव में ही कर लिया था। पाण्डव अथवा राम-लक्ष्मण ने किसी को नहीं मारा, वह तो मात्र मारने में निमित्त बन गये। वास्तव में पाण्डव और राम-लक्ष्मण भी समय और परिस्थिति के आगे बेबस हो गये। पाण्डव अपने पुत्रों को नहीं बचा पाये तो राम-लक्ष्मण अपने ही पुत्रों से हार गये। स्वयं सोचो, किसने किसको मारा ? वास्तव में किसी ने किसी को नहीं मारा, न ही कोई जीता और न ही कोई हारा। सभी अपने-अपने कर्मों का फल भोगते हैं।

समय सब का हिसाब किताब अपने पास रखता है। समय ही भाग्य बनकर हमारे कर्मों के साथ बंध जाता है। अनुकूल संयोग आ जावे अथवा प्रतिकूल संयोग, यह समय ही है जो हमारे पूर्वकृत कर्म के समय हमारे साथ था और हमारे उसी कर्म में हमारा भाग्य बनकर, हमारे साथ बंध गया, भाग्य बनकर हमारे साथ लिखा गया और आज जब कोई भी घटना चाहे हमारे लिये शुभ या सुख देने वाली घटे अथवा अशुभ और असाता देने वाली घटे, सभी में वही समय भाग्य के रूप में उदय होकर अपना फल देता है। फल देकर वह तनिक भी नहीं रुकता, जितनी देर तक और जितनी मात्रा में सुख या दुःख, समय हमें हमारे भाग्य के रूप में लिखकर लाता है उससे न तो एकपल कम न एक पल अधिक वह करता है। हाँ, हम चाहते तो अपने पुरुषार्थ के बल पर कर्मों की तीव्रता या मंदता को प्रभावित कर सकते हैं। मगर एकदम कर्मों का उदय समाप्त नहीं कर सकते।

देख लो, सती चन्दनबाला कितने दिनों से भूखी-प्यासी छिलकों से उदर पूर्ति करती हुई हाथ में हथकड़ी पैरों में बेड़ी लगी रो-रोकर कर्म काट रही थी। अचानक कर्मों ने ही ऐसा पल्टा खाया कि स्वयं तीर्थंकर प्रभु भगवान महावीर उसके समक्ष आहार हेतु आ गये। देवों ने सारी रसोई तैयार करवा दी मगर कर्मों ने भगवान के समक्ष भी अपना फल देने में संकोच नहीं किया। भगवान को देखते ही हर्ष से मुस्कुराती, अपने दुःखों को भूल प्रसन्नता प्रगट करती सती चन्दनबाला के सिर मुड़ाते ही ओले पड़ गये। बस, एक मुस्कान ने उसकी सारी खुशी छीन ली, हँसते-हँसते ही दहाड़ मारकर गिरी और बरबस ही आँखों से आँसू छलकाती प्रभु को पुकारने लगी। बस, क्या था भाग्य ने भी पलक झपकने से पूर्व ही पल्टा खाया, लौटते-लौटते प्रभु पुनः वापिस आ गये। प्रतिज्ञापूर्ण हुई, दुखियारी चन्दनबाला के लिये चमत्कार हो गया। देवों ने पुष्पवृष्टि की, बाजे बजाये और सती चन्दनबाला की प्रशंसा की।

इसीलिये कहते हैं, कुछ भी अचानक नहीं होता। सब पूर्वकृत कर्मों का फल मिलता है। ऐलक विशदसागरजी पर तो यह कहावत शत-प्रतिशत खरी उतर गई। सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि में दिनांक तीन फरवरी उन्नीस सौ छियानवे (3-2-1996) तक श्री मञ्जिनेन्द्र पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन था। पूज्य

आचार्यश्री विरागसागरजी के मंगलमयी पावन सान्निध्य में प्रतिष्ठा निर्विघ्न और सानन्द संपन्न हुई। ज्ञानकल्याणक के शुभ अवसर पर ऐलक विशदसागरजी का केशलुंचन हुआ। पंचकल्याणक प्रतिष्ठा के पश्चात् आचार्यश्री प्रातःकाल विहार करके श्री द्रोणगिरि से बड़ा मलहरा पहुँच गये। बड़ा मलहरा में आहारचर्या हुयी और पुनः विहार हो गया। अभी बस्ती से मात्र तीन किलोमीटर ही पहुँचे थे कि जोरदार शीतलहर आ गयी, वर्षा के साथ-साथ ओले भी गिरने लगे। अभी ऐलकजी का केशलुंचन हुआ था, कोई समय भी नहीं बीता था कि मुंडे हुये सिर सचमुच ओले गिरने लगे। कर्मों का फल सभी को मिलता है चाहे गृहस्थ हो, श्रावक हो अथवा साधु ही क्यों नहीं हो कर्मों के फल से कोई अछूता नहीं रहता। ऐलक विशदसागरजी को भी कर्मों ने नहीं छोड़ा। अपना फल देकर ही ऐलकजी का साथ छोड़ा।

(39) बात अपने की-

हम सभी की आदत है कि हमारे किसी भी कार्य को करने के लिये जब किसी सहारे की जरूरत पड़ती है तब सभी यह देखते हैं कि जिससे सहारा लिया जा रहा है वह हमारा अपना हो। अपने का एक अलग महत्त्व है जो भी अपना होता है उससे पूर्व से ही पहचान हुआ करती है। पहचान ही नहीं होती उसकी अच्छाईयों एवं बुराईयों से भी हम पूरी तरह परिचित होते हैं। इस सबसे अलग हटकर हमें अपने आप में एक विश्वास रहता है कि हम जिसे जिम्मेवारी सौंप रहे हैं वह हमारे विश्वास पर पूरी तरह खरा उतरेगा। अपने पर सहज विश्वास हुआ करता है जैसे भी हम नये या पराये आदमी पर कैसे विश्वास कर सकते हैं ? नये आदमी का परिचय ही नहीं तब सोचो वगैर परिचय के आदमी पर विश्वास कर हम अपनी ही जिम्मेवारी के प्रति लापरवाही बरत रहे हैं। रही बात पराये आदमी पर विश्वास की सो जब यह निश्चित रूप से हमें पता है कि वह आदमी अमुख आदमी का विश्वासपात्र है। यहाँ स्वयं ही प्रश्न खड़ा हो जाता है कि जो स्वयं दूसरे के प्रति वफादार है, दूसरे के प्रति ईमानदारी से ही उसने दूसरे का विश्वास अर्जित किया है। अब भला जो एक व्यक्ति के प्रति ईमानदारी से समर्पित है वह हमारे लिये भी उसी समर्पण से कार्य करेगा, यह विश्वास करना ही उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि दूसरे के प्रति समर्पित रहने वाला यदि हमारे प्रति भी समर्पित हो जाय तब तो यह बात प्रगट होती है कि या तो वह अपने ईमान से भटक गया है अथवा उसके समर्पण का कारण समाप्त हो गया है।

जो समर्पण का कारण समाप्त होने की वजह हुआ करती है बिल्कुल वही समर्पण करने की वजह रहती है। समर्पण की प्रथम वजह परस्पर व्यवहार होता है अर्थात् हम जिस किसी के काम आते हैं, हमारे काम वह भी समय पर अवश्य आता है। दूसरी वजह है एक व्यक्ति का दूसरे से स्वार्थ सिद्ध होता तो वह स्वार्थ सिद्ध होने तक समर्पित रहता है। तीसरी वजह होती है दबाव, जब कोई धन, बल अथवा शारीरिक बल से इतना मजबूत होता है कि उसके सामने नहीं करने की किसी की हिम्मत ही नहीं होती। तब इसी दबाव में वह

दूसरों को अपने प्रति समर्पित करवाता रहता है। चौथी वजह भी एक कमजोर वजह होती है वह है एक विश्वास। वह भी ऐसा अजीबोगरीब विश्वास कि हम अच्छी तरह जानते हैं कि सामने वाला हमारे किसी काम नहीं आने वाला मगर फिर भी एक क्षीण आशा संजो कर रखते हैं। मन में शायद उसके परिणाम बदल जायें और भाग्यवशात वह हमारा भी काम कर दे। बस, इसी दूरी और मरी आशा में हम उसके प्रति समर्पित रहते हैं।

यह चारों कारण समर्पण के हैं; परन्तु यह समर्पण पूर्णतया लौकिक है, सांसारिक है, किसी भी तरह धार्मिक, पारमार्थिक, आध्यात्मिक अथवा पारलौकिक समर्पण नहीं है। किन्तु संसार में रहने के लिये सांसारिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु हम सभी परस्पर एक-दूसरे के प्रति समर्पित रहते हैं। सिर्फ तन और धन तथा वैभव और यज्ञ से बड़ा व्यक्ति ही निर्बल, निर्धन, बेइज्जत और बदनाम को झुकाता, वक्त पड़ने पर वह भी इन सभी के सामने झुकने को मजबूर हो जाता है। क्यों न झुके स्वार्थ के कारण जब जहाँ नाता जुड़ता है तो स्वार्थ कभी भी हो सकता है, किसी को भी हो सकता है तथा किसी से भी हो सकता है। अब चाहे वह बड़ा हो या छोटा, बलवान हो या निर्बल धनवान हो या निर्धन ख्याति लब्ध हो या बदनाम, वैभव संपन्न हो साधनहीन सभी को स्वार्थ जकड़ लेता है। स्वार्थ की यही जकड़न उसे सामने वाले के सामने समर्पण को मजबूर कर देती है। यह अलग बात है कि स्वार्थपूर्ति के पूर्व तक हम जिसे अपना कहते नहीं थकते तथा उसे वह हर सम्मान देते हैं जिसके लायक वह किसी भी तरह नहीं होता।

हाँ, यह समर्पण आस्था और विश्वास का नहीं है; क्योंकि अपने आराध्य के प्रति समर्पण में संसार की किसी भी वस्तु या व्यक्ति की कामना नहीं होती। आराध्य से तो सभी संसार के दुःखों से छुटकारा दिलाने एवं अपनी मुक्ति की कामना करते हैं। आस्था में आने वाला स्वार्थ है। स्वधन अर्थ (स्व+अर्थ) अर्थात् स्वयं को प्राप्त करने की इच्छा। स्वयं को अपनी ही निर्दोष आत्मा से साक्षात्कार परमात्मा बनने की ही कामना है। परमात्मा क्या है, परम आत्मा अर्थात् जिसकी आत्मा परम अर्थात् निर्दोषता को प्राप्त हो गयी हो वही परमात्मा है। फिर जिसकी आत्मा से दोष दूर हो जाये वह परम आत्मा ही तो बनेगा। हमें भी मुक्त होना है तो हमें अपना आत्मा के दोष दूर करने होंगे, परायी आत्मा के नहीं।

मगर यहाँ तो प्रसंग आस्था पर आधारित अपनेपन का नहीं है, यहाँ तो बात चल ही है सांसारिक रूप से अपनेपन की। यह लौकिक व्यवहार है, इसका पालन क्या गृहस्थ, क्या साधु सभी को करना पड़ता है। ऐलक विशदसागजी ने भी यह अपनेपन का व्यवहार पालन करने को सहमत कर लिया।

बात है देवेन्द्र नगर, जिला-पन्ना, मध्य प्रदेश में हुये पंचकल्याणक की। इस पंचकल्याणक के अवसर पर पूज्य आचार्यश्री विरागसागरजी द्वारा दीक्षा महामहोत्सव हुआ जिसमें गुरुवर द्वारा तेरह दीक्षार्थियों

को दीक्षा प्रदान की। आचार्यश्री ने दीक्षा के पूर्व ही दीक्षार्थियों की भलीभाँति परीक्षा ली तथा उन्हें दीक्षा हेतु कुशल पात्र मानने पर ही दीक्षा प्रदान की। गुरुवर ने मात्र दीक्षा ही प्रदान नहीं की, उन्हें उनकी योग्यतानुसार संघ के कार्यों की भी जिम्मेवारी सौंप दी। उसी समय पूज्य गुरुवर के ही संघस्थ मुनि निर्णयसागर की वाचना ग्रीष्मकाल में हटा, जिला-दमोह (मध्यप्रदेश) में चल रही थी। वाचना में आये किसी प्रश्न या प्रसंग के समाधान हेतु एक पल मुनि निर्णयसागरजी ने आचार्यश्री के पास भेजा। आचार्यश्री ने नवदीक्षित क्षुल्लक विनयसागरजी कि पूर्व में ब्रह्मचारी विवेक के रूप में मुनि निर्णयसागर के संघ में शामिल थे, उन्हीं क्षुल्लक विनयसागर के लिये पत्र का जवाब देने के लिये कहा।

जब आचार्यश्री के आदेश की जानकारी ऐलक विशदसागर को हुई तब उन्होंने आचार्यश्री के समक्ष पहुँचकर विनम्र अनुरोध किया कि गुरु श्रेष्ठ हमारे संघ में पूर्व से ही यह कार्य करने वाले ऐलक विमर्शसागरजी मौजूद हैं, क्यों नहीं उन्हीं से पत्र का उत्तर तैयार कराया जाये। ऐलक विमर्शसागरजी बुद्धि से प्रखर तो हैं ही, हर तरह से पत्रों का उत्तर देने में समर्थ भी हैं। अनुभवी भी हैं इसीलिये उन्हें अधिक कुछ समझाने की भी जरूरत नहीं। इसके अलावा ऐलक विमर्शसागरजी प्रारम्भ से ही गुरुवर के संघ से जुड़े हैं इसीलिये संघ के सभी नियमों एवं गोपनीयता से भी परिचित हैं। जबकि क्षुल्लक विनयसागरजी अन्य संघ मुनि निर्णयसागर के संघस्थ हैं। उन्हीं के नियम व परम्पराओं से अवगत हैं। हॉल ही में संघ में शामिल हुये हैं इसीलिये नये पर विश्वास तो किया जाता है, मगर कुछ समय गुजरने के पश्चात्। तभी पता चल पाता है नवागन्तुक के विश्वास व समर्पण अथवा पलायन का। अभी तो वह वैसे भी अन्य संघ से आये हैं, ऐसे में कुछ समय रुककर ही उन्हें यह कार्य सौंपा जाये तो उचित रहेगा। हाँ, क्षुल्लकजी की योग्यता या विश्वास पर कोई संदेह नहीं है मगर जब अपने ही संघ में पूर्व से ही अपने ऐलकजी जिस कार्य को कुशलता के साथ संपन्न करते आये हैं फिर उनकी जिम्मेवारी दूसरे को देने की इतनी जल्दी क्यों ?

बात गुरुवर के समझ में आ गयी थी; क्योंकि गुरुवर को तो ईशारा ही पर्याप्त था। गुरुवर ने भी विशदसागर के तर्क से सहमति व्यक्त कर दी।

नहीं अपने पराए का जिसे कुछ ज्ञान होता है।
वही गरिमा का भी अपने जिसे कुछ ध्यान होता है॥
'विशद' जो लोग हैं ऐसे नहीं विश्वास के काबिल।
जमाने में 'विशद' सच्चा नहीं वो इंसान होता है॥

(40) सजावट शरीर की गिरावट-

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।

यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्॥ इ.20 ॥

सच्चे हैं वे साधक जो चमत्कारों में नहीं अपनी आत्मा के अन्दर छिपी अनन्त शक्तियों पर विश्वास करते हैं तथा चमत्कारों से प्राप्त सुख में भी छिपे दुःख को अपने ज्ञानचक्षु से पहचान लेते हैं तथा दुःखों से भरे इस संसार को मिटाने के लिये वैराग्य का पथ धारण करते हैं। वैराग्य तो अन्य धर्मों में भी धारण किया जाता है; परन्तु बड़ा आश्चर्य होता है यह देखकर कि उन वैराग्य से विभूषित साधु-सन्तों के पास गृहस्थों से भी अधिक धन-संपदा होती है। धन-संपदा ही नहीं, उस धन-संपदा को अपना बनाये रखने या अपने धन को और अधिक बढ़ाने के लिये असत्य और हिंसा का सहारा भी लेते हैं। साधु के नाम पर स्वादू बन जाते हैं तथा मठाधीश बनकर राजा की तरह शासन करते हैं तथा धन चढ़ाने वालों को तो आशीर्वाद देते हैं मगर धनहीन को दर्शन देना भी उचित नहीं मानते। गृहस्थ का परिग्रह तो फिर भी सीमित हो जाय मगर इन वैरागियों के परिग्रह की कोई सीमा नहीं। राग इतना कि पापियों को भी हर पाप के लिये माफ कर दें बशर्ते वह उनका चहेता हो और यदि वह चहेता नहीं हो तब तो उसके अच्छे से अच्छे कार्य एवं सेवा तक की भी उपेक्षा कर दें। बहुत कम मिलते हैं बहुत सच्चे और पक्के निर्मोही वैरागी साधु।

जैनधर्म के वैराग्य का तो आधार ही है रागद्वेष एवं परिग्रह से विरक्ति। राग भी वस्तुओं से मिट जाय; परन्तु शरीर से बना रहे तब भी जैनधर्म उसे स्वीकार नहीं करता। शरीर भी मात्र पराया छूटे, स्वयं के शरीर से राग रहे, यह भी तो जैनदर्शन को स्वीकार नहीं। यही कारण है कि जैन साधुओं के शरीर पर सर्दी-गर्मी या बरसात से बचाव को वस्त्र नहीं होते। दिगम्बर जैन साधुओं के शरीर पर वस्त्र तो होते ही नहीं, दिशायें ही उनका वस्त्र होती हैं। दिगम्बर जैन साधु भोजन भी दिन में एक बार लेते हैं, वह भी खड़े होकर अपने ही हाथों के ग्रास से ताकि न भोजन से मोह रहे और न भोजन से संबंधित किसी भी वस्तु या व्यक्ति से। भोजन भी भरपेट नहीं बल्कि अल्प मात्रा में ताकि शरीर में प्रमाद या आलस्य न आ सके एवं तप और साधना चलती रहे।

जैनदर्शन में मोह को मारने के लिये एवं शरीर से ममत्व मिटाने के लिये ही वह सारे उपाय अपनाये गये हैं जिनके बारे में आम आदमी की राय चमत्कार से कम नहीं होती। देखों, क्या कोई बगैर स्नान या बगैर मुँह को साफ किये रह सकता है? किन्तु देखो, दिगम्बर जैन आमनाय पर चलने वाले साधु-सन्त न तो जल स्नान के रूप में प्रयोग करते हैं और न ही कभी मुँह धोने के लिये मंजन, पेस्ट अथवा किसी साधन का प्रयोग करते हैं। आप सोचते होंगे कि शरीर न धोने या मुँह साफ न करना तो गन्दगी एवं बीमारियों को बुलावा देना है; किन्तु प्रत्यक्ष देख लीजिये आप नित्य साबुन, शैम्पू या न जाने कितने मँहगे साधनों से नहाने के बाद भी शरीर को उतनी सुन्दरता, उतना तेज एवं उतनी शोभा प्राप्त नहीं कर पाते जितनी शोभा, जितनी चमक एवं जितना तेज एवं जितना आकर्षण दिगम्बर जैन साधुओं के शरीर पर बगैर नहाये एवं बगैर मुँह धोये होता है।

शरीर से मोह ही तो शरीर को आराम एवं सुख के सम्पूर्ण साधन उपलब्ध कराता है। इसी कारण से रात्रि शयन अथवा शरीर को आराम देने के लिये व्यक्ति कीमती और मुलायम मखमल या डनलप के गद्दों का प्रयोग करते हैं ताकि शरीर को कोई कष्ट नहीं हो। जबकि दिगम्बर जैन साधु तो जमीन पर चौके पर मात्र एक चटाई रखकर ही शयन करते हैं। शयन भी आसनें अदल-बदल कर नहीं, मात्र एक ही आसन में। निद्रा भी कम ही लेते हैं। अधिकतर समय तो आत्म-अवलोकन एवं सामायिक तथा साधना में लगाते हैं।

इन दिगम्बर जैन साधुओं के पास कोई मठ होता नहीं और न होती है मठों की मालिकी। इनके पास तो परिग्रह के नाम पर मात्र दो ही उपकरण होते हैं पिच्छी एवं कमण्डल। पिच्छी जीवों की छोटी से छोटी सावधानी कर रक्षा के लिये उपयोग करना पड़ता है। वहीं कमण्डल का जल शुद्धि के काम आता है ताकि लघु एवं दीर्घ शंका के बाद शरीर का दोष निवारण हो सके। कभी-कभी शास्त्र भी लेते हैं तो ज्ञान की वृद्धि के लिये। ज्ञान की वृद्धि भी स्व-पर भेद विज्ञान तथा हित-अहित की पहचान के लिये।

इस सबसे अलग, एकदम हटकर, एकदम निराला तथा एकदम कठोर, एकदम दुस्सह खुद को क्या दूसरों तक को देखने पर कष्ट देने वाला कार्य करते हैं दिगम्बर जैन साधु। यह कार्य ऐसा है जिसके कारण सारी दुनिया में प्रचलित समस्त धर्मों के एवं समस्त आम्नाय एवं समस्त सम्प्रदायों से दिगम्बर जैन साधुओं की अलग पहचान कायम करता है। साधारण तौर पर साधारण आदमी जो इस कार्य के बारे में जानता है, इस कार्य का नाम सुनते ही काँपने लगता है। साधारण आदमी क्या दिगम्बर जैन साधुओं को छोड़कर अन्य कोई भी साधु इसे अपना पसन्द नहीं करता ताकि शरीर को अनावश्यक कष्ट न हो तथा खुद को संक्लेशित परिणामों से नहीं गुजरना पड़े।

यह कार्य और कुछ नहीं अपने ही सिर एवं चेहरे में लगे बालों का अपने ही हाथों से बगैर किसी कष्ट की अनुभूति किये चेहरे पर समता के परिणाम लिये केशलुंचन करना। हाँ, यही केशों का लुंचन या खींचना या उखाड़ना है 'केशलुंचन' जो दिगम्बर जैन साधुओं का शरीर से निर्ममत्व सिद्ध करता है।

**मोक्ष महल हो जहाँ मुक्ति कन्या को वरने कदम मैं बढ़ाऊँ।
फूलों काँटों में पतझड़ बहारों में कभी न मैं डगमगाऊँ॥
स्व-पर ज्ञान ज्योति जगा के, मोह महातम सहज मिटाऊँ।
निज आनंद रसास्वाद से ध्यानाग्नि में कर्म खपाऊँ॥**

जिस कष्ट साध्य कार्य को जैन साधु सहजता से करते हैं मगर अन्य आदमी सोच भी नहीं सकता। सन् 1991 में मुनि विरागसागर (वर्तमान में गणाचार्य) जी का ससंघ वर्षायोग अतिशय क्षेत्र श्रेयांसगिरि, जिला-पन्ना नगर में चल रहा था। गाँवों से बहुत से लोग दर्शनार्थ गये, साथ में रमेश भी गये। विरागसागरजी के संघ में उस समय, उसी वर्ष दीक्षित मुनि विशुद्धसागर थे। उम्र में भी वह संघस्थ साधुओं से छोटे थे

इसीलिये उनकी अल्पवय साधारणतया लोगों के आकर्षण का केन्द्र बन जाती थी। नगरवासियों को अचानक खबर लगी कि उन्हीं युवामुनि विशुद्धसागर का केशलुंचन होना है। जैन धर्मावलम्बियों को केशलुंचन स्वयं आकर्षित करता है; किन्तु जैन धर्मावलम्बियों से अधिक आकर्षित होते हैं अजैन बन्धु। जब केशलुंचन की क्रिया चलती है तब वहाँ पर उपस्थित कोई नेत्र नहीं होता जिसकी आँखों में आँसू एवं दिमाग में कौतूहल नहीं होता हो।

केशलुंचन में साधु जब अपने ही केशों को निर्दयतापूर्वक अपने ही हाथों से उखाड़ना शुरू करते हैं तो लोगों के हृदय में दयाभाव भर आता है। सामान्य जन सोचता है कि हमें तो मशीन से अथवा उस्तरा या चाकू से भी बाल कटवाने में तकलीफ होती है; किन्तु देखो ये हैं सच्चे वीर, सच्चे महावीर जो निर्भय होकर प्रसन्न मन से अपने केशों का अपने ही हाथों से लुंचन कर रहे हैं। केशलुंचन जैन साधुओं की शरीर रागरहित होने की वह प्रत्यक्ष साधना है जिसके चलते धर्म की इतनी महती प्रभावना होती है जितनी प्रभावना अनेकों बड़े-बड़े विधानों के कराने से भी नहीं होती। यही कारण है कि विधान आदि कार्यों में समाज को जोड़ना पड़ता है, मनाना भी पड़ता है ताकि विधान निर्विघ्न बगैर विरोध के आनन्द के साथ संपन्न हो सकें। जबकि केशलुंचन की तो सूचना भर मिल जाये लोग दौड़े-दौड़े चले आते हैं। केशलुंचन करने वाले महाव्रती भले अपनी इस क्रिया को सामान्य एवं आवश्यक माने; परन्तु जनमानस तो इस क्रिया को देखने में ही अपने को अहोभाग्य मानने लगता है। यही कारण है कि विधान में भाग न ले पाने पर मनुष्य को अप्रसन्नता नहीं होती। सोचता है कोई बात नहीं और होने वाले विधान में भाग ले लूँगा; किन्तु यही सोच केशलुंचन क्रिया के प्रति बदल जाती है। भरसक प्रयत्न कर तो वह केशलुंचन को प्रत्यक्ष नेत्रों से देखकर शरीर के प्रति ममत्व और मोह के त्याग की प्रत्यक्ष अनुभूति करता है। यदि प्रयास में सफल नहीं हुआ तब निश्चित रूप से पश्चाताप करता है कि मेरे किसी अशुभ कर्म का उदय रहा होगा, इसीलिये महाव्रती के इस त्याग के महान् कार्य को देखने से मैं वंचित रह गया। यह कहते हुये स्वयं को धिक्कारने लगता।

वही केशलुंचन तरुण मुनि विशुद्धसागर का चल रहा था। महाराज के चेहरे पर एक दिव्य तेज झलक रहा था। नेत्रों में अद्भुत चमक थी एवं हाथों की उँगलियाँ तो इस गति से चली थी, मानों उनमें बिजली का करण्ट प्रवाहित हो रहा हो। लोगों में उत्सुकता तो थी ही। जिन्होंने प्रथम बार इस त्याग और शरीर से विरक्ति के महान् कार्य को देखा, उन्होंने आश्चर्य से दाँतों तले उँगली दबा ली। कई लोगों के तो रोम-रोम खड़े हो गये। भावुक हृदय जन इस महान् दृश्य को पूरी तरह देख ही नहीं सके। उन्होंने नेत्र बन्दकर भगवान की भक्ति शुरू कर दी ताकि महाराज को केशलुंचन करते समय किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो।

लोग चर्चा कर रहे थे महाराज के साहस की एवं प्रशंसा भी कर रहे थे उनके अदम्य उत्साह की; किन्तु जाने क्यों तरुणाई पर आरुढ़ रमेश को यह प्रशंसा क्यों हजम नहीं हो रही थी। सहसा रमेश से रहा

नहीं गया और कह ही बैठे, इसमें तारीफ की क्या बात है? यह तो कोई भी कर सकता है। सभी ने कहा—कहने और करने में बहुत अन्तर होता है। क्या तुम ऐसा कर सकते हो? एक बाल उखाड़ने में तो बालतोड़ हो जाता है, सैकड़ों रुपया दवा में लगते हैं, महीनों की तकलीफ भोगनी पड़ती है सो अलग। बातें बनाते हैं कि हाँ हम भी कर लेंगे। रमेश को बात लग गयी और उन्होंने सचमुच अपने बाल अपने ही हाथों से उखाड़कर बता दिये और साथ में साथियों को देखकर हँसते भी रहे। रमेश के इस साहस भरे कार्य को देखकर एक उपस्थित व्यक्ति के मुँह से निकल ही गया—

**त्याग की बात तो हर कोई किया करता है,
धर्म का नारा भी तो हर कोई दिया करता है।
उतारे जो कथनी को करनी बनाकर जीवन में,
ऐसा महावीर कोई-कोई हुआ करता है।**

इसके बाद मुनिसंघ का विहार हो गया तथा आस-पास के बुन्देलखण्ड के तीर्थों की वंदना करते हुये श्री दिगम्बर जैन चौधरी मन्दिर में आगमन हुआ। छतरपुर के जैन समाज के श्रेष्ठियों सहित सकल दिगम्बर जैन पंचायत एवं सकल समाज की ओर से मुनिश्री के पावन चरणों में बड़े ही सम्मान और श्रद्धा, भक्ति सहित ग्रीष्मकालीन वाचना कर छतरपुर में प्रवास हेतु निवेदन किया गया। सभी के चेहरे खिल उठे जब मुनिश्री के श्रीमुख से उनके निवेदन को स्वीकृति प्राप्त हो गयी। अविलम्ब छतरपुर में श्री मन्दिरजी में ग्रीष्मकालीन वाचना का भव्य एवं आकर्षक आयोजन किया गया।

(41) क्या निश्चय क्या व्यवहार (1996-प्रथम चातुर्मास)-

मुनिश्री ने कटनी में सुन रखा था कि वहाँ पर कुछ लोग कट्टर सोनगढ़ी हैं। महाराज, कभी किसी विवाद में नहीं पड़ते। आत्मकल्याण में सदा तत्पर रहते हुए अपने मन-वचन-काय से परकल्याण हेतु भी प्रयासरत रहते हैं। समाज में आई कुरीति, वैमनस्य, अशांति और असंतोष भी संत की निर्विवाद आगमसंयत वाणी से ही दूर हो जाते हैं। परकथा, परवादी एवं सुविधाभोगी धर्म के नाम पर आगम से कितना भी खिलवाड़ क्यों न कर ले ? कितने भी भेद-प्रभेद मतभेद भी उत्पन्न कर दें, शान्त निराकुल निर्मल, निर्भय सन्त की एक अमृतवाणी ही सबके मन में फैले हुए जहर को समूल बाहर कर देती है। सभी का मन संत की तरह शांत, निराकुल, निर्मल, निर्भय, निर्विवाद बना देती है। सबके मन जब शांत हो तब विपरीतता की एकाधिक लहर मतभेद पैदा भी करें तब भी मन से मन का मिलन यथावत बना रहता है। अपने-अपने मत को रखते हुये भी परस्पर एक-दूसरे के मान-सम्मान और मर्यादा की बात भी बनी रहती है।

मुनिवर के संज्ञान में उस समय प्रमुखता से यह बात आ रही थी कि दिगम्बर जैन आमनाय के अन्दर जबसे श्वेताम्बर पंथ के अनुयायी कानजी स्वामी का प्रवेश हुआ है उसी समय से कुछ लोग उनके साथ

मिलकर भगवान को तो मानते हैं, तीर्थकरों को भी मानते हैं। परन्तु आचार्य, उपाध्याय एवं मुनियों का स्वरूप चतुर्थ काल की तरह देखना चाहते हैं। साधुओं की साधना उतनी ही कष्ट साध्य जैसी की चतुर्थकाल में वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी साधुओं की हुआ करती थी बिल्कुल वैसी ही पसन्द करते हैं और स्वयं का संयम ऐसा कि शरीर को किंचित् कष्ट नहीं हो और संयमी बने रहें। घर भी न छूटे, रजाईगद्दों का उपयोग करते रहें, सर्दों में अग्नि का प्रयोग करने को मिले, भले जीवों की विराधना हो सो हो, गर्मी में कूलर, पंखे और वातानुकूलन (एयर कंडीशनर) की भरपूर सुविधा हो, चाहे जीव पंखे से कटकर चाहे पार्क में गिरकर मरें, उन्हें क्या उनके शरीर को सुविधा पूरी होनी चाहिये, बरसात कितनी तेज या मध्यम पानी का गिरना हो, सिर पर छत या छतरी जरूरी है।

नंगे पैर जमीन पर चलना तो सोच भी नहीं सकते, अन्यथा पैरों में कहीं काँटें, कंकड़, कील चुभ गई तब क्या होगा ? हाँ, साधु को कील, काँटें, कंकड़ लग भी जावे तो यह उनकी समस्या है इसमें सुविधाभोगी साधक का क्या दोष ? स्वयं को जब भी भूख लगे तो भोजन जब भी प्यास लगे तो, पीने को जल एवं नाना प्रकार के पेय पदार्थ मिलें। भले साधु को उसकी आहारचर्या के लिये एक बार निरन्तराय विधि की जरूरत हो मगर खुद के खाने-पीने से फुर्सत मिले तब तो साधु की चिंता करें। फिर सुविधाभोगी का मन बोल उठता है कि मुझे क्या पड़ी ? कोई साधु मेरी वजह से तो भूखा रह नहीं जायगा ? बहुत लोग हैं समाज में उनकी देखभाल एवं सेवा करने के लिये यदि मैं नहीं भी गया तो न तो आसमान फट जायेगा और न ही कोई पहाड़ टूट जायेगा, चुपचाप अपना काम करते रहो बाकी जो होगा देखा जायेगा।

क्रियाओं में दोष एवं क्रियाओं में ही धर्म मानने वालों की मानसिकता में भी कितना दोष भरा है यह भी देखना आवश्यक है। धर्म के बारे में कहा गया है- 'वस्तु स्वभावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का स्वभाव ही धर्म है; किन्तु स्वभाव की पहचान क्या है ? स्वभाव में वह कौन सी विशेषतायें होनी चाहिये जिसके आधार पर हम कह सकें कि यही वस्तु का स्वभाव है। जैन मनीषियों में तीर्थकरों की दिव्य देशना को उद्धृत करते हुये बताया है कि जिसके हृदय में उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आर्किचन, उत्तम ब्रह्मचर्य, दया, प्रेम, करुणा, वात्सल्य और कल्याण के गुण हैं, वह हृदय ही स्वभाव में स्थित है। स्वभाव की यह भी विशेषता है कि स्वभाव की खोज सदा अन्दर होती है बाहर नहीं। जो भी स्वभाव को बाहर खोजते हैं वह अब तक बाहर ही भटकते रहते हैं जब तक कि स्वभाव के सन्मुख अर्थात् स्वभाव में स्थित गुणों को प्रगट नहीं करते।

जैनागम में स्वभाव का ज्ञान, स्वभाव का दर्शन और स्वभाव की अनुभूति का होना ही मुक्ति है। हाँ, यह अनुभूति क्षणिक या अस्थायी नहीं बल्कि पूरी तरह स्थायी होना चाहिए। स्थायी आत्म अनुभूति ही मुक्ति है। स्थायी अनुभूति की प्राप्ति हेतु संकल्पित होना ही निश्चय है। स्थायी अनुभूति की प्राप्ति हेतु की जाने

वाली समस्त क्रियायें व्यवहार हैं। व्रत, अनुष्ठान, दान, पूजा, आरती आदि क्रियाओं को आत्मानुभूति में साधक माना जाता है। इन्हें आत्मानुभूति नहीं माना जा सकता। यह समस्त क्रियाएँ पुण्यार्जक हैं, पुण्य बन्ध में कारण हैं। किन्तु इन समस्त क्रियाओं को स्वभाव के रूप में जानना अज्ञानता है। आत्मानुभूति हेतु संकल्पित साधक की साधना दो प्रकार की होती है— बहिरंग और अन्तरंग। जहाँ साधक मन पर लगाम लगाने हेतु सांसारिक गृहस्थी की क्रियाओं के बीच दान भावपूर्वक देता है, दान में भी भाव त्याग का हो न कि मान बढ़ाने का, पूजन भी भक्तिसहित करें न कि नियम निभाने अथवा परम्परा के पालन हेतु। परोपकार में भी बदले में कुछ प्राप्ति की कामना न हो, आरती में भगवान में सोने की भावना हो तभी आत्मानुभूति को संकल्पित व्यक्ति की यह क्रियायें यथार्थ और सत्य हो पाती हैं।

यहाँ यह ध्यान रखने योग्य बात है कि व्यवहार की यह समस्त क्रियायें गृहस्थ एवं श्रावकों तक ही सीमित हैं। व्यवहार की अन्तरंग क्रियायें श्रावक करें भी तब भी उसे उन क्रियाओं का लाभ उसी प्रकार नहीं मिलता, जिस प्रकार पराई वस्तु को अपना कहने से वह अपनी नहीं हो जाती पराई ही रहती है। ठीक उसी प्रकार बाहर और अन्दर का चौबीसों प्रकार का परिग्रह का परित्याग हुये बगैर अन्तरंग व्यवहार भी नहीं पल सकता। अनशन, अवमौदर्य, व्रतपरिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन जैसे बहिरंग तप साधु और श्रावक दोनों करता है परन्तु कर्मों की निर्जरा साधु की हुआ करती है श्रावक की नहीं। अन्तरंग तप प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यानरूपी अन्तरंग तप है जिन्हें करने पर श्रावक को लोक में यश वैभव, सुख, पुण्य की प्राप्ति होती है मगर मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति तो उन्हें ही मिलती है जो संकल्पित साधक अन्तरंग और बहिरंग समस्त चौबीसों प्रकार के परिग्रह को तजकर ज्ञान ज्ञाताज्ञेय को एकाकार कर लेता है। साधक, साधना और साध्य का वह अद्भुत एकाकार करते-करते बाहर की समस्त क्रियाओं से निवृत्त रहता है। अन्तरंग में भी वह ज्ञायक, ज्ञान और ज्ञेय को एक कर लेता है तभी वह निर्विकल्प हो जाता है।

निर्विकल्प का अर्थ है स्थायी आत्मानुभूति, आत्मा की प्रतीति अथवा जिसे कहें कि आत्मा की अनुभूति करते-करते आत्मा में इस तरह खो जाना कि फिर आत्मा से बाहर आना ही नहीं रहे। किन्तु साधक की यह निर्विकल्प और कृतकृत्य स्थिति तभी आ सकती है जब वह परिग्रह के साथ-साथ स्व-पर की अनुभूति को भी तज देता है। स्व-पर से परे मात्र निजानन्द रस में डूब जाने वाले निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु की बहिरंग और अन्तरंग क्रियायें पूरी तरह शांत हो जाती हैं। मन पूरी तरह स्थिर और एकाग्र हो जाता है। इन्द्रियों की अभिलाषा समाप्त हो जाती है, व्यवहार की सारी क्रियायें मिटने के साथ ही वह संकल्प भी शेष नहीं रहता। संकल्प भी विकल्प है, मुक्ति निर्विकल्प होती है इसीलिये मुक्ति की प्राप्ति व्यवहार और निश्चय दोनों के छूटने पर होती है।

वर्तमान में निश्चय और व्यवहार के नाम पर लोग लड़ रहे हैं। एक-दूसरे के साथ गाली-गलौज के अलावा मारपीट पर उतारू हैं। क्या यही धर्म है ? क्या इसे ही निश्चय कहते हैं अथवा इसे ही व्यवहार कहा जाता है ? यह तो अविवेक है, मनमानी, दुराग्रह है। अपनी-अपनी बात मनमाने तरीके से कहना, फिर उसे बलपूर्वक मानने को बाध्य करना कोरी उच्छश्रृंखलता ही है। जो धार्मिक पथ पर कभी न तो स्वीकार की जा सकती है और न ही अपनायी जा सकती है। यह तरीका धर्म का नहीं धर्म के नाम पर अपना प्रभाव जमाने तथा धार्मिक उन्माद फैलाकर भीड़ को अपनी ओर आकर्षित करके निजी नेतागिरी चमकाना है। इससे धर्म का अपयश और अशांति में वृद्धि होती है। अच्छा और शुभ तो कभी कहा नहीं जा सकता। किसी के भी कल्याण का मार्ग भी यह नहीं हो सकता।

जो निश्चय की बात करते हैं; परन्तु निश्चय मुक्ति का नहीं केवल शारीरिक सुविधा की प्राप्ति का करते हैं वह मात्र निश्चयाभाषी हैं। इसी प्रकार जो व्यवहार की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं मगर व्यवहार में कहीं भी स्वकल्याण अथवा परकल्याण का कार्य नहीं करते। श्रावक की आवश्यकताएँ- (1) देवदर्शन नित्य करना, (2) दिन में भोजन करना एवं (3) छानकर पानी पीना जैसे प्राथमिक नियमों पर खरे नहीं उतरते वह व्यवहारभाषी हैं। जैनधर्म न तो निश्चय वालों का है न व्यवहार वालों का, न ही जैनधर्म का भला कोई निश्चयाभाषी कर सकता है न ही व्यवहारभाषी।

मुनि की विचार श्रृंखला अचानक भंग हो गयी और अपने स्वाध्याय में रत हो गये। धीरे-धीरे मुनिश्री विशदसागर के प्रवचनों में आकर्षण बढ़ने लगा। आकर्षण बढ़ा तो भीड़ भी इकट्ठी होने लगी। जब भीड़ इकट्ठी होने लगती है तब इक्के-दुक्के दुराग्रही लोगों का साहस स्वतः डोलने लगता है। यही हुआ कटनी में, कहर सोनगढ़िया कहलाने वाले मगर धर्म में रुचि रखने वाले धीरे-धीरे मुनिवर के स्वाध्याय में आना शुरू हो गये। पहले तो आकर चुपचाप बैठे तथा मुनिवर के ज्ञान को अपनी एकांगी तुला से तोलने का प्रयास करते, फिर प्रश्न पूछना भी प्रारम्भ कर दिया। अपने प्रश्नों का प्रमाण सहित सटीक समाधान पाकर निरुत्तर हो गये, उनका खोटा मान स्तम्भित होने लगा। मुनिवर ने भी उन्हें हेय दृष्टि से नहीं देखा और न ही कोई भेद आमजन से अलग उनके साथ किया। यही युक्ति मुनिवर की काम कर गई। सबको समान आशीर्वाद सबसे समान प्रेम और सभी से समान दूरी ने सभी को मुनिवर के पास कर लिया।

मुनिवर का प्रभाव, मुनिवर की सरलता, मुनिवर की सहज व्यवहारिकता, मुनिवर की स्वाभाविक कार्यशैली, मुनिवर की ओजस्वी वाणी, मुनिवर का आगमसम्मत उद्बोधन और मुनिवर के तर्क समाधान ने बहुत अधिक मात्रा में बढ़ा दिया। सोनगढ़ के नाम पर अथवा अन्य किसी पंथ या पंथी के नाम पर विरोध का स्वर पहले ही नहीं आया था, यदि कहीं गर्भ में था भी तब वह गर्भ में ही खण्डित होकर गिर गया। सकल दिगम्बर समाज कटनी एकदम, एकराय नजर आती थी। कोई भी कार्य हो किसी भी प्रकार का कार्यक्रम हो,

सभी आगे बढ़कर तन-मन-धन से सहयोग करते। मानो ऐसा लगता कि यहाँ पर समरसता की गंगा पहले से ही ऐसी प्रवाहित चल रही थी। मात्र सहयोग ही नहीं सभी मिलकर इस बात के लिये प्रयासरत रहते कि मुनिश्रेष्ठ की उपस्थिति एवं मुनिवर के ज्ञान आचरण एवं प्रभाव का अधिक से अधिक लाभ उठाया जावे। एक सरल शांत जीवनधारा अपने अविरल प्रवाह में वर्षायोग के अंत तक प्रवाहित होती रही। सभी के अन्दर नये-नये धर्म के मर्म उजागर और उद्घाटित होते रहे। अन्त में सभा का संचालन करने वाले संतकुमार की भाव विह्वलता कुछ इस तरह हुई, मुँह से शब्दों की जगह हिचकी और आँखों से आँसू निकलने लगे। जब सभा के संचालक की मनोदशा यह थी तब सभा की दशा स्वतः सोचने की बात है।

(42) मन्दिर में आकांक्षा (1997)–

भगवान और देवी-देवताओं के पास संसार के दुःखी प्राणी अपनी फरियाद लेकर पहुँचते हैं, ताकि उनके दुःख एवं परेशानियाँ समाप्त हो सकें। भगवान और देवी-देवताओं का भी विभाजन उनके वेश के आधार पर दो प्रकार से किया जा सकता है। वैसे तो सभी यही कहते हैं कि भगवान एक है, ईश्वर एक है उसके नाम व उपासना की पद्धति अलग-अलग है। किन्तु दिगम्बर जैन आम्नाय इस तर्क से असहमत है। जैन मान्यता के अनुसार जो राग-द्वेष सहित होता है तथा जिसके तन पर परिग्रह के प्रतीक वस्त्र हुआ करते हैं, वह रागी कहलाते हैं, वह भक्त हों या भगवान एक ही समान प्रवृत्ति के हैं। शक्ति की अपेक्षा शक्तिशाली भगवान और शक्तिहीन भक्त होता है। दूसरी तरफ रागद्वेष से रहित वीतरागता के पोषक परिग्रह के नाम पर तन पर भी वस्त्र धारण न कर, शुद्ध प्रकृति प्रदत्त दिगम्बर रूप के धारी वैरागी कहलाते हैं। इनमें भगवान और भक्त में अन्तर शक्ति के आधार पर नहीं, आकांक्षा के आधार पर हुआ करता है। जिसने आकांक्षा पर पूरी तरह विजय प्राप्त कर लिया वह आप्त और भगवान की श्रेणी में जा विराजता है। स्वयं का कल्याण करके जगत के कल्याण का प्रेरक होता है। हाँ, मात्र प्रेरक होता है स्वयं किसी का भला या बुरा नहीं करता। उसके पथ के अनुयायी भी वैरागी हैं मगर मुक्ति की और कल्याण की कामना से सहित हैं इसीलिये भगवान नहीं भक्त होते हैं।

जैनधर्म ही दुनिया का एक अकेला धर्म है जिसके अन्दर आत्मा को परमात्मा बनाने एवं नर से नारायण बनने की विधि बतलायी है। नर से नारायण बनने के लिये अपने अन्दर उपस्थित सांसारिक सुखों की कामना का मोह भी त्यागना पड़ता है। स्वर्गों के सुख को भी अस्थायी मानकर हेय कहा जाता है। नरक और तिर्यचगति के दुःख भी भावों में निर्मलता और सरलता लाकर काटा जा सकता है। भगवान की भक्ति आकांक्षा सहित करने पर अधिकतम देवों को प्राप्त स्वर्ग के सुख प्राप्त कराती है जिसका अन्त भी संसार परिभ्रमण है जबकि आकांक्षा से रहित की गई भक्ति संसार में तारकर मोक्ष में विराजमान कराती है। इसीलिये जैनधर्म में सदा कामना और आकांक्षा से रहित भक्ति को प्रमुखता से महत्त्व दिया गया है। साधना के मार्ग पर चलने वाले साधुगण ही इस आकांक्षा रहित भक्ति की पूर्णता को प्राप्त कर सिद्ध होते हैं।

भक्ति की ऐसी ही प्रथा का प्रसंग मुनिवर के समक्ष सन् उन्नीस सो सत्तानवे (1997) में देवरी चातुर्मास के पश्चात् आ उपस्थित हुआ। मुनिवर के सान्निध्य में गुरुवर आचार्य विरागसागर का दीक्षा दिवस भव्यता के साथ मनाया गया। इस अवसर पर एक डॉक्टर साहब ने अपने भाषण के दौरान वक्तव्य दिया कि “भगवान के मंदिर में जो आकांक्षा करता है वह घोर मिथ्यादृष्टि है।” दूसरे दिन स्वाध्याय में उपस्थित होने पर मुनिवर ने डॉक्टर साहब से कहा— आपका कल का वक्तव्य कि आकांक्षा करने वाला घोर मिथ्यादृष्टि है, गलत है। किन्तु डॉक्टर साहब और उनके साथी स्वाध्यायकर्ता नहीं माने तथा अपने कथन पर अडिग रहे। चर्चा दो-तीन दिन तक चलती रही। पूजा, आरती की पुस्तकें उठायी गयीं जिनमें भगवान की भक्ति सांसारिक सुख के साधनों की पूर्ति एवं सांसारिक दुःखों की निवृत्ति हेतु की गयी थी। बड़े शास्त्रों एवं प्रामाणिक ग्रन्थों का सहारा लिया गया जिसमें आकांक्षा सहित भक्ति स्वयंसिद्ध थी। दूसरी तरफ यह सिद्ध था कि आकांक्षा रहित भक्ति से ही मुक्ति है। अन्त में अतिचार देखे गये तब कहीं जाकर यह अस्वीकार किया गया कि मिथ्यादृष्टि नहीं दोषी है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मिथ्यादृष्टि और दोषी में अन्तर क्या है ? परिभाषा सुस्पष्ट है मिथ्यादृष्टि वह है जो “सत्य मार्ग को न जाने, न माने और न ही उस पर चले वरन् अपना एक अलग ही मार्ग निरूपित करे।” अर्थात् जिसे इस बात का ज्ञान नहीं होता कि हमारे शरीर एवं शरीर में स्थित आत्मा दो अलग-अलग द्रव्य है। शरीर जहाँ नाम एवं नो कर्मों से प्राप्त अजीव द्रव्य है वहीं आत्मा ज्ञान, दर्शन, चेतना सहित जीव द्रव्य है। परन्तु संसारी प्राणी दोनों को एक मानता है शरीर को ही आत्मा एवं आत्मा को ही शरीर मानता है। शरीर के सुख को अपना सुख एवं शरीर के दुःख को अपना दुःख मानता है। शरीर का संचालन कर्मों की प्रकृति के अनुसार होता है जिसमें हमारे भाव निमित्त बनते हैं। हमारे अन्दर उठने वाले अशुभ भाव नरक निगोद और तिर्यच गति के दुःख दिलवाते हैं। वहीं हमारे अन्दर उठने वाले अशुभ भाव नरक निगोद और तिर्यच गति के दुःख दिलवाते हैं। वहीं हमारे अन्दर उठने वाले शुभ भाव मनुष्य और देवगति के सुख दिलवाते हैं। हमारे अन्दर ही आने वाले शुद्ध भाव इन कर्मों की ही सत्ता समाप्त कर पंचम गति मोक्ष में पहुँचा देते हैं।

मोक्षरूपी पंचमगति की भावना भाकर अपने आचरण में आकांक्षाओं और सांसारिक सुख और सांसारिक भोगों की कामना को किंचित् भी स्थान न देनेवाला साधक सम्यक् दृष्टि होता है। वहीं इसके ठीक विपरीत संसार के ही अस्थायी इन्द्रियाश्रित विषयों के सुख और भोगों की आकांक्षा से कामना करने वाला सम्यक् दृष्टि नहीं होता ; किन्तु उसे मिथ्यादृष्टि भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसने सांसारिक दुःखों की तो पहचान कर ली है, सांसारिक दुःखों से निवृत्ति भी चाहता है। इतना ही नहीं वह दुःखों से निवृत्ति हेतु आराधना कर रहा है उन्हीं वीतरागी प्रभु की जिसकी आराधना संसार से पार मुक्ति की कामना हेतु की जाती

है तब बताओ उसे मिथ्यादृष्टि कैसे कह सकते हैं ? हाँ, इतना अवश्य है कि उसकी आराधना में कामना का दोष है और उसी कामना के कारण ही उसकी आराधना ही उसके मुक्ति का पथ अवरुद्ध कर रही है। कितनी भी कठिन और कठोर साधना वह क्यों न कर ले उसे प्राप्त होगा मात्र सांसारिक सुख। सांसारिक वैभव के रूप में इन्द्र का पद और चक्रवर्ती की संपदा भी प्राप्त हो जावे मगर वह सुख, वह संपदा, वह वैभव भी नश्वर है, एक दिन खो जाएगा, साथ छोड़ जाएगा।

जिस दिन इस साधक को यह समझ में आ जावेगा कि सांसारिक सुख और पारमार्थिक सुख में अन्तर है। सांसारिक सुख अस्थायी है अन्त में दुःखों का दाता है जबकि सांसारिक सुख से अलग आत्मा में आये विकारों को निकालकर आत्मा में ही सच्चे चिदानन्द सुख, चिर शांति निराकुल परिणामों की अनुभूति करना सच्चा सुख है। इसी सच्चे सुख की प्राप्ति ध्यान में उतरकर, अपने मन को भटकने से रोककर स्वभाव में केन्द्रित कर बाहरी प्रवृत्ति से परे शरीर के भी सुख एवं शरीर के दुःख से ममत्व त्याग कर मात्र आत्मा में स्थित परम शुद्ध आत्म तत्त्व की प्राप्ति हेतु अपने शुद्ध आत्मा में खो जाना। उसकी आनन्दभरी अनुभूति में रमण करना, उसे सांसारिक सुख की तरह अस्थायी न मानकर स्थिर और स्थायी अनुभूति में परिवर्तित कर लेना ही सच्चा सुख है। सच्चे सुख की यही अनुभूति जब अविरल, अविराम अनुभूति में आ जाती है उस समय साधक का शरीर भी साधक का नहीं रहता। साधक के शरीर पर कितना भी दुःख, अत्याचार या घात-प्रतिघात अथवा घोर उपसर्ग ही क्यों न किये जावें वह अपनी आत्म अनुभूति से विचलित नहीं होता। अपितु शरीर का साथ छूटते ही आत्मा मुक्तिपुरी में अवस्थित हो जाता है।

ऐसे सच्चे सुख को जब तक संसारी प्राणी सांसारिक सुख से अलग अनुभूती नहीं करेगा वह मिथ्या मार्ग को तजकर भी सन्मार्ग के मध्य ही खड़ा नजर आएगा। यही मध्य मार्ग है, मन्दिर में भगवान की आकांक्षा सहित आराधना। यह मिथ्यादृष्टि नहीं; परन्तु सम्यक्दृष्टि भी नहीं है। सम्यक्मार्ग में दोष है, परिग्रह में रहित होने के लिये प्रशस्त मुक्ति मार्ग पर आरूढ़ होने के लिये अन्ततः इस दोष से मुक्त होना ही पड़ेगा। इसीलिये हमें यह धारणा अपने मन से निकाल देना चाहिये कि मंदिर में मनौती करना पूजा विधान में सांसारिक सुखों की माँग करना अथवा दुःखों से शरीर को मुक्त रखना मिथ्यादृष्टि है। हाँ, सम्यक् मार्ग का दूषण मानकर उसी प्रकार सावधान होना चाहिये ताकि दोष दूर हो जाये एवं सम्यक् मार्ग प्रशस्त हो।

(43) श्रीफल नहीं शास्त्र समर्पण करने आये-

मुनिश्री विशदसागरजी महाराज का वर्ष 1997 का पावन वर्षायोग देवरी, मध्यप्रदेश में होना तय हुआ। वर्षायोग की भव्य एवं समारोहपूर्वक विधि-विधान से स्थापना हेतु पं. नेमिचन्द्रजी को समाज द्वारा आमंत्रित किया गया। पंडितजी आये विधि-विधान से वर्षायोग की स्थापना भी करवायी। पंडितजी निश्चयवादी

थे, साधुओं के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास उनके मन में नहीं था। एक उपेक्षा भाव से प्रत्येक साधु को देखा करते। हाँ, धार्मिक कार्य में रुचि होने से धार्मिक कार्यों को कराने अवश्य आ जाया करते थे। देवरी में भी समाज के बुलाने पर पंडितजी जरूर आये पर, महाराजश्री के प्रति उपेक्षा का व्यवहार वही रखा।

समाज के लोगों ने बार-बार पंडितजी से महाराजश्री के चरणों में श्रीफल भेंट करने को कहा; परन्तु पंडितजी की उपेक्षा ने इसके लिये अनुमति नहीं दी। मान के रथ पर आरूढ़ रहे। महाराजश्री की नजर में भी पंडितजी की उपेक्षा छिपी नहीं रही। पहले तो महाराजश्री ने घटना को सामान्य ढंग से लिया; परन्तु बार-बार पंडितजी के हावभाव से वह समझ गये कि जरूर कुछ बड़ी बात है। अवश्य ही पंडितजी जैसे विद्वान को सही मार्ग पर लाना पड़ेगा। परन्तु कैसे, यही सोच महाराजश्री के अन्दर उठ रही थी, परन्तु महाराज ने सब समय पर छोड़ दिया।

वर्षायोग चल रहा था, एक बार महाराज ने सोनगढ़ से प्रकाशित पुस्तक अलमारी में रखी देखी। एक लड़के ने वह पुस्तक उठाकर महाराजश्री के पास रख दी। महाराज ने सोचा- सोनगढ़ की पुस्तक का यहाँ क्या काम है? यह तो किसी सोनगढ़ वाले के पास ही होनी चाहिये। पंडितजी से बेहतर पात्र इस पुस्तक को लेने वाला और कौन हो सकता है? बस, पुस्तक पंडितजी के पास उसी लड़के के हाथ भेज दी। पुस्तक लड़का पंडितजी को देकर आ गया। रातभर पंडित नेमिचन्द जागते रहे, आज तो उन्हें नींद आ ही नहीं रही थी। बार-बार यही विचार दिमाग में बिजली की भाँति क्रौंध रहा था कि जिन महाराजश्री को मैंने श्रीफल भी भेंट नहीं किया, उन्होंने मुझे पुस्तक भेंट की आखिर कोई बात तो अवश्य होगी।

पंडितजी की पूरी रात्रि इसी ऊहापोह में व्यतीत हो गयी। ब्रह्ममुहूर्त में जब पंडितजी ने मन ही मन एक दृढ़ निश्चय किया तभी उन पर निद्रा प्रभावी होगी। सवेरा हुआ तो सचमुच पंडितजी के जीवन में एक नया प्रकाश लेकर आया। पंडितजी ने आते ही संचालक संजयकुमार से कहा- हम महाराजश्री को शास्त्र भेंट करना चाहते हैं, आप महाराजश्री को शास्त्र भेंट कराइये। समस्त समाज आश्चर्य से सरावोर जो पंडितजी महाराज को श्रीफल भी भेंट नहीं करना चाहते थे, वही देखो कितनी श्रद्धा एवं समर्पण भाव से शास्त्र भेंट कर रहे हैं। शास्त्र भेंट करने के साथ ही अब तो पंडितजी नियमित शास्त्र प्रवचन में आने लगे तथा स्वाध्याय एवं तत्त्वचर्या भी करने लगे।

यही स्थिति थी पथरिया वाले रमेशचन्द की। हर समय केवल आत्मा की चर्चा करते। मुनिश्री के पास आकर भी आत्मा की चर्चा करने से नहीं चूके। महाराज ने बड़े शांत भाव से पहले रमेशचन्द की पूरी आत्मा से परिपूर्ण चर्चा ध्यान से सुनी, फिर एक-एक कर सारी चर्चा का इस प्रकार उत्तर दिया कि रमेशचन्दजी निरुत्तर रह गये। अन्त में उन्होंने मुनिवर के श्री चरणों में विनम्रतापूर्वक प्रणाम करते हुये अनुरोध किया, मेरे लिये कल्याण का मार्ग बतलाइये। मुनि महाराज ने कहा- ब्रती बनाना एवं नियमों का परिपालन करना ही

गृहस्थ जीवन का श्रेष्ठ उपक्रम है। रमेशचन्द्र उस समय तो व्रत धारण नहीं कर सके; किन्तु 3-4 वर्षों बाद कुण्डलपुर में आकर मुनिश्री के चरणों में श्रीफल अर्पित किया, दो प्रतिमा भी ग्रहण की।

इसी प्रकार जबलपुरवासी ज्ञानचन्द्रजी निश्चयवादी सोनगढ़ भक्त थे। सदा आत्मा, आत्मा की चर्चा करते थे। मुनिवर के पास आये तो वहाँ पर भी आत्मा से ही चर्चा शुरू कर दी। मुनिवर भी पूरी गंभीरता से उनकी पूरी बात चुपचाप बगैर टोके सुनते रहे। जब ज्ञानचन्द्रजी की ज्ञान की बातें पूरी हुयीं तब मुनिवर ने मंद-मंद मुस्कराते हुये कहा- ज्ञानचन्द्रजी आत्मा के ज्ञान की बातें तो सभी करते हैं, बातें साधारण ही नहीं बहुत असाधारण भी करते हैं परन्तु उन ज्ञानियों को आत्मा की कितनी अनुभूति होती है, आप बतायेंगे ?

मुनिवर के प्रश्न का उत्तर देने के लिये ज्ञानचन्द्रजी मानो तैयार ही बैठे थे, तपाक से बोले- हाँ, महाराज मैं बताता हूँ कि ज्ञान की बातें करने वालों को कितनी अनुभूति होती है, एक बच्चा जब पढ़ना प्रारम्भ करता है तो वह जितना-जितना पढ़ता जाता है उतनी-उतनी उसकी ज्ञान की वृद्धि होती जाती है। ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ उनके अन्दर जो ज्ञान हुआ उसकी भी अनुभूति होती जाती है। इसी प्रकार आत्मा के ज्ञान के साथ अनुभूति स्वतः होती जाती है।

मुनिवर ने कहा- ज्ञानचन्द्रजी अपनी बात को और भी उदाहरण से स्पष्ट करेंगे, ज्ञानचन्द्र ने हाँ में सिर हिलाते हुये कहा- हम जितनी भी वस्तुयें देखते हैं, उनका ज्ञान हमें बचपन से क्रमशः होता जाता है, एक-एक वस्तु का हमें ज्ञान होता है, जिस वस्तु का हम ज्ञान कर लेते हैं, उसकी अनुभूति भी हमें ज्ञान के साथ स्वतः प्राप्त हो जाती है। मानलो हमने जब पहले-पहले जिस वस्तु या व्यक्ति को देखा उसके बारे में हमने जानकारी की एवं जानकारी होते ही हमें उस वस्तु या व्यक्ति के बारे में अनुभूति भी आ गयी।

मुनिवर ने मुस्कराते हुये कहा- तब तो ज्ञानचन्द्रजी श्रुतकेवली से अधिक ज्ञान की चर्चा कौन कर सकता है ? समस्त श्रुतकेवली मात्र चर्चा ही नहीं करते, उन्हें सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञान भी होता है; परन्तु वह मोक्ष को प्राप्त क्यों नहीं हो जाते ?

ज्ञानचन्द्र ने कहा- महाराज, वह ज्ञान में परिपक्व हैं, मगर उनके भाव तो ज्ञान के अनुरूप नहीं हो सके, इसीलिये मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सके।

पुनः मुनिवर ने पूछा कि आपके कहने का मतलब है ज्ञानचन्द्रजी की ज्ञान के साथ भाव भी हो जावे तो आत्मा की अनुभूति पूर्ण हो जाती है। तप, त्याग, ध्यान, साधना की आवश्यकता नहीं है।

ज्ञानचन्द्र ने कहा-मैंने ये तो नहीं कहा कि तप, त्याग, ध्यान, साधना की जरूरत नहीं, इसके बगैर

तो ज्ञान निखर नहीं सकता। तुरन्त मुनिवर ने कहा; परन्तु दो बातें विरोधी होते हुए एक साथ संभव कैसे हो सकती हैं ? एक तरफ ज्ञान को तप से निखारना, दूसरी तरफ ज्ञान के साथ ही आत्मा की अनुभूति स्वतः प्राप्त हो जाना।

अब ज्ञानचन्दजी के पास मुनिवर के प्रश्न का उत्तर ही नहीं बचा था सो सिर नीचा कर चुपचाप बैठ गये। तब मुनिवर ने कहा— बच्चा भी पढ़कर बगैर परीक्षा दिये कक्षा में उत्तीर्ण नहीं होते। तब बगैर तप में निखरे ज्ञान मात्र से आत्मा की अनुभूति संभव नहीं है। ज्ञान हम कितना भी कर लें, ज्ञान मात्र अनुभूति का कारण नहीं हो सकता। भावों का ज्ञान के अनुरूप होना भी मुक्ति प्रदाता नहीं है। भावों के साथ शरीर को भी तपरूपी अग्नि में तपाना पड़ता है। भावों की एकाग्रता जब स्थिर हो जाती है तब अनुभूति आना आरम्भ होती है। अनुभूति बाहर से नहीं अन्दर से आती है एवं अनुभूति परिग्रह सहित नहीं परिग्रह रहित होने पर ही प्रारम्भ होती है।

ज्ञानचन्दजी जिस ज्ञान की बात आप कर रहे हैं वह ज्ञान भी मन और इन्द्रियों के माध्यम से होने के कारण पराश्रित है। आत्मिक ज्ञान स्वाश्रित होता है। पराश्रित ज्ञान क्रमशः होता है, आत्मीय ज्ञान युगपत् होता है। पराश्रित ज्ञान से स्वाश्रितपने की अनुभूति उसी तरह नहीं हो सकती। जैसे एक नौकर स्वामीपने की अनुभूति नहीं कर सकता। हाँ, नौकर प्रयास करे तो धीरे-धीरे पुरुषार्थ करते-करते स्वामी बन सकता है; परन्तु स्वामी जो भी होता है वह अपनी ही वस्तु का होता है, परायी वस्तु का नहीं होता।

हम भी अपने आत्मा के स्वामी हैं, इस शरीर के नहीं, शरीर तो पर है। पर का समीप रखना एवं पर को अपना मानना ही परिग्रह है। इसी परिग्रह अर्थात् परायी वस्तु या व्यक्ति से जब तक मोह मिट नहीं जाता तब तक हम इस पर वस्तु अर्थात् शरीर के सुख-दुःख की अनुभूति को ही अपनी अनुभूति मानते हैं।

यही मूल में भूल है ज्ञानचन्दजी कुछ बात समझ में आई ? ज्ञानचन्दजी का अब तक लौकिक ज्ञान कपूर की तरह काफूर हो चुका था। सारी अनुभूति शून्य हो चुकी थी। अब तो मुनिवर का कहा गया — एक-एक शब्द अन्तर में उतर रहा था। पुनः गुरुवर ने मंद मुस्कान चेहरे पर लाते हुये पूछ लिया— हाँ, ज्ञानचन्दजी बतलाओ। ज्ञान और अनुभूति परिग्रह सहित चाहिये अथवा मेरी तरह परिग्रह त्याग कर अपने अन्दर स्थित आत्मा का ज्ञान और अनुभूति प्राप्त करोगे ?

ज्ञानचन्द के लौकिक ज्ञान का पर्दा गिर चुका था। सच्चे ज्ञान की अनुभूति गुरुवर के दिखाये सन्मार्ग में झलक उठी थी। अब तो ज्ञानचन्द का अन्तर्मन उसी ज्ञान की अनुभूति की सुगंध में महकने को आतुर हो गया। तुरन्त मुनिवर के चरणों में साष्टांग नमन कर परिग्रह और विषय-वासनाओं पर नियंत्रण हेतु दो प्रतिमायें दर्शन एवं व्रत प्रतिमा ग्रहण की। गुरुवर का अन्तर्मन भी एक भव्य आत्मा के मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर उन्मुख होने से पुलकित हो गया।

परन्तु पूरी सौम्यता एवं गंभीरता से ज्ञानचन्द को प्रतिमायें देते हुये मुनिवर ने शुभाशीर्वाद देते हुये कहा- कल्याणमस्तु ! आगे से ज्ञानचन्दजी अपने नाम को अवश्य सार्थक करना, ज्ञान में चन्द्रमा सम शीतल किरणें लिये ज्ञान रश्मियाँ इस तरह बिखेरना कि जिसकी शीतलता भरे प्रकाश के आलोक में स्वयं का तो कल्याण हो सके, साथ ही जगत के कल्याण में भी कारण भूत बन सके। उपस्थित व्यक्ति भी महाराज के इस प्रकार सुबह के भूले को सांझ वापिस घर लाते देख पुलक कर जय-जयकार कर उठे।

(44) दया दिख ही जाती है मृत्यु के भी मुँह में-

दुनिया में बहुत से जीव हैं जो कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनकी मदद करने के लिये भी दुनिया में बहुत से व्यक्ति एवं संस्था मदद करने के आगे आते रहते हैं। किसी की मदद करने में वही आगे आ सकता है जिसके अन्दर दूसरे का दर्द देखकर स्वयं दर्द की अनुभूति होती है। दर्द की अनुभूति किसी को भी उस तरह होना संभव तो नहीं जिस अनुभूति को स्वयं दर्द भोगने वाला महसूस करता है; परन्तु जिसके हृदय में दया का भाव होता है उसके अन्दर दूसरे की पीड़ा की झलक ही जाती है। इसी झलक की रोशनी में वह आगे बढ़कर दुःखी हृदय प्राणी के आँसू पोंछने का सद्प्रयास करता है। आँसू ही नहीं उसके अन्दर व्याप्त वेदना को बदलने को प्रयासरत रहता है।

सन् 1997 में आचार्यश्री विरागसागरजी ससंघ कुण्डलपुर की ओर विहार कर रहे थे, रास्ते में रात्रि होने पर रुके। समस्त साधु संघ को घास बिछायी जा रही थी ताकि लेटने में सुविधा रहे। मुनि विशदसागरजी लेटने में घास का भी प्रयोग नहीं करते थे। एक स्थान पर खाली जगह पड़ी थी। मुनिवर ने उसी जगह को अपने शयन के योग्य माना एवं उसी स्थान पर आ गये। अचानक घास में एक बिच्छू देखते ही सोचा कि कहीं कोई श्रावक इसका घात न करे। इसीलिये पिच्छी की डंडी से निडरता से दबा लिया एवं इशारा करके उस बिच्छू को बाहर बगैर क्षति पहुँचाये छुड़वा दिया। लोग डर रहे थे कि बिच्छू जहरीला है, छोड़ने पर किसी को भी काट लेगा तब महाराज ने कहा- जिसका अशुभ कर्म का उदय होता उसे अभी भी काट लेता; किन्तु जब अशुभ कर्म का उदय किसी का नहीं तब बिच्छू का भी अशुभ कर्म लाने वाले हम कौन होते हैं ? हम तो सभी जीवों पर दया करने वाले हैं, मारने वाले नहीं। स्वयं मारने वाले बिच्छू ने दया दिखायी, अब हम दया धरने वाले बिच्छू को कैसे मार सकते हैं ? बिच्छू को बाहर बर्तन में ले जाकर सुरक्षित छोड़ दिया गया।

(45) मनुष्य मरकर पुनः मनुष्य ही हो आवश्यक नहीं-

धर्म में आगम के मतानुसार कर्मों के संयोग से जीव चार गतियों की चौरासी लाख योनियों में से किसी भी योनि में जन्म ले सकता है। मनुष्य गति में मनुष्य योनि भी चौरासी लाख योनियों में से एक है। जिसे प्राप्त

करना जीव को महादुर्लभ है; क्योंकि मनुष्य योनि ही वह चौराहा है जहाँ से मनुष्य चारों गतियों में से किसी भी गति मनुष्य, तिर्यच, देव या नारकी में उत्पन्न हो सकता है। इससे भी बड़ी बात है कि मनुष्य चाहे तो चारों गतियों के चक्कर को तोड़कर पंचमगति मोक्ष को प्राप्त कर सकता है

इस पंच परावर्तन करते हुये जीव की पाँचों प्रकार के परिवर्तन कराने वाली अनन्त यात्रा अनादिकाल से चल रही है। अनेकों बार जीव ने पंच परावर्तन कर भव-भव में दुःख उठाये मगर पर्याय को मोह त्याग, नहीं पाया इसीलिये सुखाभास को सुख मान दुःखों के लाल-लाल अंगारों पर चल रहा है। सत्य जानते हुए भी सत्य को स्वीकार नहीं करता, मिथ्या मान्यताओं के मकड़जाल में उलझा हुआ स्वयं को दुःखी कर रहा है। ऐसी ही मिथ्या मान्यता का प्रसंग गुरुवर विशदसागर के समक्ष आया।

घटना : सन् 1997 की है- देवरी, मध्यप्रदेश में मुनिवर का वर्षायोग चल रहा था। प्रवचन के साथ-साथ चलने वाले स्वाध्याय में विभिन्न विषयों पर चलने वाली कक्षाओं में लोग बहुत रुचि ले रहे थे। आगम और आध्यात्म के साथ-साथ वर्तमान विषयों पर भी रुचिपूर्ण चर्चा ने जैनों के साथ अजैनों को भी जबर्दस्त आकर्षण पैदा कर दिया था। इसीलिये प्रवचन एवं स्वाध्याय में भारी भीड़ जुड़ने लगी थी।

एक बार विद्यालय में अध्यापकों के बीच भी धर्मचर्चा चल पड़ी। एक अध्यापक ने वहाँ उपस्थित जैन अध्यापिका से कहा- आपके मुनि महाराज कहते हैं जो अच्छा करेगा वह मरकर स्वर्ग जाएगा, बुरा करेगा वह मरकर नरक जायेगा। क्या वास्तव में स्वर्ग-नरक होते भी हैं ? मानव मरकर पशु या देव कैसे बन सकता है ? मानव मरेगा तो मानव ही बनेगा, पशु मरकर पशु ही होता है। जैसे गेहूँ बोने पर गेहूँ, ज्वार बोने पर ज्वार, मक्का बोने पर मक्का ही पैदा होता है।

अध्यापिका चन्दाबाई को उतना आध्यात्मिक एवं आगम का ज्ञान नहीं था सो निरुत्तर हो गयी, कुछ नहीं कह सकी। हाँ, वह यह सभी प्रश्न लेकर मुनिवर विशदसागर के पास अवश्य पहुँच गयी; क्योंकि उन्हें मुनिवर के ज्ञान और तर्कशक्ति पर पूर्ण विश्वास था कि वह इस चर्चा का अवश्य युक्तियुक्त समाधान करेंगे।

मुनिवर ने कहा- आपने बिल्कुल ठीक कहा कि गेहूँ बोने पर गेहूँ, ज्वार बोने पर ज्वार, मक्का बोने पर मक्का, चना बोने पर चना ही उत्पन्न होता है। परन्तु उसी खेत में गेहूँ की जगह चना बोयें तो चना ही उत्पन्न होगा, गेहूँ नहीं, चना की जगह गेहूँ बोयें तब चना उत्पन्न नहीं होगा। गेहूँ ही उत्पन्न होगा, इसी प्रकार खेत में एक बार जो फसल बोयी जाय हर बार वही फसल उत्पन्न नहीं होती। खेत या जमीन वही रहती है; परन्तु बीज जब बदल जाता है तब उपज भी बदल जाती है।

जिस खेत में गेहूँ बोया था, गेहूँ की फसल आ गयी थी, अब उसमें जब पुनः गेहूँ बोयेंगे तभी गेहूँ उत्पन्न होगा, अन्यथा जो बोया जाएगा वही उत्पन्न होगा। इसी प्रकार मनुष्य की संतान मनुष्य होती है, पशु की संतान पशु होती है। देवों की संतान देव एवं नारकियों की संतान नारकी ही होते हैं।

किन्तु यह आवश्यक नहीं कि मनुष्य मरकर मनुष्य ही होगा, पशु मरेगा तब मरकर पशु ही बनेगा, देव आयु पूर्ण करेगा तब देव एवं नारकी आयु पूर्ण करेगा तब नारकी अवश्य होगा। यह तो उसके कर्मों का फल है, कब किस गति में जाना है यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके भाव किस प्रकार के हैं; क्योंकि शुभ भावों से शुभ बन्ध एवं अशुभ भावों से अशुभ बंध होता है। जैसा कर्मों का बन्ध जीव करता है वैसा ही गति का उदय जीव का हुआ करता है।

मनुष्य गति में उत्पन्न जीव पुनः मनुष्य हो, यह आवश्यक नहीं; परन्तु यदि जीव पुनः मनुष्य गति का ही बंध करता है, तब मनुष्य ही होगा। पशु, नारकी या देव नहीं होगा। इसी प्रकार देव भी देवगति में तब उत्पन्न होता है जब वह देवगति का बंध करें; परन्तु देव स्वयं कभी देवगति का बंध कर ही नहीं सकते हैं इसीलिये देव मरकर मनुष्य हो सकते हैं, पशु भी हो सकते हैं; परन्तु देव नहीं हो सकते। देवगति में अन्य गति मनुष्य गति या पशुगति से आने वाली जीव ही देव गति प्राप्त कर सकता है। यही स्थिति नरक गति एवं तिर्यच गति की है। मतलब स्पष्ट है शायद आप समझ गये होंगे।

पुनः गुरुवर ने कहा— नहीं समझे ! तो सुनो मनुष्यगति में उत्पन्न जीव यदि मनुष्य गति का बंध नहीं करता तब वह मरकर मनुष्य नहीं बनेगा। देव, नारकी या पशु ही बनेगा बिल्कुल वैसे ही जैसे गेहूँ बोये गये खेत में पुनः गेहूँ बोया जाय तब ही पुनः गेहूँ उत्पन्न होगा अन्यथा अन्य जो भी बीज बोया जाएगा वह उत्पन्न होगा गेहूँ नहीं।

बात चाहे जीव की हो या बीज की हो, दोनों ही उसी स्थान पर पुनः उत्पन्न तभी होंगे जब उनका वहाँ उत्पन्न होने का बंध अथवा (जीव है तो गति बंध, बीज है तो आरोपण) आरोपण पुनः हों। अन्यथा गति और खेत वही रहते हैं; परन्तु जीव और बीज दोनों ही बदल जाते हैं।

मनुष्य से मनुष्य उत्पन्न होता है, यही सत्य है पिता के वीर्य एवं माँ के रज के संयोग से ही मनुष्य पर्याय में जन्म होता है; परन्तु यह भी सत्य है कि इस स्थिति में भी माँ के गर्भ में वही जीव आयेगा जो मनुष्य गति का बंध करेगा। फिर चाहे वह वर्तमान में देवगति में हो या पशुगति में अथवा नरक गति में; परन्तु किसी भी गति का जीव मनुष्य गति का बंध करने पर ही मनुष्य होता है अथवा अन्य गति में जाता है।

इसका आशय है कि मनुष्य, मनुष्य ही मरकर बने आवश्यक नहीं, गेहूँ के खेत में गेहूँ ही पुनः बोया जाय आवश्यक नहीं जो बोया जाएगा वही पैदा होगा। अर्थात् जीव की गति बदलती रहती है एवं खेत का बीज भी बदलता रहता है, यह चिरस्थायी सत्य है।

(46) सब्बल पर संबल भारी-

कहते हैं-

**तोप तलवार और बन्दूक, निशाना इनका भी जायगा चूक।
सम्यक् रत्नत्रय की लो धोक, मुक्ति का मार्ग मिल जाय चूक।।**

साधक जब साधना में लीन होता है। बाहर से पूरी तरह उसका सम्पर्क कट जाता है। साधक को साधारण मानव की तरह न तन का मोह होता है और न ही तन पर होने वाली क्रियाओं का। साधना में लीन होने का अर्थ- साधन = स+साधन अर्थात् स्वयमेव + आराधन, जहाँ पर स्वयमेव ही आराधना होने लगे उसे ही साधना कहते हैं। पूज्य आचार्य भगवन्त शुभचन्द्राचार्य लिखित महान् योग और साधना ग्रंथ ज्ञानार्णव में कहा गया है कि साधक को साधना में उतरने से पूर्व इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण आवश्यक है। चौबीसों घण्टे मानव घर-गृहस्थी की हाय-हाय में लगा रहता है। पलभर भी विश्राम नहीं लेना चाहता। जिस पेट की खातिर धन कमाने का बहाना बनाता है उस पेट को भरते समय भी दिमाग को शांत नहीं रखता, दौड़ाता रहता है। स्मृति ताजा करता रहता है, अमुक से इतना रुपया चाहिये, अमुक को रुपया उधार दिये इतना समय गुजर गया, इतने मूलधन पर इतना ब्याज लगने से इतना कुल धन चाहिये। इतना धन कैसे वसूला जाय ? फला आदमी ईमानदार है, स्वयं आकर रुपये दे जाएगा। यदि नहीं आया तो सोचना पड़ेगा। फलां-फलां आदमी बेईमान है, रुपया एठकर ले जाता है, लेते वक्त तमाम तरह की मान-मनुहार एवं कसमें-वादे करता है। तमाम तरह की झूठी बातें गढ़कर स्वयं को सबसे ईमानदार सिद्ध करता है; परन्तु जब देने की बारी आती है तब पहले तो मिलता ही नहीं, घर पर कई बार दस्तक दो या नौकरों से बुलावा भेजो मगर घर पर मौजूद औरतों को ही झूठ बोलना सिखा देता है, औरतें भी बेईमानी के काम में बहुत चतुराई दिखलाती हैं। मर्द घर पर होते हुये भी बड़ी सफाई से बाहर होने की बात कहती है। मजबूरी में दस्तक देने वाला वापिस आ जाता है।

खाना खाते समय जब मन को इधर-उधर दौड़ाया जाता है तब बताओ वह खाना सही ढंग से पचेगा अथवा हमारी पाचन प्रणाली को ही बेकार और बेजार कर देगा। पाचन क्रिया खराब हुई नहीं कि वात-पित्त-कफ की सैकड़ों बीमारियाँ कब्जियत के कारण पैदा हो जाती हैं। एक बीमार इंसान से हम स्वस्थ सोच की अपेक्षा भी कैसे कर सकते हैं ? जब देखो तब बीमारी के दुःख को रोता रहता है। आर्त ध्यान कर करके स्वयं तो दुःखी होता है, घरवालों को भी दुःखी करता रहता है। खुद की पीड़ा बढ़ जाय या घर परिवार वाले उसकी बात सुनने में जरा सा विलम्ब कर दें तब तो सारा घर रौद्र ध्यान करके आसमान पर उठा लेता है। क्रोध में वचन वर्णायें भी इतनी बुरी निकालता है कि घर का वातावरण पूरी तरह अशांत एवं दूषित हो जाता है। घर के सदस्यों में अपनी इसी आदतों के कारण अप्रिय और उपेक्षा का कारण बन जाता है।

एक उपेक्षित व्यक्ति जिसका मन स्वस्थ दशा में खाते, पीते, सोते, जागते, बैठते, उठते हर क्षण केवल धन और परिग्रह की लालसा में व्यस्त और मस्त रहा हो उपेक्षित अवस्था में वह मन स्थिर नहीं कर पाता। अस्वस्थ है कहीं चल फिर नहीं सकता फिर भी बैठे-बैठे न जाने कितनों के किस-किस प्रकार से अहित कर स्वयं का हित साधने के उपाय सोचता रहता है। स्वयं का हित तो कर नहीं पाता। हाँ, पर के अहित के परिणाम कर कर्म का तीव्र बंध कर लेता है। सो जो दुःख वर्तमान पर्याय में उठा रहा है उससे अनन्त गुना दुःख भोगने हेतु अगली पर्यायों में जन्म लेता है।

जीवन के इसी सत्य को जो मानव स्वीकार कर लेता है वह घर-गृहस्थी के काम भी करता है, धन का उपार्जन करता है। घर में परिवार संचालन हो, कमाई का उपाय हो, हर जगह न्याय, नीति और ईमानदारी को अपना आधार बनाता है। सभी कामों में विवेक का प्रयोग करता है। जब जिस काम को करता है मन को पूरी तरह उसी काम में स्थिर करता है। खाने के समय खाने में ही मन स्थिर करने से खाना रुचिकर लगता है। खाना रुचिकर लगता है तब ढंग से पच जाता है। ढंग से पचा हुआ खाना पुरानी कब्जियत तो हटाता ही है शरीर में बल, वीर्य की वृद्धि भी करता है। बल और वीर्य की वृद्धि से सोचने, समझने, चिंतन करने की शक्ति बढ़ जाती है। जिसकी चिंतन-मनन की शक्ति बढ़ जाती है, वह धीरे-धीरे घर, गृहस्थी, परिवार, धन, कमाई, नाते, रिश्तों से अलग हटकर भी सोचने लगता है। व्यक्ति की यही सोच उसका नवीन मार्ग प्रशस्त करती है।

व्यक्ति का यही नवीन मार्ग व्यक्ति के मन को संसार में भटकने से रोकने लगता है। अब व्यक्ति को आपाधापी और भाग-दौड़ अच्छी नहीं लगती। उसे लगता है कि वह जीवन में शरीर और संबंधियों के लिये अपना सुख-दुःख भूलकर सब कुछ करते-करते थक गया है। थकान की यही मनोदशा अब उसे वह उपाय सोचने की बात सोचने को मजबूर करती है कि सांसारिक सुख अस्थायी है, संसारी नाते रिश्ते भी अस्थायी हैं। सब कुछ स्थायी हो जाय ऐसा भी हो सकता है। इसी सोच को लिये वह कभी इधर कभी उधर तलाशना शुरू करता है। कभी इस देवता कभी उस देवता के दरबार में हाजरी लगाता है। मगर शांति और सुख का सही रास्ता नहीं मिलता।

अचानक ही उसे सद्गुरु की वाणी कानों में पड़ती है। मंदिर में माथा टेकते हुए मुनि महाराज के मधुर शब्द उसके कानों में टकराते हैं "हे भव्य प्राणी ! तू अपने अन्दर स्थित सुख और शांति को बाहर खोज रहा है, वह कभी नहीं मिलेगी। क्यों कस्तूरी मृग की तरह बाहर उस सुगंध को खोज रहा है जो सुगंध स्वयं कस्तूरी मृग की नासिका में मौजूद है; परन्तु कस्तूरी मृग को अपनी ही नासिका में मौजूद सुगंध का ज्ञान न होने से बाहर खोजता है और हमेशा परेशान और दुःखी रहता है। परिणाम भी आकुल-व्याकुल करता है, बिल्कुल कस्तूरी मृग की तरह तू अपने अन्दर भरे अनन्त सुख और अक्षय शांति को बाहर मत खोज, वह

तेरे अन्दर ही है, तेरे अन्दर ही तू उसे खोज, तुझे वह तेरे अन्दर ही प्राप्त हो जाएगी। मेरी भटकन भी समाप्त होगी तथा परिणामों की व्याकुलता भी मिट जाएगी।”

मुनिवर की मधुर वाणी ने भटकते इंसान के कदम आगे बढ़ने से रोक लिये। मन में एक अंजानी सी शांति छा गयी। शांति छायी तो परिणामों में भी स्थिरता आ गयी। धीरे-धीरे उस व्यक्ति के कदम खुद-ब-खुद बढ़ते हुए मुनि महाराज के श्री चरणों तक पहुँच गये। पूरी भक्तिभाव से उसने जीवन का सत्य बताने वाले और सांसारिक दुःखों से मुक्ति का मार्ग बताने वाले गुरुवर का नमन, वंदन, अभिनंदन किया तथा गुरुवर के श्रीमुख से निकल रही अमृतवाणी का रसपान करने लगा। मुनिवर को अमृतवाणी जब विश्रांत हुई तब तक उस व्यक्ति की अशांति भी शांत हो गई, आकुलता-व्याकुलता भी मिट गयी। उत्थान का एक नया मार्ग खुल गया, उन्नति का नवीन पथ प्रशस्त हो गया। वह भी संसार की भीड़ में नहीं, संसार की भीड़ से हटकर स्वयं में खोजने का मार्ग प्रशस्त हो गया।

चल पड़ा पथिक स्वयं की खोज में, जो दिन-रात पैसा, पैसा, पैसा के ध्यान में डूबा रहता था। अब वह घर-गृहस्थी के प्रति मूर्च्छा भाव से रहित हो गया। घर से अधिक आत्मा की रुचि जागृत हो गयी। कमाई से अधिक उसका मन पूजा, पाठ, जप, तप, ध्यान में रहने लगा। अब तो स्थिति यहाँ तक आ गई कि कोई उसका मजाक उड़ाता तब भी हँसकर रह जाता। यदि कोई उस पर गाली-गलौज भी करता तब भी मुस्कराता रहता। हालत यहाँ तक आ गयी कि अब तो यदि कोई उसे ध्यान के समय विघ्न भी उपस्थित करता है तब भी वह शांत रहकर ध्यान भग्न नहीं होने देता। धर्म का मर्म समझने वाले उस पथिक के जीवन की धारा ही धर्ममय हो गई। हर समय धर्मध्यान में डूबा रहता। लगता था कि उपसर्ग भी किया जाय या हथियारों का भय दिखाया जाय मगर वह ध्यान से विचलित नहीं होगा।

एक साधारण व्यक्ति पर धर्म का रंग चढ़ता है तब वह दुनिया से दूर स्वयं में समा जाता है। बाहरी बाधाएँ चाहे वह परिस्थियाँ पैदा करें या प्राणी उसमें भय पैदा कर उसमें आये धर्म के सम्बल से च्युत नहीं कर पाते। जब एक गृहस्थ व्यक्ति के अन्दर धर्म के कारण इतना परिवर्तन आ जाता है तब एक साधु से इसके विपरीत आचरण की अपेक्षा कैसे की जा सकती है। मुनिवर विशदसागरजी के साथ भी यही हुआ, सन् 1998 में पाटन विहार के समय। मुनिवर का शीतकालीन प्रवास पाटन, जिला-जबलपुर में हुआ उस समय क्षुल्लक विनिश्चलसागर भी साथ थे। प्रातः शौच क्रिया के लिये साथ-साथ जाया करते थे। एक बार एक ब्राह्मण ने मुनि महाराज, क्षुल्लकजी के साथ श्रावकों को चलते देखा, ठण्ड का समय था सो ब्राह्मण ने सोचा- ये साधु इस ठण्ड में इस तरह घूम रहे हैं शायद कपड़ों की कमी होगी सो साथ चल रहे लोगों से बोले- इन्हें नंगा क्यों घुमाते हो, कपड़े क्यों नहीं देते ? कमीज वगैरह दे देना पहनने को। लोगों ने अज्ञानी समझकर कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ दिन बाद पुनः महाराजश्री उसी के दरवाजे से

निकले तो वह महाराज को देखते ही चिल्लाया- क्यों रे, तुम लोगों ने सुना नहीं इनको यहाँ से नंगा मत ले जाया करो।

साथी लोगों ने कहा- यह तो यूँ ही रहते हैं, यही उनका वेश है, वस्त्रों को यह परिग्रह मानते हैं सो वस्त्रों को परित्याग कर प्राकृतिक रूप जो प्रकृति ने स्वयं सबको प्रदान किया है, दिगम्बरत्व के रूप में रहते हैं। किन्तु दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति पर जब मूर्खता सवार हो जाती है तब उसका विवेक पलायन कर जाता है। यह हालत थी उस ब्राह्मण की। दुष्ट ब्राह्मण ने चिल्लाते हुये कहा- तुम लोगों ने सुना नहीं इनको यहाँ से कभी भी नंगा मत ले जाया करो। अगर पुनः यहाँ से नंगा ले गये तो सब्बल मार दूँगा। इतना कहकर वह सचमुच अन्दर भागा ताकि अन्दर से लाकर मुनिवर पर सब्बल से प्रहार कर सके; किन्तु उसके बाहर आने से पहले ही मुनिवर अपनी पूर्ववत् धीर-वीर-गंभीर गति से यथावत् चलते हुये काफी आगे निकल गये। लोगों ने घटना को गंभीर मानते हुए समाज के समक्ष रखा, समाज ने मिलकर उसकी रिपोर्ट कर दी, थानेदार ने उसे बन्द कर दिया।

रिपोर्ट और ब्राह्मण के बन्द होने की चर्चा मुनिवर के पास पहुँच गयी। तब मुनिवर ने समाज वालों से कहा यह गलत हुआ। इस तरह नहीं करना चाहिये। हमारे कारण किसी को कष्ट हो, दुःख पहुँचे यह तो उचित नहीं। ब्राह्मण को कैद से मुक्त करो अन्यथा हम प्रायश्चित्त लेंगे। मुनिराज की चेतावनी घर कर गयी। भयभीत लोगों में ब्राह्मण को छुड़ाने का प्रयास होने लगा। मगर प्रयास सफल कैसे होता, रात्रि हो जाने से जमानत नहीं हो सकती और जमानत के बगैर ब्राह्मण को छोड़ा नहीं जा सकता। मुनिवर के भावों से सारी समाज ब्राह्मण को छुड़ाने के प्रयास में जुट गयी। महाराजश्री को विश्वास दिलाने के लिये ब्राह्मण के लड़के को मुनिवर के समक्ष लाया गया। लड़के ने मुनिवर से कहा- महाराजश्री एक दो व्यक्ति नहीं, पूरी की पूरी समाज हमारे पिता को छुड़ाने हेतु प्रयास कर रही है। मगर कुछ कानूनी दिक्कते हैं जिनकी वजह से वह रात्रि में किसी भी हालत में छूट नहीं सकते। हाँ, सुबह होते ही उन्हें सम्मान सहित रिहा कर दिया जायेगा।

उस ब्राह्मण को मुनिवर की दया और वात्सल्य भरे भाव एवं समाज के उसे छुड़ाने के अथक प्रयासों की जानकारी हुयी तब वह बहुत दुःखी हुआ। पत्र में लिखकर तुरन्त भेजा- **“मैं अधम हूँ, पापी हूँ, आपके सामने मुँह दिखाने के काबिल नहीं हूँ, आप तो परमेश्वर हैं, मेरी धृष्टता और नादानी को क्षमा कर देना। मैं आपके चरणों में प्रणाम करता हूँ।”**

पत्र मुनिवर के चरणों में रात्रि में पहुँच गया तो मुनिवर का हाथ भी शुभ आशीष हेतु स्वतः उठ गया। उधर समाज में भी प्रसन्नता की लहर छा गयी कि मुनिवर के आत्मबल रूपी संबल से सब्बल परास्त हो गया।

ज्यों-ज्यों रात्रि का अंधेरा बढ़ता गया त्यों-त्यों बूढ़े ब्राह्मण की प्रायश्चित्त की धार तेज होती गयी। रात्रि के साथ-साथ ब्राह्मण को भी अपने जीवन में छापी अज्ञानता की गहरी रात्रि का अहसास होता गया। आँसू बहते जा रहे थे और आँसुओं के साथ-साथ अज्ञानता का अंधेरा भी छटता जा रहा था। बूढ़ा ब्राह्मण सोच रहा था- व्यर्थ ही इतना बड़ा जीवन गँवा दिया। कभी सोचा भी नहीं था कि जैनियों के साधु भी इतने सरल और वात्सल्य से भरे होते हैं। मैंने ही उन्हें गालियाँ दी, बुरा-भला कहा, इतने पर भी क्रोध नहीं माना तो सब्बल से प्रहार कर उनके जीवन को ही नष्ट करना चाहा। धिक्कार है, मेरे जीवन को मुझ-जैसे दुष्ट जीव की खातिर वह दयालु हृदय साधु इतने द्रवित और इतने दुःखी हुये कि मुझे रात्रि भर जेल में रखने को अपने निमित्त से मान तुरन्त रिहायी को तत्पर रहे।

धन्य हैं वह साधु और धन्य हैं उनके अनुयायी। दिगम्बर जैन समाज के लोग जो चाहते तो मेरे द्वारा साधु के प्रति कहे गये दुर्वचनों एवं दुर्व्यवहार के लिये उसी समय मार-मारकर इतना दण्डित करते कि आगे से कोई ऐसा मुझ जैसा बुरा व्यवहार कभी किसी साधु के साथ नहीं करता। आज हमारी ही समाज के लोगों के साथ हमारे ही साधु के साथ मुझ जैसी घिनोनी हरकत की गयी होती तब परिणाम निश्चित ही भयावह और हिंसक होता। और हिंसा का ऐसा ताण्डव होता कि न जाने कितना खून बेगुनाह इंसानों का बह जाता; परन्तु हिंसा तो किसी समस्या का समाधान नहीं, हिंसा के विरुद्ध प्रतिहिंसा का भी परिणाम दुःखद ही होता।

धन्य हैं समाज को शांति और अहिंसा का पाठ पढ़ाने वाले वे दिगम्बर साधु ! जिन साधु को मैंने नंगा कहा उन्होंने कपड़े अश्लीलता के लिये नहीं बल्कि काम पर विजय पाकर मुझ जैसे निर्लज्जो की लज्जा ढकने हेतु ही स्वयं के वास्ते त्याग दिये। बस, इसके आगे वह नहीं सोच सका। ऐसी ही अवस्था में उसकी नींद जग गयी। प्रातःकाल ही उसकी रिहायी हो गयी। रिहा होते ही सबसे पहले वह मुनिवर के श्रीचरणों में साष्टांग नतमस्तक हो गया और बार-बार अपने किये की माफी माँगने लगा। क्षमामूर्ति मुनिवर तो पहले ही उसे अज्ञानी मान क्षमा कर चुके थे।

**दिगम्बर संत इस जग में निराले हैं ।
जो विशद मोक्षमार्ग पर बढ़ने वाले हैं ॥
संतों की महिमा अपरम्पार है जग में ।
संत संस्कृति और संस्कारों के रखवाले हैं ॥**

(47) डेढ़ गुण हानि समझाना-

संसार में अधिकांश प्राणी संसार के विषयभोगों में रत रहते हैं। विषयाभिलाषी प्राणियों से किसी भी प्रकार धार्मिक, आध्यात्मिक अभिरुचि की आशा नहीं की जा सकती। हो भी कैसे सकती है, जिन्हें

असली-नकली की पहचान नहीं होती, वह नकली को ही असली मान बैठते हैं एवं हमेशा धोखा खाकर दुःख उठाते रहते हैं। सोने के जैसी चमक से भ्रमित प्राणी सोने पर अविश्वास नहीं करता अपितु सोने से भी अधिक चमक से प्रभावित होकर नकली सोने को खुशी-खुशी ले आता है। सत्य जब समझ में आता है तब तक बहुत देर हो जाती है। सोना तो हाथ से जाता ही है, गांठ का बहुत सारा धन भी चला जाता है। ऊपर से आर्द्र रौद्र परिणाम कर जीवन में विष घोल लेता है।

हाँ, जो धोखे को धोखा जान जाते हैं वह असली-नकली में पहचान भली-भाँति करने लगते हैं। अधिक चमक देखते ही नकली चीज पहचान लेते हैं। संसार के विषयों में सुख का धोखा खाने वाले प्राणी सच्चे सुख की खोज में जिज्ञासु बन घूमते हैं। तीर्थयात्रा करते हैं। यदवा-तदवा ज्ञानियों से ज्ञान की बातें सुनते हैं। तमाम तरह की क्रियायें करके धर्म मान बैठते हैं। इसमें भी अशांत एवं असंतुष्ट रहते हैं तब सच्चे सुखी एवं संतुष्ट वीतरागी दिगम्बर जैन साधुओं की शरण में आ जाते हैं।

जैन दिगम्बर साधु भी करुणा करके वात्सल्य-भाव सहित संसार शरीर और भोगों से मोह का परित्याग करके स्वयं अपने ही अन्दर स्थित शुद्ध बुद्ध चैतन्य आत्मारूपी परमात्मा का परिचय करा देते हैं। जिज्ञासु की जिज्ञासा संसार से समाप्त होकर मुक्तिपथ की ओर मुड़ जाती है। हाँ, यही दौर होता है जब तरह-तरह के प्रश्न, शंकायें उसके मस्तिष्क में आती हैं।

सन् 1998 में गोटेगाँव में चल रहे मुनिश्री विशदसागरजी के वर्षायोग के अवसर पर भी ऐसे ही तत्त्व जिज्ञासु गुरुवर के पास आये। शाहपुरा से आने वाले तत्त्वप्रेमी जिज्ञासुओं ने कहा कि **“मुनिवर जितने कर्म बंधते हैं, उतने ही निर्जीव होते हैं फिर भी डेढ़ गुण हानि रूप में बने रहते हैं, इस प्रकार तो तपादि करना व्यर्थ ही हुआ।”**

मुनिवर ने उदाहरण देते हुये विषय को स्पष्ट किया, आपने तरणताल (स्विमिंग पूल) देखा है, देखा नहीं तो सुना होगा। तरणताल में जितना पानी भरता है उतना ही निकलता रहता है; परन्तु तरणताल यथावत भरा रहता है। अर्थात् पानी आता भी है, जाता भी है परन्तु पानी की डयोढ़ बराबर बनी रहने से तरणताल में भरे पानी में कोई अन्तर नहीं आता। इसी प्रकार कर्म आते हैं, कर्म तिरते हैं; परन्तु नित्य नये कर्मों का बंध एवं पुराने कर्मों का उदय होने से कर्मों की डयोढ़ बनी रहती है। इसलिये कहा जाता है कि कर्म बंधते, कर्म खिरते हैं; परन्तु कर्मों की डेढ़ गुण हानि वृद्धि बनी रहती है।

हाँ, यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि कर्मों की निर्जरा दो प्रकार की होती है, सविपाक निर्जरा एवं अविपाक निर्जरा। सविपाक निर्जरा का मतलब है जब बंधे हुये कर्म की स्थिति पूर्ण हो जाती है तब वह जीव से उसी प्रकार जुदा (अलग) हो जाता है जिस प्रकार पककर फल अपनी डाली से अलग हो जाता है। दूसरी प्रकार की निर्जरा अविपाक निर्जरा है जिसमें कर्मों को त्याग, तपस्या, ध्यान, साधना जैसे पुरुषार्थी के द्वारा

समय से पूर्व ही खिरा दिया जाता है। जैसे कच्चे फलों को तोड़कर पाल लगाकर समय से पहले पकाया जाता है।

मुनिवर ने सावधान करते हुए कहा— यह ध्यान रहे कर्मों की ड्योढ़ सविपाक निर्जरा में ही लगी रहती है, अविपाक निर्जरा में तो साधक पुरुषार्थ करके कर्मों को निर्जरित ही नहीं करता। कर्मों का आस्रव एवं बंध भी रोक देता है इसलिये उसकी कर्मों की ड्योढ़ समाप्त होने से मुक्ति की राह आसान हो जाती है।

(48) सेवा करना या सेवा कराना—

दुनिया में सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं सेवा करने वालों के। श्रवणकुमार का उदाहरण तो सभी की जुबान पर रहता है माता-पिता की सेवा की खातिर। धर्म की सेवा में अकलंक एवं निकलंक का नाम पूरी श्रद्धा से लिया जाता है। सेवा करना भारत देश में सिर्फ कर्तव्य ही नहीं, धर्म के रूप में माना जाता है। अतिथि को सेवा के अर्थ में ही देव की संज्ञा दी गयी है। सेवा करने से व्यक्ति को स्वयं आत्मसंतुष्टि एवं खुशी महसूस हो तथा जिसकी सेवा की जावे वह भी प्रसन्न रहे यही सेवा सच्ची सेवा है।

सेवा करने के साथ सेवा कराना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना सेवा करना। ईश्वर, गुरु एवं माता-पिता की सेवा परम्परा में शुमार होती है। दीन-दुःखी की सेवा करना व्यक्ति के व्यक्तिगत भाव पर निर्भर करता है। बीमार की सेवा वही कर सकता है जिसमें ग्लानि का अभाव हो।

कई बार सेवा करने वाले सेवा को तत्पर होते हैं; परन्तु सेवा कराने वाले का स्वभाव ऐसा होता है कि वह सेवा करने वाले को क्षति पहुँचाने का प्रयास करता है। इसीलिये कहा गया है कि सेवा करने वाले में ही नहीं, सेवा कराने वाले में भी पात्रता चाहिये। सेवा उसी की होती है जिसके परिणाम निर्मल एवं शांत हो। हित-मित-प्रिय वाणी से वह दूसरों से सम्भाषण या वार्तालाप करता हो।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सेवा करने वाला अच्छी तरह सेवा करे, वह भी उसकी सेवा करे जिसे स्वयं उसकी सेवा करना चाहिये जिससे वह सेवा करवा रहा है; परन्तु अपने से उच्च और पूज्य से सेवा कराते हुये भी मन के भाव अनुकूल न बनें पलायन कर दे तब इस स्थिति और परिस्थिति में सेवा करने वाला भी उसके दुर्भाग्य पर सोचने को विवश हो जाता है।

मुनिवर विशदसागरदजी का शीतकालीन प्रवास नोहटा, जबेरा में चल रहा था। मुनिवर के साथ क्षुल्लक विनिश्चलसागर, क्षुल्लक विनिर्भयसागरजी भी थे। सभी की धर्मसाधना संयम सहित चल रही थी। कर्मों का उदय कब, किसका, कैसा आ जाये कोई नहीं जानता। क्षुल्लक विनिश्चलसागर का स्वास्थ्य कमजोर होने लगा। दो-तीन किलोमीटर चलना भी क्षुल्लकजी को मुश्किल हो गया। आचार्यश्री के पास (संदेश) सूचना भेजी गयी। आचार्यश्री का आदेश आया, आप विहार करके क्षुल्लकजी को दमोह ले जायें

तथा यथायोग्य उपचार करायें जिससे क्षुल्लकजी की धर्मसाधना ठीक से चलती रहे। आचार्यश्री के आदेश का पालन करते हुये मुनिसंघ विहार करता हुआ दमोह पहुँच गया। परिस्थितियाँ अनुकूल न पाकर भी मुनिश्री ने क्षुल्लकजी को उपचार हेतु औषधि एवं आहारचर्या की खास व्यवस्था बनवायी एवं सब तरह की सेवा करवाई।

संघ उस समय आश्चर्यचकित रह गया जब क्षुल्लकजी अपनी सेवा करवाते हुये भी संघ का साथ छोड़कर चले गये। मुनिश्री सहित सम्पूर्ण संघ विचारमग्न था कि क्षुल्लकजी का स्वास्थ्य भी ठीक हो रहा था, आहार-विहार सब कुछ पूर्ववत् हो गया था। औषधि भी धीरे-धीरे कम हो रही थी। सभी तरह की सेवा से क्षुल्लकजी यथाशीघ्र स्वस्थ होकर धर्मसाधना कर रहे थे; परन्तु सब कुछ मध्य में छोड़कर क्षुल्लकजी का अकारण चला जाना सभी की समझ से बाहर था। वही संघ के साथ नियमित जुड़े एक श्रावक ने अचानक ही मुनिवर के पास बैठ-बैठे बोल दिया। शायद क्षुल्लकजी के भाग्य में सेवा कराना लिखा नहीं है।

(49) अपनी ढपली अपना राग-

प्रायः देखने में आ रहा है कि आज श्रावक की श्रद्धा कमजोर हो रही है। प्रदर्शन का जोर उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। क्रियाओं में धर्म को गर्भित कर दिया गया है। तप, त्याग, स्वाध्याय, ध्यान, साधना को कठिन माना जाने लगा है अथवा इनके लिये धर्मानुरागियों के पास समय नहीं है। समय पहले तो इसीलिये नहीं है कि आज की भौतिकवादी संस्कृति पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित है। पूँजी जिसके पास है वह सुख व वैभव के सभी साधन सुगमता से जोड़ सकता है, यह मान्यता हर एक के दिल में गहरे तक बैठ गयी है। पूँजी जुटाने के लिये आदमी इतना लालायित है कि अब तो बच्चों को पड़ोसियों से पता चलता है कि उसके पिता वह हैं तथा माता वह है। बच्चों को माता-पिता का प्यार तो मिलना दूर माता-पिता की शक्ल भी नसीब नहीं है।

बच्चे जब सोकर नहीं उठते, माता-पिता नौकरी पर निकल जाते हैं और जब तक माता-पिता लौटकर घर आते हैं बच्चे निद्रा देवी के आगोश में पहुँच जाते हैं। अब स्वयं सोचनीय प्रश्न है कि बच्चे माता-पिता को पहचाने कैसे ? कमाई भी इतनी कि माँ अलग हजारों रुपया महीना कमाती है, पिता अलग हजारों रुपया महीना कमाता है जबकि परिवार चलन के अनुसार सीमित हो गये हैं। माता-पिता के अलावा बच्चे एक या दो ही होते हैं, फिर भी रोना लगा रहता है कि खर्चा पूरा नहीं होता।

खर्च पूरा कैसे हो, पहले आदमी की इतनी आमदनी नहीं थी, फिर भी अच्छा पहनता था, अच्छा खाता था और बचत भी कर लेता था, बच्चों की संख्या अधिक होते हुये भी भरपूर प्यार लुटाता था। तब फिर क्या हो गया ऐसा कि आज अधिक आमदनी होते हुये भी खर्च पूरा नहीं हो रहा ?

सिर्फ एक ही समाधान है कि पहले आदमी थोड़े में संतुष्ट रह लेता था, कम खाना, कम पीना, न वैध का जाना, न हकीम को दिखाना की नीति चरितार्थ थी। दुःख में भी हँसने के रास्ते इंसान खोज लेता था। धर्म भी आदमी दिखावे के लिये नहीं पूर्ण आस्था, विश्वास एवं समर्पण से करता था। इसीलिये हर हाल में खुश एवं प्रसन्न रहता था, आपाधापी, दौड़-धूप की आकुलता, व्याकुलता से रहित दिन में एवं रात्रि में एक-दूसरे के साथ बैठकर सुख-दुःख का आदान-प्रदान कर लेता था। यही वजह थी कि पूँजी की अपेक्षा दया, क्षमा, प्रेम, स्नेह, परोपकार, त्याग, तपस्या जैसे गुणों से ओत-प्रोत वह इन्हीं कार्यों में रुचि रखता था एवं भरपूर समय भी देता था।

आज का इंसान तो हँसता हुआ भी रोता हुआ लगता है। पड़ौसी के घर की बहुमूल्य वस्तुयें देखकर जलता रहता है। स्वयं की सामर्थ्य हो न हो किसी भी तरह उन महँगी चीजों को लाने के लिये प्रयासरत रहता है। इसीलिये जानबूझकर गलत कार्य करता है। गलत कार्य करने से संसार के कुचक्र में फँसता चला जाता है। खुद का जीवन तो नरक बना लेता है, बच्चों को भी नरकों जैसी जिन्दगी जीने को विवश कर देता है। पूरा समय ही पूँजी कमाने या पूँजी कमाने के चक्कर में किये गये गलत कामों का फल भोगने में लगाता है। स्वयं का पेट भर नहीं पाता तो दान और त्याग के भाव भी नहीं बना पाता। जिनके पास पूँजी होती है, पैसा है वह भी पैसा खर्च करना ही धर्म मानते हैं। धार्मिक कार्यों में धन तो लाखों रुपया सबके सामने बोली लेकर दे देते हैं। मगर तप, त्याग, प्रेम, प्यार, वात्सल्य से कोसों दूर रहते हैं।

स्वाध्याय, ध्यान, साधना का तो नाम भी लेना नहीं चाहते, फिर इनमें धर्म के प्रति आस्था एवं विश्वास आये तो कैसे ? यही वह पहली वजह है कि आज के इंसान ने धर्म को आस्था एवं विश्वास के स्थान पर प्रभुता एवं प्रदर्शन की वस्तु बना दिया है। प्रभुता भी प्रभु को पाने की नहीं स्वयं की क्षुद्र एवं नाशवान तथा जड़ धन-दौलत एवं वैभव के स्वामीपना (प्रभुता) सिद्ध करने का स्थान बना लिया है।

एक और कारण आज के इंसान को भ्रमित कर रहा है जिससे इंसान यह समझ पाने में ही असमर्थ है कि सही मार्ग कौन है ? स्वयं स्वाध्याय करने लगे तब पूर्व आचार्यों के लिये प्रामाणिक ग्रंथों को पढ़कर बगैर किसी प्रश्न किये ही शंका का समाधान हो जाये। स्वाध्याय का समय ही नहीं है जब कभी साधु, संत या विद्वान आते हैं तब भी अपने प्रतिष्ठान का मोह त्याग नहीं पाता। एकाधबार पहुँच भी गया तो कुछ साधु-संत ने या विधि बतलायी उसे आधे-अधूरे मन से सुना एवं घर आते-आते एकाध बात याद रही शेष सब आयी-गयी हो गयी।

यही वजह है कि आज संत जो भी मार्ग बतलाते हैं, जो भी विधि सिखलाते हैं उसमें इंसान अवरोध तो बहुत उत्पन्न करता है परन्तु अवरोध का स्वयं भी कारण ज्ञात न होने से स्पष्टीकरण करने के नाम पर निरुत्तर होकर रह जाता है। हाँ, बेतुके तर्क अवश्य करता है, यह भी बतलाने की भरसक कोशिश करता है

कि वह जो कुछ कह रहा है, कर रहा है वही सत्य है, वही प्रामाणिक है। चाहे वह सत्य से पूरी तरह अलग **'अपनी ढपली अपना राग'** ही सिद्ध क्यों न हो।

मुनिश्री विशदसागर के समक्ष भी इस प्रकार की अप्रिय परिस्थितियाँ अनेक बार उत्पन्न हुयी। मुनिवर विशदसागरजी, मुनि विभवसागरजी, मुनि विश्वशीलसागरजी महाराज के साथ बड़ा गाँव (फलहोड़ी बड़ागाँव) जिला- टीकमगढ़, मध्यप्रदेश के सान्निध्य में पूजन शिविर का आयोजन हुआ। पूजन शिविर में मुनि विभवसागरजी विशेष रूप से विधिपूर्वक पूजन कार्य सम्पन्न करा रहे थे। उन्होंने बतलाया कि पूजन में जिस प्रकार द्रव्य चढ़ाने का वर्णन है उसी प्रकार से द्रव्य चढ़ायेंगे; क्योंकि शिविर का अर्थ ही है पूजन करने का तरीका, विधि-विधान, द्रव्य सामग्री की मात्रा, द्रव्य के चढ़ाने का तरीका, पूजन का समय एवं पूजन की पात्रता संबंधी समस्त जानकारी प्राप्त करना एवं जानकारी के अनुसार ही पूजन करना।

पूजन के दौरान मुनि विभवसागर ने देखा शिविरार्थी अग्नि में धूप नहीं खे रहे हैं। मुनिश्री के कहने पर भी उन्होंने धूप, अग्नि में नहीं खेयी। पूछने पर कहने लगे कि अग्नि में धूप डालने से जीव हिंसा होती है। हम जीव हिंसा नहीं करते, इसीलिये धूप को अग्नि में नहीं खेयेंगे। मुनिवर ने कहा- आपने देव-शास्त्र-गुरु की पूजा में बोला- **'ये धूप अनल में खेने से'** एवं चौबीस तीर्थकर पूजन में भी पढ़ा **'दशगंध हुताशन माहिं, ये प्रभु खेवत हो'** बताओ इनका अर्थ क्या है ? किसी ने भी उत्तर नहीं दिया। पुनः मुनिवर विभवसागर के कहने पर कहा कि हम कुछ नहीं जानते पर जीव हिंसा हम कतई नहीं करेंगे।

तब मुनिवर ने उन्हें कह दिया- यदि लिखी हुयी शास्त्रोक्त विधि से भी पूजन नहीं कर सकते तो तुम्हारे शिविर में होने का क्या अर्थ ? शिविर से बाहर हो जाओ। शिविर से बाहर किये गये शिविरार्थी मुनिवर विशदसागर के पास शिकायत लेकर पहुँचे। मुनिवर से बोले- हमें महाराज ने शिविर से निकाल दिया, सबके सामने बेइज्जत किया, अब हम लोग मंदिर भी नहीं आयेंगे। तब मुनिवर विशदसागर ने स्नेह सहित उन्हें समझाते हुए कहा कि शिविर में आने से पूर्व आप सभी ने गुरु आज्ञा पालन का निश्चय किया था, वही गुरु आज्ञा आपने उल्लंघन कर दी। मुनिवर विभवसागरजी गुरु हैं, गुरु के किसी आदेश का पालन निःशंक और निर्भय होकर करना चाहिये; क्योंकि यदि गुरु आज्ञा में कोई कमी है या अनुचित है तब उसका पूरा दोष गुरु पर आता है, शिष्य पर नहीं। फिर तुम्हें गुरु आज्ञा पालने में क्या कठिनाई हो सकती है ?

एक प्रतिष्ठाचार्य लालचवश प्रतिष्ठा कार्य में कोई कमी करता है तब उसका दोष प्रतिष्ठा कराने वाले पर नहीं प्रतिष्ठा करने वाले प्रतिष्ठाचार्य पर होता है। एक राजा या न्यायाधीश ने किसी को फाँसी की सजा दी, उसका दोष चाण्डाल को कैसे लग सकता है ? चाण्डाल तो मात्र नौकरी कर रहा है। फाँसी (सजा)

व्यक्ति के दोष सिद्ध होने पर दे रहा है या अपने अहं की पुष्टि के लिये किसी निर्दोष को ही फाँसी पर लटका रहा है, यह सोचना और निर्णय करना चाण्डाल का काम नहीं है। चाण्डाल का काम तो मात्र सजा प्राप्त व्यक्ति को फाँसी पर चढ़ाना है। आप सभी का कार्य भी गुरु की आज्ञा मानकर उसके अनुसार ही व्यवहार करना है। सारी जिम्मेवारी आपकी नहीं गुरु की है, बात शिविरार्थियों की समझ में आ गयी थी इसीलिये मुनिवर से क्षमा माँगते हुये वापिस लौट गये एवं अगले दिन मुनि विशदसागर से भी क्षमा माँगकर शिविर में गुरु आज्ञा अनुसार ही सारा कार्य करने लगे।

ऐसा ही प्रसंग मड़ावरा तहसील महारौनी, जिला-ललितपुर, उत्तर प्रदेश में वर्षायोग के अवसर पर उपस्थित हुआ। पूजन शिविर का निर्देशन मुनिवर विभवसागर ही कर रहे थे। मुनिवर ने पूजन शिविर में शिविरार्थियों से केले चढ़ाने को कहा, कुछ पण्डित लोगों ने विरोध कर दिया। पूछने पर कहने लगे- हमारे यहाँ सचित पूजा नहीं होती। मुनिवर ने पूछा- सचित का अर्थ क्या है ? तब पंडितजी ने कहा- **‘सत चित्तं इति सचित्तं’**। अर्थ सुनकर मुनिवर ने कहा- बताओं केला किस प्रकार का सचित है, उसमें कौन सा जीव है ? कौन सी वनस्पति है साधारण या प्रत्येक ?

उत्तर आया- प्रत्येक, तब पुनः मुनिवर बोले- पेड़ से टूटने के बाद वह कैसे जीव रहा, जब जीव और जीवन नहीं रहा तब सचित कैसे ? जब कुछ भी कहते नहीं बना तब वह बोले हम कुछ नहीं जानते, हमारे यहाँ हर फल नहीं चढ़ाया जाता। फिर मुनिवर ने कहा- ठीक ! आप लोगों में से जो न चढ़ाना चाहे, नहीं चढ़ाये; परन्तु जो चढ़ाना चाहते उसका विरोध तो नहीं कीजिए। न ही जो चढ़ाना चाहे खुशी से चढ़ाये हम उसका विरोध नहीं करेंगे। इतना कह नमोऽस्तु कर वापिस अपने स्थान पर पहुँच गये।

(50) तर्क, तर्क रहे कुतर्क न हो-

अक्सर देखने में आता है कि जिसे तर्क करने की आदत पड़ जाय वह हर विषय में तर्क करने लगता है। ऐसे विषय में भी तर्क करता है जिस विषय में उसे किंचित भी ज्ञान नहीं होता। इस मामले में सबसे अधिक तर्क रखने वाला है तो विज्ञान। प्रत्येक वैज्ञानिक धर्म के खण्डन हेतु न जाने कितने तर्क रखा करता है। अब वैज्ञानिकों से ही तर्क किया जाये कि उन्हें धर्म और अध्यात्म का ज्ञान ही कितना है ? वह बस यही कह सकते हैं कि कोई भगवान अथवा ईश्वर नाम की सत्ता नहीं होती। जब ईश्वर नाम की सत्ता ही नहीं होती तब ईश्वर द्वारा किसी का बनाया जाना ईश्वर द्वारा किसी का पालन करना और ईश्वर द्वारा ही किसी का मृत्यु को प्राप्त होना भी संभव नहीं है। दुनिया में जो कुछ भी संभव है विज्ञान के द्वारा ही संभव है। विज्ञान ने सुई से लेकर अन्तरिक्षयान का आविष्कार किया है। रहने के लिये एक से एक आलीशान मकान वैज्ञानिक तकनीक से बनाकर गगनचुम्बी इमारतें खड़ी कर दी हैं। जिसमें पानी नल से, प्रकाश बिजली से प्राप्त होता है। बिजली से तो टी.वी., फ्रिज, कूलर, वातानुकूल यंत्र की सुविधा दी तो कम्प्यूटर से हर तरह की गणना

कर ली। गृह और तारों की खोजकर वहाँ तक पहुँच भी गये। इतना ही नहीं धर्म के मामले में जब भी कोई चमत्कार बताया जाता है वैज्ञानिक तुरन्त उसकी सच्चाई जानने के नाम पर उसका खण्डन कर देते हैं। इतना ही नहीं मात्र अंधविश्वास की बात कर आस्था और ईश्वर के प्रति विश्वास को ठेस पहुँचाते हैं।

अब जरा वैज्ञानिकों के तर्कों को ही क्यों न कसौटी पर कस लिया जाये। सर्वप्रथम वैज्ञानिकों से पूछा जाये कि उनकी स्वयं की सत्ता क्या है ? विज्ञान की बात तो बाद में कर लेंगे, पहले यह तो पता चले कि वैज्ञानिक, वैज्ञानिक बाद में बना पहले तो वह इंसान ही हुआ। इंसान उसे किसने बनाया ? वैज्ञानिक तो इंसान अपनी बुद्धि और योग्यता के आधार पर बन गया, मगर उसने स्वयं इंसान क्यों नहीं बना लिया ? कहने को तो वैज्ञानिकों ने उत्पत्ति के तरह-तरह के सिद्धान्त दिये हैं, मगर वैज्ञानिकों का कोई भी सिद्धान्त आज तक स्थिर नहीं रह सका। नयी खोज हुई और पुरानी खोज का खण्डन हो गया। यही तो हश्र हुआ वैज्ञानिकों की उत्पत्ति के सिद्धान्त का। पहले वैज्ञानिकों ने इंसान की उत्पत्ति के कई तर्क दिये मगर चार्ल्स डार्विन ने सिद्ध किया कि इंसान अचानक उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि समुद्री जीव अमीबा में काल के साथ अनेक परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ वृद्धि होती गई और इस परिवर्तन में विभिन्न समुद्री जीवों में कुछ उड़ने वाले, कुछ रेंगने वाले और कुछ जमीन पर चलने वाले जीव बने। जमीन पर चलने वाले जीवों में वृद्धि होते-होते वह मनुष्य के पहले बन्दर बना फिर उसकी पूँछ भी गायब होती गयी और मूँछ आती गयी और अन्त में वह इंसान के रूप में परिवर्तित हो गया।

अब हम पूछते हैं इन्हीं वैज्ञानिकों से कि तुम्हारे इस सिद्धान्त का भी वर्तमान में दूसरे वैज्ञानिकों ने खण्डन कर दिया है तथा उत्पत्ति के नये सिद्धान्त गढ़ लिये हैं। परन्तु मैं विचार कर रहा हूँ वैज्ञानिकों द्वारा इंसान और इंसानियत को मूर्ख बनाकर छलने वाली कला का। इसीलिये वैज्ञानिकों से प्रश्न भी वैज्ञानिकों की भाषा में करूँगा जैसाकि वह धर्म के बारे में करते हैं कि धर्म का खण्डन आस्था से नहीं यंत्रों से करते हैं मगर मैं वैज्ञानिकों को उनकी खोज के ही निष्कर्षों पर पुनः विचार करने के लिए बाध्य करना चाहता हूँ ताकि सत्य सामने आये और वैज्ञानिकों के तर्क को दुनिया कुतर्क मानने लगे। सर्वप्रथम डार्विन की खोज पर चलें तो हम पायेंगे कि डार्विन ने दुनिया के सबसे छोटे जीव अमीबा को ही अपनी खोज का आधार क्यों बनाया, वह भी जो जीव जलचर था। क्या उन्हें इससे छोटा जीव अपनी खोज में नहीं मिला, यदि मिल सका होता तब निश्चित ही उनकी खोज का आधार अमीबा नहीं बनता। द्वितीय प्रश्न यह कि अमीबा के बारे में डार्विन जानते थे कि यह जीव तीन चौथाई भूतल के उस भाग में मिलता है जिसके मध्य में मात्र एक चौथाई पृथ्वी है इसीलिये पृथ्वी के किसी जीव को अपना आधार नहीं बनाया। इसके अलावा भी पृथ्वी पर दिखने वाले एक भी जीव को डार्विन ने अमीबा से सूक्ष्म नहीं पाया। जबकि स्वयं वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी पर और जल में भी नहीं वायु में भी अमीबा से भी सूक्ष्म जीव अमीबा से भी पूर्व थे मगर डार्विन की नजर उन पर नहीं पड़ी।

डार्विन ने यह नहीं बताया कि स्वयं अमीबा कहाँ से आया, वह भी तो उनके ही द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तित, विकसित होता रहा तब पहले तो इतने लम्बे समय में जहाँ काल भी गणनातीत है; क्योंकि भूतकाल की सम्पूर्ण गणना पूर्णतया असंभव है पृथ्वी और समुद्र का तो बनने बिगड़ने का इतिहास होता है मगर जो समय गुजर गया, उसका इतिहास संभव नहीं; क्योंकि इतिहास भी एक निश्चित काल का ही संभव है। अनन्त और अनन्तकाल का नहीं। फिर इतने अनन्तानन्त काल में सभी अमीबा परिवर्तित हो जाना चाहिये, मगर अमीबा तो आज भी है, द्वितीय यदि अमीबा स्वयं किसी का परिवर्तित रूप नहीं है तो उनका परिवर्तित रूप अन्य कोई कैसे हो सकता है ?

इसके साथ-साथ यह भी विचारणीय है कि मनुष्य को मनुष्य बने कितना लम्बा समय गुजर गया ? स्वयं मनुष्य अभी भी मनुष्य क्यों है, उसका परिवर्तन, परिवर्द्धन और वृद्धि होकर कोई अन्य विकसित रूप सामने क्यों नहीं आया ? स्वयं बन्दर जिसे मानवों का पूर्वज माना जाता है वह तो प्रकृति के प्रारम्भ से ही चले आ रहे हैं। हजारों वर्ष पूर्व भगवान रामचन्द्रजी के समय भी वानर मौजूद थे। यदि उनका ही विकसित रूप मानव है तो यह वानर क्यों अभी तक वानर के रूप में मौजूद हैं और आगे भी रहेंगे; परन्तु मानव का अन्य कोई रूप न पहले था न ही आगे होगा।

वैज्ञानिक बात करते हैं जिन आविष्कारों की, वह सभी आविष्कार तो वह प्रकृति के ही रहस्यों को जानकर उनके ही तत्त्वों में विघटन और संगठन कराकर जिन तत्त्वों की खोज की बात कहते हैं वह तो प्रकृति के ही तत्त्वों की मिलावट है जिनमें यदि उनमें प्राप्त प्राकृतिक गुण न रहे तो वैज्ञानिक अपनी खोज में क्या करेंगे ? कुछ भी नहीं, वैज्ञानिकों ने जो सुई से अन्तरिक्ष यान बनाने के दावे किये हैं वह भी तो खोखले हैं। मानव की सोच बदलती गयी, पहले सारा काम मिट्टी से होता था, फिर पत्थर का युग आया, अग्नि भी प्रकृति ने दे दी, मनुष्य की आवश्यकतायें बदल गयी। भोगभूमि से कर्मभूमि बनी तो शरीर को खाने-पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने आदि की जरूरत हुई। पहले वस्त्र सूती, रेशमी, मखमली होते थे। आज उन्हीं का परिवर्तित रूप टेरीकॉट, टेरालीन है। पहले भवन भारी, विशाल एरिया में बनते थे वहीं अब अबादी का घनत्व बढ़ने से अधिक जगह न रहने से ऊँचाई में अधिक तथा जमीन पर कम जगह लेकर बनने लगे हैं। जो वातानुकूलन मँहगे यंत्रों से पैदा किया जाता है वह तो पहले चौड़ी और मजबूत दीवारों के द्वारा स्वतः ही रहा करता था। पहले के मकान, भूकम्प सह लेते थे, अपनी मजबूती और फैलाव से मगर आज के भवन भरभरा के गिरते हैं, अपनी ऊँचाई और कमजोर बनावट से।

वैज्ञानिकों की जितनी भी खोज या आविष्कार हैं वह व्यक्ति के शरीर और इन्द्रियों को सुख पहुँचाने के लिये होते हैं, विज्ञान यही दावा करता है। दुनिया स्वयं गवाह है, विज्ञान के इस दावे कि उसे वैज्ञानिक साधनों का कितना लाभ मिलता है और वह कितना सुख भोगता है उनसे। पहली बात तो यह है कि

वैज्ञानिक साधनों के प्राप्त करने हेतु धन चाहिये, वह धन मात्र दुनिया के दस-पन्द्रह प्रतिशत लोगों के पास है। शेष अस्सी-नब्बे प्रतिशत लोगों में पचास प्रतिशत आधे-आधे या आधे-अधूरे साधन ही खरीद पाते हैं। उनका भी उपयोग पूरी तरह नहीं कर पाते; क्योंकि कभी यंत्र खराब होते हैं तो कभी उन्हें उन साधनों के उपयोग का समय नहीं मिल पाता। आधे लोग ऐसे हैं जिनकी पहुँच से यह साधन बहुत दूर हैं। एकाध साधन ले भी लिया तो उसका भी प्रयोग नहीं कर पाते। करे भी कैसे पहले पेट की आग बुझावें या सुख के साधन को भोगें।

अब जरा देखें कि जहाँ धर्म प्रत्येक प्राणी पर दया कर उसे हिंसा से बचाना चाहता है, भूखा नहीं रखना चाहता, तन पर कपड़े देता है और सोने को छत देता है। प्रत्येक धर्म में पूजा के पालकों अर्थात् शासकों से यही अपेक्षा होती है और यही शिक्षा, दीक्षा तथा उपदेश और आज्ञा भी दी जाती है। यहाँ तक कहा जाता है कि तुम्हें भूख बहुत जोर से लगी हो। भोजन तुम्हारे पास हो मगर कोई तुम्हारे समान भूखा, प्राणी उस समय तुम्हारी नजर में आ जावे तो उसे भी अपना भोजन समान भाग से बाँट लो। जैनधर्म का तो आधार भूत सिद्धान्त ही है **'परस्परपगृहो जीवानाम्'** अर्थात् खुद जिओ और दूसरों को जीने दो।

यहाँ पर विज्ञान की बात कर लें। आज बड़ी मशीनों ने प्राणियों का कई तरह से नुकसान किया है। पहले तो कई इंसान जो कार्य मिलकर करते थे, उन्हें रोजगार मिलता था, रोटी मिलती थी, परिवार पलता था। काम में व्यस्त होने से अपराधवृत्ति नहीं आती थी। आज मनुष्य का काम मशीन करती है। मनुष्य बेकार, बेकाम, बेरोजगार हो रहा है। पेट की भूख तो मिटाना ही है, मेहनत-मजदूरी से नहीं मिल रहा सो छीनकर लेने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। खाली दिमाग रहता है, कुछ लोगों को संपन्न देखता है तो जलन उत्पन्न स्वाभाविक है इसीलिये हिंसा का खुले आम बोलबाला हो गया है। बात-बात पर झूठ बोलना कभी कोई धर्म नहीं सिखाता, विज्ञान भी झूठ बोलने की पकड़ करने वाली मशीन तो बनाता है मगर झूठ बोला ही न जावे ऐसा कोई सार्थक प्रयास नहीं दिखता, करे भी तो कैसे ? विज्ञान जब स्वयं झूठे दावे करता है तब दूसरे से सच की अपेक्षा कैसे कर सकता है ?

मशीनों और बड़े-बड़े कारखानों में काम करने वालों को वहाँ के प्रदूषण ने अकाल ही हजारों, लाखों व्यक्तियों को बीमार बना दिया है। टी.वी., कैंसर, अवसाद, अंधेपन, याददाश्त खोने जैसी बीमारियों का शिकार बनाया है और बहुतों को तो सीधे मौत के मुँह में पहुँचा दिया है। एक बम फटता है, अनेक लोग मारे जाते हैं, परमाणु बम फटता है लाखों बेमौत मारे जाते हैं, करोड़ों रोगग्रस्त हो जाते हैं। क्या मौत का ही दूसरा नाम विज्ञान है अथवा बीमारी दुःख और तकलीफ का नाम विज्ञान है अथवा जगत में फैल रही हिंसा और झूठ बोलने की दुष्प्रवृत्ति का नाम विज्ञान है।

वैज्ञानिक आसानी से और मासूमियत भरा तर्क दे सकते हैं कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि तो आदमी की आन्तरिक भावनायें हैं। आदमी स्वयं ही इन पर नियंत्रण करें, इसमें विज्ञान क्या कर सकता है ? यही तो विज्ञान के सामने और वैज्ञानिकों के सामने यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब आप कुछ नहीं कर सकते हैं तब कुछ भी करने के बड़े-बड़े दावे करते ही क्यों हैं ? और क्यों प्रयास करते हैं धर्म को झूठा सिद्ध करने का जो प्राणियों को उनकी इन्हीं हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह जैसी वृत्तियों पर अंकुश लगाने तथा उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन, उत्तम ब्रह्मचर्य सहित प्रेम, प्यार, स्नेह, परोपकार जैसी भावनाओं को अंकुरित करने, पुष्पित करने, पल्लवित करने का सतत् और भागीरथी तथा अथक प्रयास करता है।

बन्धुओ ! विज्ञान का सत्य ही इतना है कि वह वस्तु तक सीमित है, व्यक्ति और व्यक्ति की भावनाओं से उसका कोई संबंध नहीं। संबंध रखे भी तो कैसे ? विज्ञान को अच्छी तरह पता है कि व्यक्ति का जन्म हुआ तो मृत्यु भी निश्चित है; परन्तु विज्ञान के पास इस बात का कोई समाधान नहीं कि व्यक्ति जन्म के पूर्व क्या था, कौन था, कहाँ था तथा मृत्यु के बाद भी व्यक्ति का क्या होगा, कहाँ जायगा, कैसे जायेगा ? क्योंकि अगर विज्ञान यह मानता है कि मृत्यु तो मात्र जीव की परिवर्तन पर्याय का नाम है तब उसे जीव और जीव की चौरासी लाख योनियों के परिभ्रमण तथा जीव को पूर्व और पश्चातवर्ती (भविष्यत्) पर्याय का उत्तर देना होगा। जो वह किसी भी हालत में दे नहीं सकता; क्योंकि जो पुनर्भव के सिद्धान्त को पूरी शक्ति से ठुकराता है—स्वर्ग, नरक, मोक्ष, देव, दानव, नारकी की सत्ता से स्पष्ट इंकार करता है। वही इस सत्य को स्वीकार कर अपनी आत्महत्या कैसे कर सकता है ?

विज्ञान की सम्पूर्ण खोजें वर्तमान जीवन को सुखी बनाने एवं भूत पर्याय और भविष्यत् पर्याय के खण्डन में ही पूरी हो जाती है। विज्ञान समझता है कि सभी उसी की तरह अल्पज्ञानी अथवा मूर्ख हैं। पहले तो विज्ञान व्यन्तरों (भूतों) के अस्तित्व को बिल्कुल भी नहीं मानता था, मगर अब तो वैज्ञानिकों ने भूतों के अस्तित्व को स्वीकार भी कर लिया है। उन्हें बुलाने और आवाज के तरीके भी खोजने लगे हैं। अमेरिका के मृतक राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन जैसी आत्माओं के राष्ट्रपति भवन में होने के भी प्रमाण मिलने लगे हैं। अब स्वयं सोचो कि कान सीधा नहीं पकड़ा घुमाकर पकड़ लिया। पहले सब कुछ अस्वीकार किया, फिर कुछ स्वीकार किया, आगे सब कुछ स्वीकार कर लेंगे।

भले ही अन्य धर्मों की मान्यताओं को विज्ञान अपने तर्कों से खण्डन करता हो, मगर जैनधर्म की मान्यताओं का खण्डन करना तो उसके बस की बात नहीं। क्योंकि जो जैनधर्म कहता है, विज्ञान भी वही कह रहा है, तब विज्ञान तो जैनधर्म का अनुयायी अथवा नकल करने वाला ही हुआ न। विज्ञान ने

जो बात आज कही, वही बात जैनधर्म ने युग के प्राम्भ में तीर्थंकर भगवान आदिनाथ के मुख से अरबों, खरबों वर्ष पूर्व उद्घाटित करवा दी थी। जैनधर्म भी किसी को पैदाईशी ईश्वर स्वीकार नहीं करता। जैनधर्म तो किसी को भी किसी का कर्ता, भर्ता अथवा हर्ता (जन्मदाता, पालनहार, तारणहार) स्वीकार नहीं करता।

जैनधर्म का पूरी तरह स्पष्ट कहना है कि जीव की सत्ता स्वतंत्र है। जो जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल प्राप्त करता है। अच्छा कर्म करता है तब पुण्य बंध करने से उसे सुख, शांति, सुरक्षा, यश, वैभव सभी कुछ मिलता है। बुरे कर्म करने पर प्राणी पाप बंध करता है जिससे उसके जीवन में दुःख, अशांति, भय, अपकीर्ति, कंगाली का खजाना मिलता है। सुख केवल इंसान बनकर ही नहीं, स्वर्गों में देव बनकर भी पुण्य के बल पर सुख भोगने को मिलते हैं तो पाप चारों गतियों— मनुष्य, देव, तिर्यच अथवा नारकी सभी गतियों में दुःख ही दुःख देता है। जैनधर्म का कर्म सिद्धान्त प्रत्येक प्राणी को कर्म रहित होने पर ईश्वर और सर्वशक्तिमान भी स्वीकार करता है। इसी कर्म सिद्धान्त के बल पर ही जैनधर्म प्रत्येक आत्मा को अपने दोषों को समाप्त कर परमात्मा बनने का संदेश एवं उपदेश देता है।

यहाँ प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि जैनधर्म और विज्ञान एक बात कहते हैं तब दोनों में अन्तर क्या है ? हे भव्य आत्माओं ! अन्तर स्पष्ट है— जैनधर्म जिस आत्मा को संबोधित कर आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। आत्मा में कर्म के संयोग से आये दुर्गुणों को, कर्मों को नाशकर आत्मा में ही मौजूद सदगुणों के प्रकाशित करने एवं सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के पवित्र मार्ग पर चलकर स्वयं इंसान को भगवान बनने का सुअवसर प्रदान करता है वही विज्ञान आदमी के अस्तित्व को तो स्वीकार करता है; परन्तु आत्मा के अस्तित्व स्वीकार करने में स्वयं विज्ञान को अपना ही अस्तित्व समाप्त होने का संकट उपस्थित होता है।

विज्ञान की तरह अनेक व्यक्ति भी ऐसे तर्क रखते हैं कि जिनको सुनकर बड़े से बड़े विद्वान भी अचकपा जाते हैं। वह उत्तर दे भी नहीं पाते, उत्तर दें भी तो कैसे ? तर्क का उत्तर हो सकता है, कुतर्क का क्या उत्तर हो, यह विद्वानों की समझ से भी परे होता है। शायद इसीलिये विद्वान् ऐसे प्रश्नों के उत्तर देने के स्थान पर मौन रहना पसंद करते हैं। परन्तु अपने अन्दर प्रखर और प्रति उत्पन्न मति बुद्धि रखने वाले कुतर्क करने वाले के तर्क को ही कुतर्क सिद्ध कर निरुत्तर होने को मजबूर कर देते हैं। मुनिश्री विशदसागरजी भी ऐसे ही विलक्षण बुद्धिधारी परिव्राजक हैं जिनके सामने पहले तो व्यक्ति तर्क रखकर उसका समाधान पाकर खुश हो जाता है। हाँ, अगर मन में खोट लिये अथवा अल्पज्ञान से कोई गलत तर्क रखता है तो मुनिश्री विशदसागरजी उसके तर्क को ही कुतर्क सिद्धकर मन ही मन अपनी भूल को स्वीकार करने पर मजबूर कर देते हैं।

एक बार संघस्थ साधुओं में चर्चा चल रही थी कि संघ से बाहर जाकर धर्म की प्रभावना करना बहुत मुश्किल टेढ़ी खीर होती है। अनेक-अनेक तरह के लोग अनेक-अनेक तरह के प्रश्न ? कई प्रश्न ऐसे भी आ जाते हैं कि उनका उत्तर देना भी मुश्किल हो जाता है। एक बार एक ब्राह्मण ने प्रश्न किया कि परमात्मा एक है, सभी उसके अंश हैं। जैसे सूर्य एक है, संसार में जितने स्थान पर जल भरा है उतने स्थान पर उसमें सूर्य चमकता है इसीलिये वह जल भी सूर्य का अंश है।

मुनि विशदसागरजी ने कहा- यह कोई कठिन प्रश्न नहीं है। अरे भाई ! अंश को तो समझ लो। अंश तो वस्तु का अभिन्न अंग है, जो गुण वस्तु में होता है वही गुण उसके अंश में होता है। जैसे आग का गोला बड़ा होता है, चिंगारी छोटी होती है, मगर जो गुण आग के गोले में जलाने और प्रकाश देने के हैं वही जलाने और प्रकाशित करने के गुण चिंगारी में भी होते हैं। इसलिये चिंगारी को गोले का अंश कहा जाता है; क्योंकि दोनों में आग है, दोनों ही आग के अंग हैं। इस प्रश्न में तो सूर्य और जल तथा जल में दिखने वाली सूर्य की छाया तीनों अलग-अलग हैं। सूर्य का जल से या जल का सूर्य से कोई संबंध नहीं होता। रही बात सूर्य और जल में दिखने वाली सूर्य की छाया की तो स्वतः स्पष्ट है कि हम भी जल में स्थिरता और स्वच्छता होने पर देखें तो जल में हमारी भी छाया प्रतिबिम्ब बनकर उभर आती है। बताओ, क्या हमारी जल में दिखने वाली छाया हमारा अंश है, नहीं न ! तब फिर जल में छाया चाहे सूर्य की छाया दिखे अथवा चन्द्रमा की छाया दिखे, छाया तो छाया ही होती है। छाया कभी भी वस्तु का अंश नहीं होती। तब फिर सूर्य की छाया, सूर्य का अंश कैसे हो सकती है ? सूर्य की तरह जल में मौजूद सूर्य की छाया, गर्मी, जलन, प्रकाश भी नहीं दे सकती। इसीलिये गुणों के अभाव में वह सूर्य का अंश नहीं है। यह तो प्रश्न ही गलत हुआ न ?

सभी हतप्रभ थे, मुनि विशदसागर के विलक्षण व्यक्तित्व और तीक्ष्ण बुद्धि से। किसी के पास उनकी प्रशंसा करने के सिवा कोई विकल्प नहीं था।

(51) संकल्प और मजबूरी-

जैन परिव्राजक की हाथ की बंधी उँगली कंधे पर होना ही श्रावक के लिये स्पष्ट संकेत है कि संत की यह मुद्रा आहारचर्या हेतु सिंहवृत्ति में संकल्प है अर्थात् संकल्प पूर्ण हुआ। तब ही आहारचर्या की आगे की विधि बढ़ेगी अन्यथा संकल्प पूर्ण होने के अभाव में परिव्राजक (दीक्षाधारी) साधु वापिस मंदिर में ही चलें जायेंगे। अगले दिन भी उठेंगे तब भी संकल्प लिये मुद्रा में ही। श्रावक भले हजारों प्रयास करता है, मुद्रा छोड़ने हेतु संकल्प पूर्ति हेतु मगर परिव्राजक के मन में दृढ़ता से यही भाव रहता है कि संकल्प पूर्ति हो गई तब भी ठीक, नहीं पूर्ति हुई तब भी ठीक आहार हो गया तब भी ठीक, उपवास हो गया तब भी ठीक। मतलब एकदम साफ है कि जैन दीक्षाधारी साधक उदरपूर्ति हेतु आहार ग्रहण नहीं करता, साधना हेतु शरीर चलता

रहे इसीलिये उतनी ही उदरपूर्ति करते हैं जिससे साधना तो चलती रहे, आलस्य, प्रमाद एवं रोगादिक न आ सके। संकल्प का अर्थ ही है कि आहार की महत्ता नहीं, महत्त्व साधना का है, कीमत शरीर की नहीं साधना की है इसीलिये आवश्यक संकल्प का मिलना है आहार का नहीं।

अघोषित संकल्प का ही दूसरा प्रकार है—‘मन में ठान लेना’। अधिकांश संसारी प्राणी का पता ही नहीं चलता कि उनके मन में क्या है ? मगर उनके मन में कुछ न कुछ रहता जरूर है तभी तो उनके हाव-भाव दैनिक क्रियायें सहज और सामान्य नहीं रहती; परन्तु वह मुँह से मन की बात (संकल्प) घोषित नहीं करते, किसी को नहीं बताते इसीलिये दूसरों को समझने में अधिकांशतः विलम्ब हुआ करता है। परन्तु जब बात (संकल्प) सभी की समझ में आ जाता है तब संकल्प के अनुरूप ही संकल्पी की विधि (उपाय) मिलायी जाती है। ऐसी स्थिति में भी एक अघोषित खुशी विधि मिलाने वाले एवं संकल्पी दोनों को ही प्राप्त होती है।

ऐसा ही अघोषित संकल्प कर लिया था मुनि विशदसागरजी ने जब आचार्यश्री से एक ही प्रकार की भूल (जाने और अनजाने) का प्रायश्चित्त बार-बार मिलने लगा। परम पूज्य आचार्यश्री का संघ देवेन्द्र नगर से विहार करके कटनी की ओर जा रहा था, रास्ते में ग्राम मवै आया। मवै के ही दिगम्बर जैन मंदिर में संघ सहित आचार्यश्री का विश्राम हुआ। आचार्यश्री साधना हेतु अधिकांशतः एकान्त स्थान में विराजते हैं, मवै के दिगम्बर जैन मंदिर में भी आचार्यश्री वेदी की परिक्रमा में बैठ गये। मुनि विशदसागरजी आहारचर्या से वापिस आकर मंदिरजी में प्रवेश ही किये थे कि सामने ही संघस्थ बुजुर्ग महिला ब्रह्मचारिणी चमेलीबाई ने श्रद्धा भाववश पूछ लिया—“**महाराजजी आपका आहार ठीक हो गया**” तब महाराजजी ने भी व्यवहारिकतावश ब्रह्मचारिणी दीदी से पूछ लिया कि आपका भी आहार ठीक से हो गया। ब्रह्मचारिणी दीदी ने ‘हाँ’ कहकर महाराज को अभिवादन हेतु नमोऽस्तु की और अपने गंतव्य की ओर चली गई। आचार्यश्री उस समय वेदी में इतने पास विराजमान थे कि एक-एक शब्द पूरी चर्चा का उनके कानों में पहुँच रहा था। ईर्यापथ प्रतिक्रमण में आचार्यश्री ने मुनि विशदसागरजी से कहा— ब्रह्मचारी दीदियों से चर्चा करते हो तब मुनिश्री ने सिर हिलाते हुए मुँह से कहा— नहीं। आचार्यश्री ने पुनः कहा हम सुन रहे थे तब मुनिश्री ने कहा— चमेली दीदी ने पूछा आहार ठीक से हो गया तब हमने भी व्यवहार में पूछ लिया— आपका आहार भी ठीक प्रकार से हो गया। अन्य कोई चर्चा हमारे बीच में नहीं हुई इसके बावजूद इस लघु चर्चा के लिये दोष मानते हुए आचार्यश्री ने भी लघु प्रायश्चित्त दिया। प्रायश्चित्त मुनिवर ने स्वीकार भी कर लिया।

उसी दिन मुनिश्री विशदसागरजी ने मन ही मन संकल्प कर लिया कि “**अब किसी भी दीदी से कुछ भी नहीं बोलना, बोलना तो दूर जिस चौके में दीदी खड़ी हो उसमें आहार हेतु प्राथमिकता नहीं**”

देंगे।” संघ विहार करते हुए कटनी पहुँच गया। कटनी में समाज दूर-दूर तक होने से चौके भी दूर-दूर तक लगा करते थे। ब्रह्मचारिणी बहिनें भी यह होशियारी करती थी कि अधिक न चलना पड़े सो आस-पास के चौके में ही पहुँचती थी। ग्रीष्मकालीन वाचना प्रारम्भ हो गई। आहारचर्या हेतु साधुओं व्रतियों को एक किलोमीटर तक आहारचर्या हेतु जाना पड़ता था। दो-तीन महीने तो कुशलता से गुजर गये, किसी को कुछ भी अहसास नहीं हुआ। बाद में लोगों के मन में भ्रम हुआ कि पड़गाहन हेतु जहाँ भी दीदीयाँ खड़ी रहती हैं मुनिवर विशदसागरजी वहाँ आहार हेतु नहीं जाते। लगभग पन्द्रह बीस दिन गुजरने के बाद भी मुनि विशदसागरजी के आहार जिस चौके में हुए उस चौके में अन्य साधुओं के आहार तीन-तीन बार हो गये।

दीदियों के समक्ष मुनि विशदसागर का संकल्प गुप्त नहीं रह सका। दीदी को बात समझ में आ गयी थी। एक दिन सुषमा एवं नीतू दीदी पड़गाहन हेतु खड़ी थी; किन्तु जैसे ही लोगों ने बताया कि मुनि विशदसागरजी आ रहे हैं, बहिन सुषमा एवं नीतू वहीं छिप गयी। मुनिश्री का पड़गाहन हो गया, पूजन भी हो गया, तब दीदी बाहर निकली; क्योंकि अब महाराज का प्रश्न ही नहीं या संकल्प भी पूर्ण हो गया था। मुनिश्री का आहार पूर्ण हो गया और सबके मन में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। तब सभी में यह चर्चा चल पड़ी कि मुनि विशदसागरजी के पड़गाहने में या चौके में दूर से दीदीयाँ, ब्रह्मचारिणी बहिनें दिख जावें तब महाराज विशदसागरजी के आहार नहीं होते।

आचार्यश्री का ससंघ विहार कटनी से जबलपुर की ओर हुआ। संघ वाकल पहुँच गया। वाकल में चौकों में हर जगह दीदी मौजूद, वही पड़गाहन कर रही हैं। मन में ठाने, मन से माने, महाराजजी की दुविधा थी कि दीदी की वजह से चौके वाले क्यों निराश हों ? किसी न किसी चौके में तो जाना ही पड़ेगा, यह भी नहीं कह सकते कि दीदी क्यों खड़ी है ? खैर जहाँ मन में समता है, शांति है तथा उत्तम क्षमा के धारी हैं वहाँ कोई न कोई रास्ता तो निकल आएगा। रास्ता निकल भी आया। एक चौके में मात्र एक ब्रह्मचारिणी दीदी वह भी घरवालों के बगल में खड़ी थी वहीं मुनिश्री विशदसागरजी महाराज का पड़गाहन हो गया। दीदी की खुशी भी आज मन में समा नहीं रही थी। पूरी सावधानी से आहार दे रही थी। किसी श्रावक ने कहा- दीदी मुझे भी आहार दे लेने दो तब मंजू दीदी बोली- हाँ, हम आहार तो रोज देते हैं मगर महाराजश्री (मुनिश्री विशदसागरजी) को आहार देने का अवसर तीन या चार माह बाद मिला है। हमारा सौभाग्य खिला है, हम भी पूरा आहार देंगे।

(52) निगाह उठी तो गजरात शांत हो गये-

सन् 1998 को 11 फरवरी से 17 फरवरी तक सगरा, जिला-दमोह में पंचकल्याणक महोत्सव था। जिसमें गजरथ की परिक्रमा भी थी। अन्तिम दिन गजरथ परिक्रमा करने के लिये पंडितजी ने कह दिया; किन्तु बाहुबली सेवादल की बैण्ड पार्टी आगे चल रही थी। सेवादल रथ के आगे खड़ा होकर रह गया तथा

घोषणा कर दी कि जब तक मुनिश्री नहीं आयेंगे, रथ आगे नहीं बढ़ेगा। उसी समय मुनिवर को आता देख बाहुबली सेवादल में अभूतपूर्व उत्साह का संचार हो गया। सभी जोर-जोर से जयकारा करने लगे। मुनिवर ने आते ही पंडितजी से मंत्राराधन कराकर रथ आगे बढ़ाने को कहा। अभी पहली फ़ैरी ही हुई थी कि किसी ने हाथी के आगे पटाखा फेंक दिया। पटाखा इतनी जोर से फटा कि उसकी तेज आवाज से हाथी के तेवर बदल गये। उसी समय मुनिवर की नजर से गजराज की नजर मिल गयी और गजराज का गुस्सा गुरुवर के नेत्रों में झाँकते ही काफ़ूर हो गया। गजराज ने पूर्ण शांति के साथ शेष फ़ैरी कराई।

उसके पश्चात् मुनिश्री विहार करते हुये बक्स्वाहा पहुँचे। बक्स्वाहा में एक दिन रुककर प्रवचन किये। प्रवचन करके वनवार के लिये विहार कर दिया। रास्ते में लोग खड़े होकर रोकने लगे, पीछे से देवेन्द्रजैन आकर चरणों में लेट गये और बोले हम आज आपको नहीं जाने देंगे; परन्तु मुनिवर बोले हम विहार के लिये निकल पड़े, अब वापिस नहीं होते। देवेन्द्र के साथ-साथ सभी ने बहुत कोशिश की पर मुनिवर रुके नहीं। दूसरे दिन वनवार पहुँच गये वहीं पर देवेन्द्र भी पहुँच गये। देवेन्द्र ने भक्तिसहित गवासन से मुनिवर को नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु कहते हुये चरण-वंदना की। मुनिवर की चरण-रज पूर्ण श्रद्धा से माथे पर लगाते हुए कहा- महाराज, कल आप नहीं रुके इसीलिये हमें बहुत खुशी है। पास खड़े लोग भौंचक्के रह गये कि कल यही युवक मुनिवर के चरण पकड़-पकड़ कर रो रहा था कि मैं आज नहीं जाने दूँगा, फिर खुशी कैसी? मुनिवर ने युवक से पूछ लिया क्यों? तब उस युवक ने कहा- **“हमें गर्व है अपने संतों पर कि वह किसी के राग में आकर अपना पथ नहीं बदलते। अपने निश्चय को पूर्ण करने में मोह की बाधा भी हँसकर पार कर जाते हैं।”**

(53) होनी होकर रह गई अनहोनी दई टार (बरौदिया)-

संत दिन-रात चौबीसों घंटे ध्यान में मग्न रहते हैं। कोई क्षण, कोई पल ऐसा नहीं जब उनके ध्यान में आत्मा अथवा परमात्मा का स्मरण न चल रहा हो। परमात्मा को स्मरण करने हेतु ही पंच नमस्कार मंत्र, अरिहन्त, सिद्ध मंत्र- ॐ हां हीं हूं अर्हं नमः तुष्टिं पुष्टिं कुरु-कुरु स्वाहा आदि अनेक प्रकार के मंत्रों का जाप करते रहते हैं। मंत्रों के जाप से आत्मा की कलुषता घुलती रहती है। कलुषता धुमती है तब अन्दर से निर्मलता प्रगट होती है। निर्मलता आती है तब अशांत मन शांत होने लगता है। मन शांत होता तब सुख की सच्ची अनुभूति अपने ही अन्दर से आने लगती है। अन्दर से आ रही आत्म अनुभूति इतनी सुखद, इतनी मधुर, इतनी निर्मल, इतनी विमल, इतनी सलिल एवं इतनी मनभावन होती है कि उसके आगे अन्य संसार का कोई भी आकर्षण फीका हो जाता है।

संत का स्वयं का अन्तर्मन ही पवित्र मंत्रों से पवित्र नहीं होता। आस-पास का पूरा वातावरण भी पवित्र हो जाता है। आस-पास में रहने वाले प्राणियों के भाव भी संत के भावों की तरह निर्मल होने लगते हैं।

घनघोर जंगलों में खूँखार प्राणियों का वास होता है। उन घने जंगलों में हिंसक प्राणी इधर विचरण करते रहते हैं तथा कमजोर जानवर को देखते ही सबल जानवर उस पर टूट पड़ता है तथा उसे मारकर अपनी क्षुधा पूर्ति करता है। हिंसक जानवरों के स्वभाव में इतनी क्रूरता भरी रहती है कि साधारण तौर पर भी यदि उनके समान बल वाला जानवर सामने आ जाय तब दोनों तरफ से हिंसक प्रवृत्ति उत्तेजित हो जाती है। हाथ-पैर ही नहीं चलते, मुँह से निकलती गुर्गाहट एवं आग उगलती आँखें जो सामने वाले जानवर को पराजित करने के लिये आवश्यक है सब कुछ आजमाया जाता है। जब तक सामने वाले के प्राण-पखेरु न उड़ जाये यह संघर्ष अनवरत चलता रहता है। संघर्ष के अन्त में मरने वाले जानवर के शरीर को नोंच-नोंचकर दावत उड़ाता है।

आश्चर्यजनक रूप से यह सत्य है कि इन्हीं हिंसक प्रवृत्ति वाले खूँखार जानवरों के मध्य घनघोर जंगलों में अपने शरीर एवं प्राणों की परवाह किये बिना निर्मल मन के धारी संत भी विचरण करते रहते हैं। विचरण ही नहीं करते वहीं पर किसी चट्टान, किसी पत्थर या वृक्ष के नीचे बैठकर परमात्मा का स्मरण करने हेतु ध्यानस्थ हो जाते हैं; परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य की बात होती है तब जब उन निर्मल मन वाले संत के साधना में लीन होते समय वही जंगली हिंसक प्राणी उन्हें देखकर बजाय उन पर प्रहार कर प्राणघात करने के उन्हीं संत के चरणों में लोट-लोटकर अठखेलियाँ करने लगते हैं अथवा संत के पावन चरणों को ही चाटने लगते हैं। परस्पर विरोधी जाति के जानवर हों या कमजोर और सबल जानवर शेर के साथ गाय, चीते के साथ सियार, सांप के साथ नेवला, बिल्ली के साथ चूहा सभी मिलकर वहाँ खेलते रहते हैं। एक घाट पर पहुँचकर सरिता के तट पर जल पीते हैं।

यह सब कुछ ऐसे ही नहीं हो जाता, संत के द्वारा हर समय हरपल हर क्षण परम प्रभु परमात्मा (विशुद्ध आत्मा) की प्राप्ति हेतु स्मरण किये जा रहे मन को नियंत्रित किये जाने वाले मंत्रों का ऐसा असीम प्रभाव जंगल के सम्पूर्ण वातावरण पर पड़ता है कि जितनी-जितनी पवित्रता एवं विशुद्धी संत के मन में आती जाती है उतनी-उतनी विशुद्धता एवं पवित्रता उस सम्पूर्ण वातावरण में आती जाती है इसीलिये उस वातावरण के भीतर जो भी हिंसक प्राणी प्रवेश करता है वह अपनी हिंसक एवं क्रूर प्रवृत्ति भूलकर प्रेम, प्यार, वात्सल्य के रंग में रंग जाता है। दूसरों पर बजाय हमला कर प्राणघात करने के उसी पर अपना प्यार लुटाने लगता है, मिलकर मनोरंजन करने लगता है। यही होता है संत उच्चारित पवित्र मंत्रों का असीम प्रभाव।

आज संतों को जंगलों में जाकर साधना, आराधना की जरूरत नहीं रही। जो क्रूर और हिंसक प्रवृत्ति घने जंगलों में रहने वाले जानवरों में पायी जाती थी उससे भी क्रूर और खतरनाक ही नहीं वीभत्स हिंसक प्रवृत्ति आज शहरों में घनी आबादी के मध्य रहने वाले इंसान में आ गयी है। इंसान के अन्दर की समता,

सहनशीलता, दया, क्षमा, करुणा समाप्त हो गयी है अथवा मृतप्रायः हो गयी है। यही कारण है कि इंसान कभी जमीन के छोटे से टुकड़े के नाम पर एक-दूसरे के खून का प्यासा हो जाता है तो कभी जोरू के नाम पर आपसी भाईचारा, प्रेम, प्यार, वात्सल्य से भरे नाते-रिश्तों को ही भूलकर एक-दूसरे के अस्तित्व समाप्त करने पर उतारू हो जाता है तो कभी एक-एक रुपया की खातिर एक दूसरे को धोखा देकर केवल उसकी संपत्ति हड़पने की जुगाड़ में रहता है। इसके लिये वह किसी भी सीमा तक गिर जाता है, किसी भी स्तर तक हिंसा करना हो, पीछे नहीं हटता।

समाज में छापी इसी हिंसक प्रवृत्ति के कारण अब संत का काम बजाय जंगल में जाकर साधना करने के शहरों के बीच बसे मनुष्यों में आ गयी हिंसक प्रवृत्ति को दूर करने का है। इसी जिम्मेवारी का पूर्ण निर्वहन करने के लिये ही आज संत वन को छोड़कर शहर की ओर उन्मुख हो गये हैं तथा शहर के प्रदूषित वातावरण को अपने तप, त्याग एवं साधना से स्वच्छ एवं दोषमुक्त कर रहे हैं। परिणाम भी अच्छे ही प्राप्त हो रहे हैं जहाँ कहीं भी संत के चरण पड़ रहे हैं वातावरण स्वतः शांत, पवित्र, निर्मल, निर्दोष हो रहा है।

संत का जीवन ही बुराइयों के अंत के लिये समर्पित होता है। संत शब्द स्वयं इस अर्थ को प्रगट कर रहा है। संत तीन अक्षरों से मिलकर बना है (स+न्+त) अर्थात् स=समाप्त, न्=नष्ट करना, त=तम या अंधकार अर्थात् जो अज्ञानरूपी अंधकार (तम) को नष्ट करता है। संत की यही परिभाषा है। संत कितना उपकारी होता है इसी से प्रगट हो जाता है कि वह आपसे सिर्फ एक बार भोजन ग्रहण करता है। मगर उस भोजन का ऋण आपको कई बार उपदेश देकर चुका देता है। आप सिर्फ अपने स्वार्थ की सोचते हैं; परन्तु संत न सिर्फ अपने कल्याण की साधना करता है, जंगल के कल्याण की कामना भी वह सदा करता रहता है।

ऐसे ही तपस्वी धीर, वीर, गंभीर संत शिरोमणि आचार्य विशदसागर की जीवनचर्या है जिसमें स्व-पर कल्याण की भावना अभ्यंतर ओत-प्रोत है। आचार्यश्री के तप, त्याग का ही सुफल है कि विघ्न उनके नाम से ही पलायन कर जाते हैं। जिस कार्य में आचार्यश्री का सान्निध्य प्राप्त हो जाय वह निर्विघ्न संपन्न हो जाता है। विघ्न बाधायें आती तो हैं; पर संत के पावन चरण स्पर्श कर पलायन कर जाती हैं। ऐसा ही हुआ आचार्यश्री के सान्निध्य में हुये बरौदिया पंचकल्याणक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा समारोह के सुअवसर पर।

सन् 2000 में आचार्यश्री के पावन सान्निध्य में बरौदिया में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का आयोजन हुआ। कार्यक्रम अपनी रीति और शोभा के अनुकूल पूरी भव्यता के साथ चल रहा था। दिनांक 22-2-2000 को भयंकर तूफान आया। आँधी के उठते बवंडर, उड़ती धूल के साथ ही प्रलयकारी बारिस ने प्रलय का शोर मचाना शुरू कर दिया। सर्दों से कंपकंपाता मौसम ठिठुरन पैदा करती शीत लहर, हड्डियाँ जमा देने वाला शीत होठों के अन्दर दाँतों को टकराकर किटकिटाहट के स्वर पैदा कर रहा था। इतने विकराल और

डरावने दृश्य से सभी के मन में आशंकायें ही आशंकायें उत्पन्न हो रही थी कि कोई अनहोनी नहीं हो जाय। भयातुर भी इसे ठंड से हाथ-पैर काँप रहे थे; पर मन में लौ लगी थी प्रभु के काज को सानन्द और निर्विघ्न संपन्न कराने की, यही आशा लिये सभी रात्रि में ही आचार्यश्री के सन्मुख पहुँचे एवं बड़ी ही विनम्रता से हाथ जोड़कर विनय करने लगे। आचार्यश्री ने आशीर्वाद दिया— चिंता मत करो, घबराओ मत, कोईभी अनहोनी नहीं होगी। इष्टदेव भी कृपा करेंगे, ऐसा उन्होंने इशारे ही इशारे में सभी को समझाते हुए कहा; क्योंकि दिगम्बर जैन मुनि रात्रि में मुँह से बोला नहीं करते।

आचार्यश्री ने बाहर खड़े होकर नवकार मंत्र का जाप किया। जाप पूर्ण होते ही तूफान जो अपने पूर्ण प्रबल वेग से कहर ढाने को तत्पर था, पता नहीं कहाँ तिरोहित होने लगा। अचानक उसकी गति मंद पड़ गयी, विकरालता छंटने लगी। भय धीरे-धीरे कम होने लगा, देखते ही देखते सब कुछ सामान्य हो गया जबकि थोड़ी देर बाद पता चला कि थोड़ी ही दूरी पर कई वृक्ष धराशायी हो गये हैं। रास्ता जाम हो गया है; परन्तु प्रतिष्ठा स्थल एवं उसके आस-पास बाल बाँका भी नहीं हुआ। सब कुछ पूरी तरह से पूर्ववत् सुरक्षित रहा। संतों के त्याग, तपस्या एवं अनवरत ध्यान, साधना का यही सुफल होता है इसीलिये उनका आशीर्वाद तुरन्त फलित होता है।

बरौंदिया में आचार्यश्री के आशीर्वाद ने साक्षात् चमत्कार कर दिया। आया हुआ तूफान टल गया। होनी तो हुई, अनहोनी होते-होते रह गयी। धन्य हैं आचार्यश्री और उनकी तप, त्याग, साधना।

(54) क्या आँधी क्या तूफान, जब हो मन में संकल्प महान्—

इरादा करके ही बड़े से बड़ा या छोटे से छोटा काम पूरी लगन और निष्ठा से सम्पन्न हो पाता है। संकल्प के बगैर हम किसी कार्य को करें भी तब भी उसका फल नहीं प्राप्त होता। हाँ, यह बात अलग है कि हम संकल्प को मात्र विचारों में सीमित रखें या वचन वर्गणा से अभिव्यक्त भी कर दें; परन्तु उसके पूर्ण करने का कोई प्रयास नहीं करें तब संकल्प भी केवल संकल्प रह जाता है, कभी साकार नहीं हो पाता। रावण ने भी संकल्प किये थे कि वह स्वर्ग तक सीढ़ी बनवायेगा। लंका से भारत तक आवागमन हेतु पुल तैयार करवायेगा; परन्तु क्या हुआ ? एक छोटी सी भूल ने उसके जीवन की दिशा ही बदल दी। न रावण पुल बनवा सका न ही स्वर्ग तक सीढ़ियाँ लगवा सका। जीवन भर एक भूल सुधारने की बजाय भूल पर भूल करता गया। हर बार प्रकृति ने उसे उसके ही खून का अन्त कर चेताया भी कि अब भी भूल सुधार लो, मगर अभिमान के रथ पर आरूढ़ रावण ने अपने एक लाख पुत्र, सवा लाख हाथी सहित अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर दिया; परन्तु अपनी हठ छोड़कर सिर्फ एक भूल सुधारने को तैयार नहीं हुआ। परिजन, पुरजन सभी समझाते रहे, अच्छा-बुरा भी बताते रहे; परन्तु रावण का मान उसे झुकाने को तैयार नहीं हुआ। न रावण रहा न रावण का मान रहा, न ही रावण के संकल्प पूर्ण हो सके। हाँ, इतना अवश्य अपनी मृत्यु के पूर्व

रावण ने संदेश दिया कि “जीवन में जो भी संकल्प लो पहले उसे प्राणवत से पूरी लगन ईमानदारी से पूर्ण करो।” समय पर कुछ मत छोड़ो, समय किसी का नहीं होता, न जाने बाद में समय मिले या नहीं।

हम सभी संतों के पास जाकर संतों से कहते हैं- महाराज, हम नियम नहीं लेंगे, वैसे ही बगैर नियम लिये नियम का पालन करेंगे। भला यह कैसे संभव है, यह तो सामाजिक मर्यादाओं के भी पूरी तरह विपरीत है। बगैर समाज की स्वीकृति के तो पति-पत्नी का रिश्ता भी नहीं होता। इस रिश्ते की मर्यादा के लिये शादी जैसे पवित्र बंधन का विधान सृजित किया गया है। शादी के बगैर मात्र संकल्प लेकर समाज पति-पत्नी के रूप में रहने की मान्यता नहीं देता। इसी तरह हम सभी नियम लेकर ही नियम का पालन कर सकते हैं, बगैर नियम लिये हम कहें कि हम रोजाना एक बार भोजन करते हैं इसीलिये हमारा नित्य एकाशन होता है; परन्तु इस तरह एक बार ही भोजन करने मात्रा से एकाशन की संज्ञा नहीं मिल जाती। कई लोगों की आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर होती है कि उन्हें दूसरे समय खाना नसीब नहीं होता? क्या उन्हें एकाशनी माना जा सकता है? अथवा भिखारियों को एक समय खाना मिलने पर अथवा डॉक्टर द्वारा एक बार भोजन की अनुमति को एकाशन माना जाएगा?

इनमें से किसी भी परिस्थिति में एकाशन की संज्ञा प्राप्त नहीं होती; क्योंकि इन सभी उदाहरणों में भले ही क्रियात्मक समानता है; परन्तु आवश्यक तत्त्व ‘संकल्प’ का पूर्ण अभाव है इसीलिये खाते भी नहीं, भूखे भी रहते हैं, कष्ट भी सहते हैं, मगर संकल्प के अभाव में यह विचार नहीं रखते कि मेरा एकाशन है इसलिये मेरा दूसरी बार भोजन या भूख से क्या वास्ता? बल्कि इसके ठीक विपरीत यही विचारधारा मन में हिलोरे लेती रहती है कि काश, दूसरी बार भी भोजन कर पाता। यही विचार दर्शाता है कि भोजन छोड़ा नहीं, मजबूरी में छूटा है, भूख तो लगी है मगर ले नहीं सकते। ले भी कैसे किस्मत में है ही नहीं, इसीलिये परिस्थितियों ने बाँध रखा है एक बार खाने के लिये।

संकल्प सहित आप एकाशन क्या उपवास भी कर लें, आपको कोई हैरानी या परेशानी नहीं होगी। भूख का भाव बना रहे तब भोजन की याद बहुत सताती है, भूख की तरफ से हमारा ध्यान हट जाय तब भोजन सामने भी रखा हो फिर भी उसे ग्रहण करने की इच्छा नहीं होती। हो भी कैसे? उपयोग बदल जाता है, उस स्थिति में जिस कार्य को हम कर रहे उस कार्य में ही उपयोग रहे तब तो कार्य सफल हो जाता है। किन्तु जिस कार्य को हम कर रहे हैं हमारा उपयोग उस कार्य के स्थान पर अन्यत्र हो तो वह कार्य सही ढंग से नहीं हो पाता। ऐसा कार्य सफलता प्राप्त करने के पूर्व ही असफल हो जाता है। उपयोग के साथ ही शारीरिक क्रियाओं का भटकना स्वाभाविक है।

यहाँ प्रश्न भोजन ग्रहण करने अथवा ग्रहण नहीं करने का नहीं है, प्रश्न है यहाँ पर संकल्प ग्रहण करने का। भोजन तो द्रव्य है, संल्लेखना के समय साधु भोजन के रूप में मात्र तरल पदार्थ पर सीमित हो जाता

है, वह भी आम भाषा में भोजन ही कहलाता है; क्योंकि भोजन भी खाद्य, स्वाद, लेह, पेय चार प्रकार का होता है इसीलिये तरल पदार्थ पेय होने से भोजन का प्रकार है। किन्तु यह भोजन ग्रहण करते हुये भी वह संकल्प लिये रहते हैं कि यह भोजन मेरे लिये नहीं है, न ही मुझे इस भोजन की जरूरत है। भोजन शरीर की आवश्यकता है, शरीर ही भोजन को स्वीकार कर रहा है मैं नहीं। मैं तो अनादि, अनन्त, अखण्ड, आत्मा हूँ, आत्मा कभी कोई भोजन ग्रहण नहीं करती है। आत्मा के अन्दर तो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य है, उसे क्या जरूरत है भोजन की। किन्तु मानव इस तथ्य को जानता हुआ भी अज्ञानी बना फिर रहा है इसीलिये भूख और भोजन के पीछे पागल बना घूम रहा है। भूख और भोजन दोनों ही शरीर की जरूरत जानने और मानने वाला संत इसे ग्रहण करते हुये भी उपवास का लाभ प्राप्त कर लेते हैं। वह संकल्प ले लेते हैं कि वह प्राण छूटने तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे। फिर भी उन्हें शरीर की मजबूरी में भोजन लेना भी पड़े तब भी वह उपवास का पुण्य प्राप्त कर जाते हैं।

पुण्य यह फल श्रावक उस समय कभी प्राप्त नहीं कर पाता जब वह भोजन ग्रहण न करने का संकल्प नहीं लेता और वह भोजन के नाम पर कुछ भी लेने में पूरी तरह असमर्थ और असहाय होता है। असहाय अवस्था में भी उसकी भोजन के प्रति इच्छा, वांछा और लिप्सा उसे भोजन न लेते हुए भी भोजन ग्रहण करने का पात्र बनाती है तथा किसी व्रत या नियम के पुण्य से वर्जित करती है।

संत संकल्प सिर्फ आहारचर्या (भोजन) आदि के लिये ही नहीं लेते, उनकी तो हर चर्या, हर चर्चा संकल्प सहित होती है। कोई भी संत एक भी शब्द बिना प्रयोजन नहीं बोलता। संत बोलने की अपेक्षा मौन रहना अधिक आवश्यक मानते हैं, परन्तु हम यहाँ संकल्प के उस रूप की भी चर्चा करेंगे जो संत अपने चलते-फिरते भी ग्रहण कर लेते हैं। पूज्य मुनिवर विशदसागरजी भी नियम और व्रतों की पर्याय हैं।

(55) वचन की मर्यादा के परिपालक एवं रक्षक-

बात सन् 2000 बांसा में आचार्यश्री विशदसागरजी के वर्षायोग के पश्चात् की है। आचार्यश्री विहार करते हुये जबलपुर पहुँच रहे थे। आचार्यश्री के आगमन एवं आचार्यश्री के वात्सल्य की सुरभि आचार्यश्री के भी पहुँचने से पूर्व जबलपुर पहुँच चुकी थी। यही कारण था कि अतिशय क्षेत्र श्री मड़ियाजी पर प्रवास हेतु जबलपुर के बहुत से पदाधिकारी एवं श्रेष्ठीजनों के साथ श्रावक वर्ग आचार्यश्री से निवेदन हेतु पहुँच गया। आचार्यश्री ने भी धार्मिक भावनाओं को ध्यान में रखते हुये श्रद्धालुओं का आग्रह स्वीकार कर लिया।

आचार्यश्री की स्वीकृति मिलते ही हर्ष के साथ समाज के गणमान्य व्यक्तियों में प्रवास को लेकर भारी उत्साह झलकने लगा; किन्तु आचार्यश्री की स्वीकृति के पूर्व वही लोग आर्यिका संघ से भी श्री मड़ियाजी आगमन हेतु आग्रह कर चुके थे। इतना ही नहीं पूज्य आर्यिका माताजी का मंगल आगमन भी मड़िया में हो

गया। पूज्य माताजी के आगमन के साथ श्रेष्ठी जनों की खुशी के साथ-साथ चिंता बढ़ने लगी। लगता था अपने ही हाथों अपने अशुभ को आमंत्रित कर लिया।

बात भी ऐसी ही थी कि पूज्य माताजी को प्रथम आमंत्रण तो समाज ने दिया ही था। पूज्य माताजी का आगमन भी पहले हो गया; किन्तु इसी बीच पूज्य माताजी के आमंत्रण के पश्चात् एवं आगमन से पूर्व महाराजश्री को आमंत्रण एवं स्वीकृति भी समाज को प्राप्त हो गयी। अब प्रश्न उठा कि एक साथ दो संघों की व्यवस्था कैसे हो ? इसीलिये यह तय किया गया कि पूज्य माताजी आ चुकी हैं इसलिये आचार्यश्री को मड़ियाजी आने से रोका जाये।

लोगों ने आचार्यश्री से आगमन निरस्त करने हेतु अनुरोध किया; किन्तु आचार्यश्री भी वचन के पक्के थे इसीलिये सहर्ष कह दिया कि भाई महाव्रती का वचन मिथ्या नहीं होता। फिर यह भविष्यवाणी नहीं साधारण सी लोक व्यवहार की बात है। महाव्रती वचन तोड़कर झूठ का असत्य का साथ नहीं दे सकते और उन्होंने पुनः मड़ियाजी आने की अभिव्यक्ति कर दी। अब समाज श्रेष्ठियों के माथे पर चिन्ता की लकीरें पड़ गयी। कुछ लोगों ने विचार कर निश्चय कर लिया कि आचार्यश्री को आ जाने दो; किन्तु आहार के बहाने किसी भी अन्य कॉलोनी में प्रवास करा देंगे या शौच क्रिया के बहाने अन्य मंदिर में ही प्रवास करा देंगे। खबर आचार्यश्री के कानों तक भी पहुँच गई।

उस समय ब्रह्मचारी कमलेश भैया समाज के लोगों की चर्चा पूज्य आचार्यश्री तक पहुँचा देते थे; क्योंकि आचार्यश्री समाज के कल्याण की बात तो निजकल्याण के साथ सुनते थे। अकल्याण की बात मानना और उस पर चलना तो दूर सुनना भी पसंद नहीं करते थे। आचार्यश्री के वचनों की परीक्षा थी इसीलिये लोगों ने चौंके का भी प्रबंध नहीं किया और न ही आचार्यश्री के प्रवचन एवं आगमन आदि की व्यवस्था में ही रुचि दर्शायी किन्तु चारित्र के धनी तथा वचनों की मर्यादा की कीमत जानने, मानने एवं रखने वाले परम पूज्य आचार्यश्री विशदसागरजी महाराज के वात्सल्य, प्रेम, सद्व्यवहार, मधुरवाणी, उत्कृष्ट संबोधन एवं सहज सरस अपनेपने की भावना ने लोगों को बरवस अपनी ओर आकर्षित कर लिया। फिर क्या था वचन वर्गणा के प्रति समग्र समर्पण ने लोगों को आचार्यश्री के पावन चरण-कमलों में लौटने को मजबूर कर दिया एवं सभी बड़ी विनय एवं नम्रता से अपने कृत्य हेतु क्षमा माँगने लगे और आचार्यश्री के आशीर्वाद के पात्र बने।

लगभग ऐसी ही घटना आचार्यश्री के साथ भेड़ाघाट के मेला के दौरान भी घटी। पहले आचार्यश्री को आमंत्रित किया; किन्तु अन्य साधु के कारण फिर आगमन को रोकने का प्रयास करने लगे। सब कुछ वैसा ही पुनः घटता चला गया; किन्तु आचार्यश्री की सत्य पर अडिगता, आदर्शों के सम्मान तथा शरीर को मूल्यों की कीमत चुकाने के लिये किसी भी स्तर तक मोह का परित्याग ने लोगों को अपनी मानसिकता बदलने पर मजबूर कर दिया।

स्वाभाविक सी बात है, घर पर यदि कोई एक दिन भी क्या एक समय का भी खाना न खाये तब सभी चिंतित हो जाते हैं और यदि वही सदस्य दो-चार दिन भूखा रहे तब घर के सभी सदस्यों की भूख भी गायब हो जाती है। तब फिर जहाँ निःस्वार्थ को त्याग पर-स्वार्थ, परकल्याण को समर्पित सच्चे साधु परमेष्ठी का आहार यदि लगातार तीन-चार दिन न हो या अल्प हो तब समाज में भी स्वयमेव भय की भयानक लहर बहने लगती है। वही भय यदि व्यक्ति सदैव महसूस करे तब निश्चित ही कुमार्ग से बचेगा एवं सन्मार्ग पर चलेगा।

किन्तु मनुष्य की सोच संसारी है इसलिये वह संसार में चलने वाले विरोधी मार्ग पर शीघ्र चल पड़ता है। यह सोच क्यों प्रभावी हो जाती है ? किसके कारण प्रभावी हो जाती है ? और कौन है जो देता है इस गंदी सोच को संरक्षण ? कुछ यही महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुलभ उठे मेरे मन और मस्तिष्क में। मैं सोचता हूँ कि हम दो गृहस्थ साधर्मों भाई जब कभी भी आपस में मिलते हैं तब कितनी खुशी होती है हमें आपस में मिलने में। मिलन की खुशी में पलभर को तो हम एक दूसरे की गलतियों को, एक दूसरे की कमियों को एवं एक दूसरे की भूलों को भूल जाते हैं। इतना ही नहीं हमारे बीच उत्पन्न गलतफहमियों का भी हम मिलने के बाद निराकरण कर लेते हैं ताकि भविष्य में एक-दूसरे के प्रति आया मन का मैल मिट जाये एवं पैदा हुयी शंका या भ्रम भी समाप्त हो जाय। सचमुच यही होता है सच्चे मन से मिलने वालों को फिर अविश्वास में जीने की जरूरत नहीं होती। इतना ही नहीं आपस में आयी कड़वाहट भी समाप्त होने से एक दूसरे के अपमान, बदला एवं बुरा करने की भावना भी पलायन कर जाती है।

सोचता हूँ जब बुराइयों के विष से भरे गृहस्थों के सच्चे मिलन में इतनी खुशी होती है तब बुराई एवं क्रोध, मान, माया, लोभ जैसी बुराइयों के विष से रहित पवित्र मन, पवित्र आत्मा साधुओं के एक दूसरे के मिलने पर तो अमृत की ऐसी धारा बहती होगी कि जो भी उन पलों का पान सच्चे मन से करले उसको मुक्ति की राह उतनी ही सहज, उतनी ही सरल एवं उतनी ही निरामिष हो जायेगी। परन्तु बहुत जबर्दस्त धक्का लगता है जब धर्म के महत्त्वपूर्ण स्तंभ तथा समाज का धर्ममय दिशा दर्शन करने वाले एवं स्वकल्याण के मार्ग पर चलते हुये स्वकल्याण का मार्ग दूसरों को दिखाने वाले दिगम्बर जैन साधुओं के मिलने में खुशी के महकते पलों के स्थान पर दुःख की उमड़ती-घुमड़ती काली विषैली घटायें देखने को मिलती हैं।

क्यों होता है ऐसा ? ऐसा होने से रोकना क्या साधु और समाज दोनों की जिम्मेवारी नहीं है। दिगम्बर जैन आम्नाय में तीर्थकरों के अलावा भी स्वयं दीक्षित होने की धार्मिक विधि मान्य है, धर्मसम्मत है। एकल बिहारी एवं संघस्थ साधुओं की भी व्यवस्थाएँ आगम में मौजूद हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य शिवकोटि एवं आचार्य अमृतचन्द आदि आचार्य भगवन्तों ने भी साधुओं के भेद तो किये हैं; परन्तु साधुओं में भेद को

मान्यता नहीं दी। सभी साधु न तो ज्ञान में समान होते हैं, न चरित्र में एक समान हो सकते हैं और न ही तप में एक समान हो सकते हैं। यहाँ तक कि पुण्य का उदय भी सभी का एक समान नहीं हो सकता। तब फिर एक ही पद आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं की समानता में अन्तर क्यों ? एक की उपस्थिति दूसरे की उपस्थिति में साधक होने के बजाय बाधक क्यों ? एक का सम्मान दूसरे की उपस्थिति में सम्मान की वृद्धि न होकर अपमान का आधार बन जाये ऐसा क्यों ?

दिगम्बर जैन आमनाय का कोई भी साधु हो समाज तो उसे अपना आदर्श मानता है उसे पंच परमेष्ठी में गर्भित करता है। अपना आराध्य, अपनी श्रद्धा का केन्द्र मानते हुये अपने परम इष्ट के प्रति पूर्ण समर्पण करना चाहता है। जो कुछ भी उसके निर्मल मन में होता है वही रूप वह अपने पूज्य साधुओं को पाना चाहता है, देखना चाहता है। परन्तु उसके मन-मस्तिष्क में वेदना की लहर दौड़ जाती है जब वह अपने ही आदर्श, अपने ही पूज्य और अपने ही आराध्य गुरुओं को परस्पर कषाय से भरे भावों में देखता है। एक साधु जहाँ रुका है वहाँ पर दूसरा साधु आ जावे तब तो हर्ष और आनन्द की मात्रा बहना चाहिये; क्योंकि प्रत्येक साधु का अपना ज्ञान होता है, अपना दर्शन होता है और अपना चरित्र होता है। इसी के साथ यह भी नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक साधु की अपने आगम को एवं आध्यात्म को अभिव्यक्त करने की अपनी ही शैली होती है। इसीलिये कभी-कभी एक के द्वारा बतायी बात कम समझ में आती है तो दूसरे की अधिक एवं कभी-कभी एक की बात समझ में आ जाती है तो दूसरे की नहीं।

स्वयं ही स्पष्ट है कि साधु एक हो तो वह अपनी बात भले ही अपने अच्छे ढंग से रखता है; किन्तु दूसरे साधु के अभाव में हम कैसे निर्णय कर सकते हैं कि बात की गुणवत्ता बात की कीमत, बात का महत्त्व तथा बात में सत्यता कितनी है ? इसका अर्थ सीधा है कि साधु, साधु का पूरक है प्रतिरोधक नहीं है। साधुओं की संख्या कितनी है, यह भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि एक तो सभी साधु किसी विषय पर बोलते नहीं दूसरे बोलते भी हैं तब अपने गुण अथवा अपने से वरिष्ठ साधु की स्वीकृति लेकर। तब फिर एक संघ का सम्मान आज तक दूसरे संघ का सम्मान क्यों नहीं बन पाया ?

आज भी संघ से संघ में, साधु से साधु में उच्चता, लघुता, सम्मान, श्रेष्ठता की अघोषित प्रतिद्वन्द्विता यद्वा-तद्वा देखने-सुनने में आ जाती है। जो पूरी तरह बन्द होना चाहिये। सभी को सम्मान मिले, सभी के मत की कीमत हो तथा आगम के अनुभव चलने हेतु शास्त्रसम्मत दिशा-निर्देश का पालन अनिवार्य है। अनुशासन में न रहने वालों को सुधार हेतु श्रेष्ठ तथा वरिष्ठ साधुओं का मार्गदर्शक मंडल हो। जो अवसर पड़ने पर कठोर से कठोर प्रायश्चित्त अथवा दंडात्मक कार्यवाही कर साधु को पुनः साधुत्व पर लाने हेतु सक्षम हो।

एक तरफ तो जैन आगम कहता है कि एक साधु चारित्र से पतित हो तब भी उसे मिटाने की अपेक्षा सुधारने का मार्ग अपनाना चाहिये। दूसरी तरफ आगम को ही अपनी श्रद्धा और ज्ञान का आधार बताने वाले किसी साधु क्या संघ को ही साधु मानने से इन्कार करें अथवा उनके सम्मान को गिराने या उपेक्षित करने का प्रयास करें तब इस तरह के अप्रिय प्रसंगों से समाज में तो विघटन होगा ही साधुओं के बीच भी विघटन की दीवार खड़ी हो जायगी।

समाज में कभी भी विघटन को न तो सम्मान दिया गया न श्रेष्ठता को। फिर भी '**अपनी ढपली अपना राग**' अलापने वालों ने अपने को ही सत्य शेष सभी को असत्य घोषित करते हुए न जाने कितने भेद-प्रभेद जैन समाज एवं जैनधर्म में पैदा कर दिये हैं तथा अपने सम्मान को प्रभु के सम्मान से भी बड़ा मानते हुये स्वयं को स्वयंभू घोषित करने में भी न तो संकोच किया न शक। किन्तु हम सभी धर्म के सच्चे भक्तों को तो कृत संकल्प होना चाहिये कि हम कभी भी इन विघटनकारी तत्त्वों के चंगुल में नहीं आयेंगे तथा एक साधु की कीमत पर दूसरे साधु का अपमान या सम्मान भी नहीं करेंगे अपितु साधु को साधु ही समान रूप से स्वीकार करेंगे।

धन्य धन्य हैं, गुरुवर आचार्य वात्सल्य सम्राट विरागसागरजी महाराज जिनके द्वारा दीक्षित गुरुवर आचार्य वात्सल्य दिवाकर, मानवता विभूषण श्री विशदसागरजी महाराज एवं अन्य समस्त वह वात्सल्यमूर्ति आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण जो सदैव समान पदधारी का तो सम्मान करते ही हैं, अपने से श्रेष्ठ या उच्च पदधारी को बहुमान प्रदान करते हैं एवं अपने से लघु पदधारी का भी समुचित सम्मान करने में संकोच नहीं करते।

यही कारण है कि जब भी वात्सल्य के इन महान् सागरों का सम्मान सहित मिलन होता है तब खुशी मिश्रित आश्चर्य के आँसु आखों में सहज ही आ जाते हैं एवं सम्मान के पात्र साधु के साथ यथोचित सम्मान नहीं होता तब दुःख एवं क्षोभ मिश्रित पीड़ा से हृदय भर आता है; किन्तु मैं इस विषय पर अधिक नहीं बोलूँगा बल्कि इसके समाधान की अपेक्षा उनसे ही रखूँगा जिनसे सभी अपेक्षा रखते हैं एवं जो प्रत्यक्ष संबंधित हैं इस विषय से। ईश्वर करे कि सभी के अन्दर विवेक सहित निर्णय करने का मानवतावादी वात्सल्य, प्रेम एवं प्यार भरा दृष्टिकोण हो। भेदभाव रहित पर को सम्मान, बहुमान का भाव हो।

अब इस विषय से आगे चलता हूँ, कुछ छोटी-छोटी घटनाओं की ओर। बड़ी विषयवाली घटनाओं का परिचय मात्र देना समाज के प्रति अपना उत्तरदायित्व मानता हूँ इसीलिये समाज के समक्ष क्या छोटा, क्या बड़ा सभी विषय उठाने का प्रयास करता हूँ एवं इन विषयों में आये विष को निरामिष करने की पूज्य साधुगणों एवं समाज से अपेक्षा करता हूँ।

आचार्यश्री का अलवर में चातुर्मास चल रहा था। एक ऐसी महिला जो शादी के बाद एकदम शांत सी हो गयी थी न किसी से बोलना, न बतियाना, न ही किसी से किसी भी प्रकार का हास्य-परिहास करना, न ही किसी हँसी की बात या प्रसंग पर हँसना। हमेशा अपने ही ख्यालों में खोये रहना उसकी आदत बन गयी थी। रामगढ़ उसका पीहर था। माता-पिता आचार्यश्री के पास उसे लेकर आये तथा दर्शन करके बड़ी दीनतापूर्वक अपने पुत्री की दुखद दास्ता बतायी। आचार्यश्री ने सारी बात सुनकर स्नेह भरा आशीर्वाद उसे प्रदान किया। एक मंत्र भी प्रतिदिन जाप हेतु दिया। आश्चर्य की बात कि दूसरे दिन से ही वह दूसरों से हँस-हँसकर बोलने-बतियाने लगी।

इसी प्रकार एक स्त्री घर-परिवार में सदा बीमारी से घिरी रहती है। स्वयं तो बीमारी का कष्ट झेल रही थीं, पूरा परिवार भी उनकी बीमारी के कारण दुःखी रहता था। अलवर में जिस दिन चातुर्मास की स्थापना हुई उसी दिन से वह स्वस्थ हो गई तथा नियमित गृहस्थ कार्य तथा धार्मिक आराधना करने लगी। स्वयं सुखी हो गयी एवं परिवार के सुख का कारण बन गयी; परन्तु सभी के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब आचार्यश्री के चातुर्मास का निष्ठापन हुआ तथा आचार्यश्री शिवाजी पार्क पहुँचे और माताजी पुनः बीमार हो गयीं।

अलवर के ही नितिन भैया के पिताजी किसी कार्यवश ग्वालियर गये हुये थे कि अचानक लापता हो गये। सभी जगह खोज-बीन की, सभी रिश्तेदारों, परिचितों एवं संबंधियों से सम्पर्क किया; किन्तु कोई भी सुराग नहीं मिला। सारी कोशिशें व्यर्थ हो रही थी, उसी समय आचार्यश्री के पास घरवालों ने अपनी विपत्ति का वृत्तान्त सुनाया। आचार्यश्री ने समता भाव धारण करने एवं खोज में सफलता का आशीर्वाद दिया, जाप मंत्र दिया। दूसरे ही दिन उनके मिलने का समाचार मिल गया।

फिर क्या था, आश्चर्यचकित करने वाली इन घटनाओं से लोग प्रभावित होकर और अधिक संख्या में आने लगे जबकि आचार्यश्री स्वयं संयोग-वियोग, पुण्य-पाप एवं कर्मों के शुभ-अशुभ फल एवं फलोदय को समझाकर सभी को सच्चे अध्यात्म एवं आगम से परिचित कराने लगे एवं सभी से इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग में समता भाव धारण करने को प्रेरित करने लगे।

ऐसी ही विस्मयकारी घटना केकड़ी में घटी। इन्दु नाम की एक महिला बहुमुखी प्रतिभा की धनी थी। लिखना-पढ़ना तो उसका नित्यकर्म था, गीत-संगीत में भी उसे बहुत आनन्द आता था। स्वयं अच्छी कविता-गीत लिखना, कहना, मधुर गीत गाना उसे बहुत भाता था। आचार्यश्री के बारे में सुना तो वह सीधे दर्शनों को चली आयी। आचार्यश्री के वात्सल्य एवं करुणाभाव से इन्दु इतनी अभिभूत हुई कि आचार्यश्री को अपना गुरु बना लिया; परन्तु कहते हैं कर्म किसी को नहीं छोड़ता, जब स्वयं तीर्थकर के जीवन में भी कर्मों ने कुठाराघात किया हो तब इन्दु जैसी महिला को वे कैसे छोड़ते।

पूर्व कर्म का ऐसा अशुभ उदय हुआ कि गले में तेज दर्द उभर आया, गाना बजाना तो दूर खाना-पीना भी दूभर हो गया। दिल्ली, जयपुर जैसे बड़े शहरों में जाकर बड़े-बड़े डॉक्टरों को दिखाया; परन्तु सभी ने दर्द से मुक्ति का एकमात्र उपाय ऑपरेशन ही बतलाया और ऑपरेशन के बाद भी इस बात का आश्वासन नहीं दे रहे थे कि पुनः पूर्व की भाँति इन्दु गाने लगेगी। इन्दु पर तो वज्रपात हो गया, उसकी जीवन की सबसे बड़ी खुशी उससे दूर चली गयी। इस सदमे को बर्दाश्त करना बहुत मुश्किल हो लगा। बुरी तरह से परेशान, हताश और निराश इन्दु आचार्यश्री के पास अजमेर वर्षायोग की स्थापना के समय आचार्यश्री की शरण में पहुँच गई।

सारे परिवार ने पूरी भक्तिभाव से आचार्यश्री की पूरी विनय व मर्यादा सहित वंदना की तथा आचार्यश्री के समक्ष सारे प्रसंग को रखते हुये इन्दु के नेत्रों से आँसुओं की अविरल धारा बह गयी। आचार्यश्री ने सभी को सान्त्वना देते हुए कहा कि इन्दु के बुरे कर्म उसके आँसुओं के माध्यम से खिरना शुरू हो गये हैं। परिणामों में ऐसी ही निर्मलता आयी तो निश्चित ही अशुभ कर्मों को खिरना ही पड़ेगा। हाँ, सफलता में समता भाव रहे, अहं बुद्धि प्रवेश नहीं कर पाये, सारे दुःख अवश्य दूर होंगे।

आचार्यश्री के कल्याणकारी आशीर्वाद में छुपे रहस्य को इन्दु ने पूरी तरह न सिर्फ समझा अपितु मन ही मन हर स्थिति में हर सुख, हर दुःख में समता भाव धारण करने का निश्चय कर लिया। इसी के साथ उसने प्रभु के ध्यान को स्वयं में आत्मसात ऐसा किया कि बुरे परिणाम उसके मन से पलायन करने लगे। नित्य प्रभु की मन से भक्ति, पूजन, स्वाध्याय यथाशक्ति इन्दु ने प्रारम्भ कर दिया। गुरुजी की आज्ञा लेकर थोड़ी सी दवा वैद्यजी की लेना भी प्रारम्भ कर दिया। जितना-जितना ध्यान वह भगवान का करती उतना-उतना अपने अन्दर खोती चली जाती। न किसी का होश रहता न ही स्वयं का। बस, ध्यान रहता तो पंच परमेष्ठी प्रभु का।

अधिक दुःख होता तो सोचती- मैंने भी किसी को इतना दुःख दिया होगा। मुझे जो कष्ट आ रहा है उसी कष्ट को सहना उसके लिये कितना कठिन रहा होगा। मुझे तो सत्य का मार्ग दिखाने वाले गुरुवर प्राप्त हो गये हैं; परन्तु उस अभागे प्राणी के परिणाम न जाने मुझ दुष्टा के कारण कितने संक्लेशित हुये होंगे। यही सोचकर प्रायश्चित्त के भाव ऐसे उमड़ते कि आँसू बनकर बह जाते। इन्दु को लगता कि काश ! मुझे वह अवसर मिल जाता कि अपने से दुःखी उस प्राणी का दुःख दूर कर देती।

इन्दु के प्रायश्चित्त की प्रचण्ड अग्नि ने दुष्ट कर्मों को ऐसा जलाया कि शुभ कर्म के उदय ने दस्तक दे दी। गुरु की कृपा काम कर गयी, इन्दु जो डॉक्टरों एवं भौतिक इलाज से निराश थी, पूर्ववत् गाने लगी, स्वस्थ हो गई।

संतों के शुभ आशीर्वाद से सब कुछ संभव है। हम सभी के लिये जो कार्य असंभव अथवा दुःसाध्य होता है, संतों की चरण-रज मिलते ही, असंभव, संभव हो जाता है। दुःसाध्य कार्य साध्य और सरल हो जाता है। ऐसा कार्य जब-जब होता है लोगों के आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। 1997 में देवरी में चातुर्मास चल रहा था। चातुर्मास के पश्चात् विहार करते हुये आचार्यश्री जिला नरसिंहपुर पहुँचे। लोगों की खुशी का ठिकाना नहीं रहा। वाचना का समय आ रहा था, सभी की इच्छा आचार्यश्री के सान्निध्य में वाचना की भावना बलवती हो उठी। सभी ने मिलकर आचार्यश्री से वाचना हेतु अनुरोध किया एवं श्रीफल समर्पित किया। आचार्यश्री ने भी मुस्कुराते हुये वात्सल्यपूर्वक वाचना हेतु मंगल आशीर्वाद दे दिया।

आशीर्वाद वाचना हेतु आचार्यश्री से खुशी-खुशी ले तो लिया मगर एक ऐसी समस्या थी कि जिसका दुःख सभी को शाल रहा था। समस्या भी ऐसी कि जिसके कहने पर आचार्यश्री के विहार का भय लोगों के मन समा गया था; परन्तु समस्या ऐसी थी कि जिसे टाला भी नहीं जा सकता था। खासतौर पर महाव्रती की चर्या से प्रत्यक्ष संबंध हो जिसका ऐसी स्थिति में झूठ बोलने से भी काम नहीं चलने वाला था। झूठ बोलने से समाधान भी नहीं होता, झूठ का दोष ऊपर से और लग जाता। इसलिये सभी मुँह पर उस समस्या को नहीं लाते थे।

आचार्यश्री का मनोविज्ञान काम कर गया। आचार्यश्री को लगा कि कुछ न कुछ गड़बड़ जरूर है, तभी तो पहले भारी उत्साह प्रगट करने वाला जनसमूह उत्साह तो अभी भी प्रगट कर रहा है; किन्तु थोड़े ही समय बाद उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगती थी। कभी-कभी तो बातचीत में लोगों का ध्यान उचटता मगर कुछ पूछो तो बताने से कतरा जाते। हाँ, कुछ नहीं महाराज ! बस यूँ ही, कोई बात नहीं। आदि छोटे-छोटे टुकड़ों में बात करते तो आचार्यश्री को लगता कि कोई बात अवश्य है जो लोगों के दिल में; परन्तु जबान पर नहीं आ रही। शायद किसी अज्ञात भय से भयभीत ये उदास चेहरे मजबूरी की हँसी हँसते हैं।

एक दिन आचार्यश्री को पता पड़ा कि बस्ती में मात्र एक ही कुआँ है, वह भी गर्मियों में खाली हो जाता है। चौका की व्यवस्था बगैर कुए के जल के संभव नहीं थी, यही बात लोग इसलिये नहीं कह रहे थे कि कहते ही आचार्यश्री का विहार निश्चित है। परन्तु चर्चा में बात आ ही गयी तब लोगों के चेहरे से खुशी एकदम गायब हो गयी, मगर आचार्यश्री ने मंद-मंद मुस्कुराते हुये सब कुछ ठीक होने का आशीर्वाद दिया तब लोगों के मुख पर सहज मुस्कान बिखर गयी।

आचार्यश्री का आशीर्वाद फलीभूत हो गया, कुए में भरी गर्मी में आचार्यश्री ने आशीर्वाद देकर कहा- गंधोदक डालकर प्रयत्न करो तो पानी आ सकता है। लोगों की जबान पर मात्र आचार्यश्री की जय-जयकार के कुछ नहीं था। हो भी क्यों न ? जो काम लोगों को संभव लग ही नहीं रहा था, पूरी तरह लोगों के लिये

सामर्थ्य से परे था वही कार्य लोगों की नजर के सामने देखते ही देखते ऐसे हो गया मानो उसे करने में कोई विशेष बात नहीं है। परन्तु जब भीषण गर्मी प्रारम्भ हुयी तथा पशुओं के क्या लोगों के गले भी प्यास से सूखने लगे तब कहीं जाकर लोगों को गर्मी की ऊष्ण भरी तपन में कुए के जल का महत्त्व समझ में आया

कुए में भरे जल के साथ ही लोगों की समझ में भली-भाँति आ गया कि संतों के मंगल आशीर्वाद से सचमुच सब कुछ संभव है। हाँ, आशीर्वाद का पात्र वही है जिसके अन्दर साधुओं के प्रति विनय, मर्यादा सहित सच्चा समर्पण हो एवं गुरु की सही पहचान है।

साधु-संतों के साथ कभी-कभी ऐसी घटनायें घटती हैं कि जो घटना यदि हम गृहस्थों के साथ घट जाये तब बहुत बड़ी हिंसा का कारण बन जाय। परन्तु धन्य है वह सरल हृदय साधु-संत और अनुकरणीय है उनकी शांति और सहनशीलता जो वह बड़ी से बड़ी घटना को सहज भाव से सही दिशा में ऐसा मोड़ देते हैं कि शत्रु भाव धारण करने वाले भी शत्रुता छोड़ मैत्री भाव धारण करने को विवश हो जाते हैं। लोगों को जहाँ भय पैदा हो जाता है कि अब तो हिंसक क्रान्ति होकर रहेगी मगर जब असीम शांति छा जाती है तब सचमुच लोगों के मन आश्चर्यजनक ढंग से शांत हो जाते हैं।

एक बार पूज्य गुरुदेव आचार्यश्री का विहार चल रहा था। साथ में समाज के व्यक्ति चलते हुए विहार करा रहे थे एवं गुरु की भक्ति का यथाशक्ति पुण्यार्जन कर रहे थे। अभी नगर से 4-5 कि.मी. विहार हुआ था कि लोगों का एक बहुत बड़ा झुण्ड आया तथा गुरुवर को गाली देते हुये कहने लगा- नंगा कहीं का, लुच्चा-लफंगा। साथ चलने वाले भी कम नहीं थे तुरन्त आक्रोश में भरकर झगड़ा और मार-पीट को तैयार हो गये; किन्तु आचार्यश्री के इशारे मात्र से गुस्सा पीकर रह गये। कुछ भी नहीं कर सके। मन ही मन ईंट का जवाब पत्थर से देने को उबलते रहे मगर गुरुवर की उपस्थिति एवं आज्ञा न होने से बंधकर रह गये।

थोड़ी देर बाद गुरुवर ने माहौल में गर्मी कम होते ही कहा, आप लोग क्यों झगड़ा करते हैं ? इन्होंने सत्य ही तो कहा है, नंगा ही कहा न। कौन है नंगा ? अरे जिसके पास 'नं' माने नहीं है, 'गा' मतलब गाली अर्थात् जिसके पास गाली तक देने को नहीं हो वह नंगा ही तो है। फिर दिगम्बर साधु तो नग्न ही होते हैं; क्योंकि वासना के प्रतीक वस्त्र नहीं रखते। दिशायें ही उनके लिये वस्त्र का कार्य करती हैं। इसीलिये वह नग्न रहते हैं तब नग्न को नंगा कह दिया इसमें बुराई ही क्या ? सत्य को सदा स्वीकार करना सीखो, इसी में भलाई है।

गुरुवर ने पुनः कहा- द्वितीय शब्द भी इन्होंने सत्य कहा- लुच्चा। जो अपने केशों का लुंचन करे वही तो लुच्चा है। कल्याण पथ पर चलने वाला यदि लुच्चा नहीं अर्थात् केशों का स्वयं लोंच नहीं करता तब वह शरीर के प्रति मोही है। एक मोही प्राणी को मुक्ति मिल ही नहीं सकती। आप सभी तो लुच्चा नहीं हैं न क्योंकि आप सभी परकल्याण की बात सोचते हैं या सांसारिक स्वार्थ और साधनों के संग्रह की तभी तो आप अपने

इन केशों का लुंचन करना तो दूर सफेदी तक नहीं आने देते। भला सत्य को इतनी सफाई से ध्याने वाले हम जैसे लुच्चा कैसे हो सकते हैं ? आचार्यश्री ने बात कुछ इस तरह कही कि लुच्चा कहने वाले भी खिलखिलाकर हँस पड़े तथा आचार्यश्री की ओर टकटकी लगाकर देखने लगे।

अन्तिम शब्द इन्होंने कहा था— लफंगा, यह भी तो पूरी तरह सत्य है। झुककर चलने वाला पहले तो मान कषाय से रहित सरल स्वभावी होगा। मार्दव धर्म के साथ-साथ अहिंसा धर्म का भी पालक होगा; क्योंकि प्राणीमात्र को देख-देखकर वही बचा सकते हैं जो झुककर उन्हें देख सकते हैं। इस सबसे अलग-अलग आराध्य की भक्ति भी वही कर सकता है जो झुकना जानता है। अरे भाई, आप लोग हो न हों सच्चा साधु तो भगवान के प्रति लफंगा ही होता है। मैं भी भगवान का भक्त लफंगा हूँ। आप लोगों को कोई परेशानी। आचार्यश्री के मुखकमल से मुखरित अमृतवाणी लोगों के हृदय में ऐसी उतरी कि सभी गुरुवर के चरणों में लौट गये तथा अपने अपकृत्य के लिये खेद खिन्न होकर क्षमायाचना करने लगे। आचार्यश्री ने उन्हें कल्याणमस्तु कहकर विहार जारी रखा।

मानवोचित घटनाओं के साथ-साथ कुदरती घटनाओं की भी साधु-संतों के जीवन में कमी नहीं होती। घटनाओं के बारे में जब हम नहीं सोच पाते तब साधु-संत तो उनकी परवाह भी नहीं करते; किन्तु घटनायें जब घटती हैं तब साधुओं के भी पूर्व भव के पुण्य पाप प्रतीक बनाकर उभरती हैं। पुण्य के फल के रूप में घटती घटनायें साधु को जन-जन के हृदय में विराजमान कर अपने चरणों में सभी को नतमस्तक कर देती हैं। साथ ही भारी यश एवं ख्याति लाभ प्रदान करती हैं जबकि पाप के उदय में घटने वाली घटनायें साधु के साधुत्व पर ही प्रश्न-चिह्न बनकर खड़ी हो जाती हैं।

आचार्यश्री मडावरा वर्षायोग के बाद महरौनी में प्रवास करते हुये ग्राम बांसा (तारखेड़ा) पहुँच गये। लोगों ने भारी उत्साह से गुरुवर की अगवानी की एवं चातुर्मास हेतु अनुरोध किया। गुरुवर ने भी वात्सल्य भाव से लोगों को वर्षायोग की स्वीकृति देकर उत्साह चौगुना कर दिया। बड़े जोर-शोर से चातुर्मास स्थापना की तैयारी होने लगी। पत्रिकायें छपी, आमंत्रण पत्र भेजे गये, विद्वानों, पंडितों एवं व्रतियों को भी चातुर्मास स्थापना के दिन ससम्मान लाने का प्रबंध किया गया।

परन्तु जब चातुर्मास स्थापना चल रही थी तथा मांगलिक क्रियायें पूर्ण विधि विधान से संपन्न हो रही थी उसी समय बिना बुलाये, बिना पत्रिका पहुँचे और बगैर आमंत्रण कार्ड मिले लाखों मधुमक्खियों का झुंड आचार्यश्री के कमरे के बाहर छाते के रूप में आकर स्थित हो गया। और पूरे वर्षायोग में बगैर किसी से बोले, बगैर किसी को परेशान किये चातुर्मास स्थापना पूर्ण होने तक स्थिर रहा तथा जिस दिन चातुर्मास निष्ठापन हो रहा था तथा पिच्छी परिवर्तन का कार्य पूर्ण हुआ कि एकाएक सारी की सारी मधुमक्खियाँ पता नहीं उड़कर कहाँ चली गयीं।

यह आश्चर्यजनक घटना देखने वाले आचार्यश्री के एक भक्त के जीवन में भी एक ऐसी अद्भुत घटना घटी कि देखने, सुनने वाले सभी दंग रह गये। हुआ यह कि केकड़ी निवासी मुकेश भैया आचार्यश्री के अनन्य भक्त थे। जब भी इच्छा हुई आचार्यश्री के दर्शनार्थ चल पड़ते। घर की स्थिति-परिस्थिति कुछ भी रहे इससे उनके आवागमन में कभी बाधा नहीं पड़ती। पत्नी का स्वास्थ्य खराब रहता था। कई जगह इलाज कराया, लोगों ने बताया वह किया मगर मर्ज बढ़ता गया। अब तो बड़े शहरों के नामी-गिरामी अस्पतालों के ऊँचे डॉक्टरों के चक्कर लगाने को मजबूर हो गये। परेशानी बहुत बढ़ गयी।

अन्त में वही हुआ जिसका डर था, डॉक्टरों ने बीमारी का उपचार मात्र ऑपरेशन बतलाया। हारकर ऑपरेशन के लिए तैयार हो गये, ऑपरेशन की तारीख भी निश्चित हो गई। अचानक मुकेश को आचार्यश्री की याद आयी और सीधे आचार्यश्री के दर्शन हेतु पहुँच गये। आचार्यश्री को नमन कर स्वाभाविक रूप से अपने समाचार सुनाते हुये पत्नी के ऑपरेशन की बात भी बता दी। आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए वात्सल्य भाव से कहा- इसकी जरूरत नहीं पड़ेगी। सुनकर मुकेश आश्चर्य भरी परेशानी से भर उठा; परन्तु कुछ नहीं कहा, तब आचार्यश्री को उसकी व्यथा एवं दुविधा समझते देर न लगी तथा 'घबराओ मत, प्रसन्न रहो' कहकर जाने की आज्ञा दी। ऑपरेशन के ठीक पूर्व डॉक्टरों ने रिपोर्ट देखी तो हैरान रह गये। रिपोर्ट तो पूरी तरह सामान्य थी, ऑपरेशन की जरूरत नहीं थी। सो मरीज की छुट्टी कर दी, मुकेश की पत्नी पूरी तरह स्वस्थ हो गयी मानो आचार्यश्री का आशीर्वाद अमृत बनकर काम कर गया। मुकेश का मन कहाँ मानने वाला था, पहुँच गया सपरिवार गुरु चरणों में पुनः आशीर्वाद के लिये।

भूत-प्रेत-शैतानी आत्माओं से अक्सर लोग भयभीत होते हैं। हाँ, कुछ लोग इनका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते इसलिये इनसे भयभीत होने का प्रश्न ही नहीं होता; किन्तु जब इन्हें न मानने वालों के जीवन में भी ऐसा कुछ घट जाता है जो इनकी समझ से बाहर तो होता ही है, इनका वश भी उस घटना पर नहीं होता। उस समय भी अपने अहं की तुष्टि के लिये सत्य स्वीकार नहीं करते ताकि मानव से पृथक् आत्मा का अस्तित्व कहीं स्वीकार न करना पड़े। फिर भी घटना को संयोग या प्रकृति की व्यवस्था अथवा किसी वस्तु या व्यक्ति के अंगों में गड़बड़ी बताकर सत्य से मुँह फेरते हैं। हाँ, अस्तित्व स्वीकार करने वालों को भी इन व्यन्तरो, भूतों, प्रेतों से भयभीत होने की जरूरत नहीं; क्योंकि यह भटकती आत्मा आवश्यक नहीं कि हमारा बुरा ही करे। यदि हमारे शुभकर्म का उदय होगा तब यही आत्मा हमारे दुःख को सुख में बदलने में भी सहायक होती हैं।

महाव्रती समाधि के समय भी आगम के अनुसार अड़तालीस महाव्रतियों के उनकी समाधिकाल में सहयोग, देख-रेख, संबोधन, सेवासुश्रुषा की व्यवस्था है। ताकि समाधि में लीन साधु के परिणाम निर्मल रहें तथा भटककर कुदेव या पशु अथवा नरक गति के पात्र न बन जायें। ऐसा ही सेवा और संबोधन का

संयोग आचार्यश्री के समक्ष अनायास आकर उपस्थित हो गया। आचार्यश्री निवाई चातुर्मास पूर्णकर विहार करते हुए पीपलू से झारना पहुँचे तथा भक्तों के विशेष अनुरोध पर कुछ दिन वही प्रवास किया। यह स्थान टोडारायसिंह के पास है। प्रवास के दौरान ही मालपुरा से आचार्य विवेकसागर का अनुरोध आया कि आचार्यश्री जिस अवस्था में हो उसी अवस्था में शीघ्र मालपुरा आ जाये। मालपुरा में मुनि संतोषसागर की समाधि चल रही है। पता नहीं मुनिवर के जीवन के इन अन्तिम क्षणों में किसका संयोग और किसकी वाणी मुनिवर के परिणामों को निर्मलता में स्थिर रखने में सहायक हो।

वात्सल्यमूर्ति आचार्यश्री विशदसागर को समाचार मिलते ही विहार हो गया तथा तेज गति से त्रयगुप्ति का परिपालन करते हुये आचार्यश्री बगैर विश्राम किये मालपुरा पहुँचे तथा समाधि में लीन साधु की सेवा में तल्लीन हो गये तथा तरह-तरह के आगमोक्त दृष्टान्त देते हुये मुनिवर को परिणामों में निर्मलता एवं स्थिरता लाने में सहायक बने। दिन में 3.30 बजे मुनिवर की समाधि सम्पूर्ण हुई। देह का परित्याग कर आत्मा भावी भव को धारण करने हेतु प्रस्थान कर गयी।

जनसाधारण तो एक साधारण मानव की मृत्यु पर भी एकत्रित हो जाता है फिर जहाँ पर महाव्रती महासमाधि को प्राप्त हुये हैं। वहाँ उनकी पार्थिव देह को देखने वालों की संख्या का अंदाज लगाना भी मुश्किल था; किन्तु तभी एक बालक महाराज के पार्थिव शरीर को देखकर डर गया तथा घर जाकर कहने लगा कि सभी को मर जाना है, मैं भी मर जाऊँगा अब क्या होगा। बालक के बोल और विचित्र हालत देखकर घरवाले उसे आचार्यश्री के पास ले आये। आचार्यश्री ने बालक को देखकर मंगल आशीर्वाद दिया तथा कहा कि बालक अमन को कुछ नहीं होगा, पूरी तरह अमन चैन से रहेगा। आचार्यश्री की मंगलवाणी सुनकर अमन के पिता प्रवीणकुमार को तसल्ली हुई। मगर भीतर ही भीतर भय भी बना रहा जिसे आचार्यश्री ने ज्ञान से जान लिया तथा तुरन्त कहा— पूरी तरह निश्चिन्त रहो अब अमन को कुछ भी नहीं होगा। सचमुच ऐसा ही हुआ, अमन का अमन-चैन स्थायी रूप से अमन के साथ हो गया। वास्तव में अशुभ कर्म जितने समय का होता है, दुःख भी उसके बाद एक पल नहीं ठहर सकता। फिर दुःख चाहे मानव का दिया हो या भूत-प्रेत का। इसीलिये भूत-प्रेत से नहीं बुरे कर्म से डरना चाहिये।

कुदेव, भूत-प्रेत व्यन्तर ही सच्चे साधुओं को नमन करते हों, ऐसा नहीं है। सुदेव भवनवासी, ज्योतिषी एवं वैमानिक सभी तरह के देव, सच्चे साधुओं को नमन करते हैं। वीतरागी साधुओं का वह सिर्फ सम्मान ही नहीं करते वीतरागी साधुओं के अपमान को भी वह कदापि बर्दाश्त नहीं करते। देव-शास्त्र-गुरु जो वीतरागी हैं उनकी सेवा करना अपना अहोभाग्य मानते हैं। सत्य की रक्षा हेतु सदैव तत्पर रहते हैं। इतना ही नहीं भूलों का अहसास भी वह कराने से नहीं चूकते एवं भूल करने वालों को दंडित करने में भी हिचकिचाहट नहीं रखते; किन्तु दण्डित करने से पूर्व सुधार का अवसर अवश्य देते हैं।

आचार्यश्री के सामने भी ऐसी घटना घटी। रहली चातुर्मास पूर्ण हुआ तथा गुरुवर आचार्यश्री सहजपुर विहार करते हुए पहुँचे। सहजपुर में एक संभ्रान्त व्यक्ति थे— छोटे बाबू, जिन्होंने एक चैत्यालय में दर्शन हेतु श्रीजी को विराजमान किया था; परन्तु बढ़ती असुविधा के कारण नया मंदिर बनवाया जिसकी प्रतिष्ठा एवं वेदी प्रतिष्ठा के लिये विधान का आयोजन किया गया था। पांडाल में यज्ञ-विधान आदि धार्मिक संस्कार पूर्ण करने के लिये चैत्यालय से श्रीजी को ले जाया गया; परन्तु इस बात को ध्यान में रखते हुये कि वेदी खाली पूरी तरह नहीं की जाती इसीलिये एक श्रीजी की मूर्ति वेदी पर विराजमान रहने दी गयी; परन्तु बात बिल्कुल उल्टी पड़ गयी। मंदिर की वेदी पर सभी मूर्ति को ले जाने और मात्र एक मूर्ति को छोड़ने से वहाँ के रक्षक देव नाराज हो गये एवं छोटे बाबू के सिर पर आकर बोलने लगे कि हमारे साथी को अकेला क्यों छोड़ दिया। नये मंदिर में उन्हें भी हमारे साथ विराजमान करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा। बस, इतना कहकर वह चले गये।

दूसरे दिन भी ऐसी ही घटना घटी। विधि-विधान से सम्पूर्ण क्रियाओं को करने के बाद समाज वाले प्रतिष्ठित वेदी पर श्रीजी को स्थापित अर्थात् विराजमान करने के लिये ले जाने लगे। उसी समय समाज के एक व्यक्ति के ऊपर देव की सवारी आ गयी तथा उसने बताया कि महाराजश्री के होते हुए उन्हें बिना बुलाये मूर्तियाँ स्थापित नहीं की जा सकती। इसी के साथ ही देव ने कड़कते हुए प्रश्न किया कि यहाँ का प्रतिष्ठाचार्य कौन है, जो बगैर विवेक के ये कार्य करवा रहा है। क्या उसे नहीं पता कि स्वयं वीतरागी, महाव्रती महाराज जब विराजमान हैं तब उन्हें उचित सम्मान देकर क्यों नहीं बुलाया? क्यों साधु का अपमान कर अपनी मनमर्जी कर रहा है। शायद अपना अंजाम नहीं जानता इसीलिये किसी के सम्मान से अधिक अपने ज्ञान पर गुमान कर रहा है।

तभी वहाँ उपस्थित पठावाले पंडितजी ने कहा— मैं ही हूँ प्रतिष्ठाचार्य जो यहाँ पर प्रतिष्ठा कार्य करवा रहा था। इस प्रतिष्ठा कार्य में वीतरागी देव, शास्त्र एवं गुरु की सिर्फ प्रतिष्ठा ही नहीं सम्मान पर भी पूर्ण ध्यान दिया गया है। फिर भी यदि मुझसे भूल हो गई हो तब मुझे माफ किया जाये।

पंडितजी के क्षमायाचना की बात कहने पर भी मूर्तियाँ चलायमान नहीं हो रही थी, अचल हो गयी जिससे वेदी पर मूर्तियों की स्थापना का कार्य अधूरा रह गया। सभी दुःखी थे कि मूर्ति अचानक कैसे इतनी भारी हो गयी कि हिलाया भी नहीं जा सकता, फिर वह वेदी पर स्थापित कैसे हो? इसी ऊहापोह में सभी लोग महाराजश्री के पास पहुँचे एवं इस जटिल और विचित्र समस्या से मुक्ति दिलाने हेतु महाराजश्री से विनम्र अनुरोध किया। महाराजश्री ने सभी से पंचनवकार मंत्र की जाप करने को कहा। सभी ने पूरी विनय, मर्यादा तथा शक्तिपूर्ण भक्ति से पंचनवकार मंत्र का जाप किया। मंत्र का जाप होते ही मूर्तियाँ बड़ी आसानी से वेदी पर विराजमान हो गईं।

चुनाव वर्तमान समय में एक ऐसी आवश्यक बुराई है कि न तो जिसके बगैर रहा जा सकता है और न ही जिसके सहारे रहा जा सकता है। चुनाव जब अच्छाई, बुराई, ईमानदारी, बेईमानी, सत्य, असत्य, धर्म, अधर्म, नीति, अनीति के मध्य करना हो तब तो सभी को पता है कि अच्छाई यही है जो ईमानदारी से सत्य धर्म को पालन करने की नीति को चुना जाय, अपनाया जाय। भले ही इसमें संकट और बाधाओं के दुःख बार-बार परीक्षा दे मगर आत्मिक शांति सदा बनी रहेगी। मन की निर्मलता, मन की दृढ़ता को सदैव स्तंभित करती रहेगी। हम पुराने कर्मों को तो सत्य के पथ पर चलकर विसर्जित कर ही लेंगे, भविष्यगत कर्म का बंधन भी रोक लेंगे।

परन्तु यही चुनाव जब हमें सत्य को छोड़ असत्य ही असत्य में करना हो, धर्म को छोड़ अधर्म ही अधर्म में से चुनना हो, अच्छाई को अलग कर बुराई हो, बुराई में से किसी एक को अपनाना हो तब तो धर्मसंकट आ ही जाता है; किन्तु मनुष्य तो एक सामाजिक प्राणी है। अतः समाज जिस दिशा में चलता है, मनुष्य को मजबूरन उसी दिशा में जाना पड़ता है।

आज विश्वभर में लोकतांत्रिक प्रणाली का प्रचलन है। जनप्रतिनिधि का चुनाव जनता वोट के माध्यम से करती है। जनता तो मजबूर है जब उसे उन व्यक्तियों में से किसी एक को चुनना पड़ता है जिनमें एक भी ऐसा नहीं हो अच्छा हो, ईमानदार हो, नीतिपूर्वक धर्म का पालन करता हो तथा सत्य के मार्ग पर चलता है। निश्चित है कि जो भी चुना जायेगा वह जनता का सही प्रतिनिधि नहीं हो सकता। जनता की मजबूरी एवं विकल्पहीनता का प्रतिनिधित्व करता है वह। यही कारण है कि वोट के समय साम, दाम, दण्ड, भेद, छल-बल किसी भी तरह असत्य, झूठ, बेईमानी का सहारा लेने वाला अपने पूरे कार्यकाल में इन्हीं कुमार्गी नीतियों के अनुसार चलता है तथा जनता को सिवाय ठगने एवं धोखा देने के कोई काम नहीं करता।

साधुओं के पास भी ऐसे ही प्रत्याशी आशीर्वाद लेने आते हैं। साधुगण भी उन्हें निराश नहीं करते; परन्तु आशीर्वाद भी सिर्फ धर्म की नीति, न्याय और सत्यता से अपनाने वाले को विजय का देते हैं। आचार्यश्री का निवाई में चातुर्मास चल रहा था। नगर के पूर्व पंचायत अध्यक्ष श्री महावीरजी नामक श्रेष्ठी आचार्यश्री का आशीर्वाद अपनी चुनावी विजय हेतु लेने आये। चूँकि महाराज को उनकी धर्म एवं कर्तव्यपरायणता के बारे में लोगों से पहले ही पता चल चुका था। वात्सल्यमूर्ति आचार्यश्री ने उन्हें विजयश्री का आशीर्वाद दिया और विजयी भी हो गये।

इसी प्रकार सन् 2005 में जब आचार्यश्री टोडारायसिंह दर्शन हेतु पधारे तब वहाँ पर श्री 1008 सिद्धचक्र महामण्डल विधान हुआ। उसी के बाद नगरपालिका के चुनाव हुये। एक वार्ड से पार्षद की प्रत्याशी गुणमाला देवी जैन थी जो समाजसेवी तो थी ही, धर्मपरायणता भी उनमें कूट-कूटकर भरी थी। आचार्यश्री के पास आशीर्वाद लेने गयी तब आचार्यश्री ने प्रसन्नतापूर्वक गुणमाला को विजयश्री वरण का मंगल

आशीर्वाद प्रदान किया। अगले ही दिन पता चला कि गुणमाला के श्वसुर भी उसी वार्ड से अपनी ही बहू के विरुद्ध चुनाव में उतर रहे हैं। श्वसुर साहब भी आचार्यश्री से चुनाव में सफलता हेतु मंगल आशीर्वाद की कामना लिये आचार्यश्री के चरणों में पहुँचे। आचार्यश्री ने श्वसुर में मौजूद तमाम बुराइयों के बारे में सुन रखा था इसीलिये श्वसुर को समझाया कि बहू के खिलाफ चुनाव मत लड़ो। यहाँ तक कि सेठजी से चुनाव में हारने की भविष्यवाणी भी कर दी।

अन्ततः सत्य की विजय हुई जनता ने भी धर्ममार्ग पर नीति न्यायपूर्वक चलने वाली बहू का साथ दिया। अत्याचारी, अधर्मी, अतिवादी श्वसुर के अवगुणों के कारण जनता ने चुनाव में अस्वीकार कर दिया। यह सचमुच चमत्कार से कम नहीं था।

साधु संकल्पों के प्रति जितना अडिग और अटल होता है उसके भक्तों का उसके प्रति श्रद्धान भी उतना ही अटल और अडिग होता है। यही अटल संकल्प ऐसे कार्यों को भी करवा देता है जो प्रत्यक्ष में असंभव प्रतीत होते हैं। परन्तु जब संकल्प में सच्चाई के साथ-साथ दृढ़ता भी मौजूद हो तो असंभव भी संभव होते देर नहीं लगती। आचार्यश्री के संकल्प की दृढ़ता के दृष्टांत तो जगह-जगह मिलते हैं। जिस दृढ़ता के कारण ही असमंजस में मुरझाये मुख भी कमल की तरह खिल गये।

सन् 2006 में आचार्यश्री का वर्षायोग राजस्थान के प्रमुख नगर अलवर में चल रहा था। चातुर्मास जैनभवन में चल रहा था इसीलिये कल्पद्रुम महामण्डल विधान भी जैन भवन में ही करने का निश्चय हुआ। जिसका प्रचार-प्रसार भी नियमित रूप से व्यापक स्तर पर किया जाने लगा। ज्यों-ज्यों प्रचार तेज हुआ स्वाभाविक रूप से पंथ के नाम पर झगड़ने वालों का हाजमा खराब होने लगा। पहले कानाफूसी हुयी, फिर बात समूहों में चलने लगी, देखते ही देखते विरोध ने बड़ा रूप ले लिया। विरोध करने वालों का विरोध निराधार था इसीलिये विरोध को आधार देने के लिये बहाना खोज लिया गया। बहाने का आधार बना जैन भवन क्योंकि विधान का तो विरोध कर नहीं सकते थे। सभी ने एक राय से स्वीकार किया था इसीलिये स्थान के नाम पर विरोध कर कहा गया कि विधान जैन भवन में नहीं जैन नसियां में किया जाये।

चलती-चलती बात आचार्यश्री तक पहुँच गयी। आचार्यश्री ने बहुत समझाया कि हे भव्य भक्तजनों ! आप सभी ने ही विधान की स्वीकृति दी। उत्साहपूर्वक तैयारियों का अब मात्र स्थान का विरोध क्यों ? फिर दूर-दूर तक प्रचार भी हो गया है। लोग बाहर से जैन भवन ही आयेंगे तथा आप लोग तो होंगे नहीं, मुझे ही जवाब देना पड़ेगा, बोलो क्या कहूँगा उनसे ? किन्तु वहाँ तो विरोध की कट्टरता इतनी तीव्र थी कि कोई कुछ सुनने को तैयार नहीं था। ब्रह्मचारी ऋषभ भैया ने भी समझाने का बहुत प्रयास किया; परन्तु जब विरोध का आधार मात्र विरोध करना हो तब कोई सत्य क्यों सुनता ?

अन्त में आचार्यश्री ने समस्या बिगड़ती देख मन ही मन दृढ़ निश्चय किया कि विधान तो होकर रहेगा धार्मिक कार्य निराधार विरोध के नाम पर टाला नहीं जायेगा। इतना विचार कर सभी से मात्र सरलतापूर्वक एक ही प्रश्न किया कि बताओ आप सभी में विधान करवाना कौन-कौन चाहता है? सारे हाथ एक साथ ऊपर उठ गये। फिर पुनः आचार्यश्री ने किसी को विरोध का अवसर ही नहीं दिया तथा दृढ़तापूर्वक निर्णय सुनाते हुये कहा कि जब सभी ने पूर्वपारित प्रस्ताव का पुनः अनुमोदन कर दिया है जिसमें विधान करने के साथ जैन भवन में ही विधान करने की बात तय हुई थी तब फिर विधान जैन भवन में ही निश्चित समय पर होगा, अन्यथा मेरा विहार हो जायेगा।

आचार्यश्री निर्णय कर चुके थे; परन्तु विरोधी कहाँ मानने वाले थे। विरोधी तो महाराज के विहार तक को तैयार थे; परन्तु आचार्यश्री ने समाज के संकल्प को इतनी शांति एवं निपुणता से पूर्ण किया कि स्थान के समर्थक एवं विधान के स्थान के विरोधी भी विरोध भूल गये। अन्दर ही अन्दर तो विरोध के बड़े-बड़े मंसूबे बनाते, मगर महाराज के सामने आते ही अपना ही तय किया विरोध एवं विरोध का तरीका भूल जाते। अन्ततः विरोध के होते-होते भी भारी आनन्द एवं उत्साह के साथ बगैर छोटी-सी हिंसा हुये विधान पूर्ण हो गया। अब तो स्थान के समर्थकों के साथ-साथ विरोधी भी आचार्यश्री के पास चुपचाप आए एवं स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने की पूरी कोशिश करते। वात्सल्य दिवाकर आचार्यश्री भी सभी को मुस्कुराते हुए एक समान खुश रहने का मंगलमय आशीर्वाद दे देते।

ऐसी अप्रिय घटना आचार्य के साथ पहली बार नहीं घटी थी। जबलपुर वर्षायोग 2000 में भी ऐसी ही घटना घटित हुई। आचार्यश्री विरागसागरजी बुन्देलखण्ड के प्रथम आचार्य उपसर्गविजेता का अष्टम पदारोहण समारोह मनाया जाना था। समाज ने एक राय से समारोह बड़े स्तर पर पूर्ण भव्यता से मनाने के लिये लार्डगंज कमानिया गेट के स्थान को स्वीकृति दी। समारोह की शोभा बढ़ाने को नगर में ही उपस्थित ऐलक विनीतसागर के साथ-साथ आर्यिका संघ की भी स्वीकृति प्राप्त हो गयी थी, तैयारियाँ जोरों से चल रही थी।

तभी विरोध का स्वर उभर आया। विरोध भी इतने गिरे स्तर का कि विरोधी कह रहे थे कि पदारोहण समारोह हेतु लार्डगंज कमानिया गेट जैसे स्थान की क्या जरूरत है वह तो एक छोटे से कमरे में बैठकर भी मनाया जा सकता है। बात आचार्यश्री तक भी पहुँची। आचार्यश्री ने चर्चाओं पर ध्यान देने की अपेक्षा तैयारियों पर ध्यान दिया। शनैः-शनैः वह समय भी आ गया जब लार्डगंज कमानिया गेट पर परम पूज्य वात्सल्य रत्नाकर बुन्देलखण्ड के प्रथमाचार्य, उपसर्गविजेता, संत शिरोमणि, चारित्र चूड़ामणि आचार्य श्री विरागसागरजी महाराज का अष्टम पदारोहण समारोह भारी भव्यता के साथ संपन्न हुआ।

आचार्यश्री के पैरों के निशान मुनि अवस्था से ही बनने लगे थे। जिसे देखकर लोग आश्चर्य एवं श्रद्धा से उनकी वंदना करते तथा दर्शन कर स्वयं के भाग्य को सराहते।

(56) आचार्यश्री को दिव्य और अलौकिक पुरुष स्थापित करती कुछ घटनायें-

साधारण मनुष्य के द्वारा जो कार्य संभव नहीं हो और वह कार्य साधारण सा कहलाने वाला इंसान कर दे तब निश्चित रूप से आश्चर्यजनक घटना से प्रभावित एवं प्रत्यक्ष अनुभूति करने वाले इंसान उस मानव को देवी, देवताओं के समान शक्तिशाली मानने लगते हैं तथा जब यह आश्चर्य दर्शाने वाली घटनायें उस मानव के साथ सहज एवं नित्य होने लगे तब तो अधम आदमी भी उसके देवत्व से प्रभावित हुये बिना नहीं रहता। लोक में रहने वाले मानव के द्वारा जिस मनोकामना की पूर्ति होना हमारे लिये संभव नहीं दिखता वही मनोकामना जब कोई मनुष्य हमारे समक्ष हमारे निवेदन मात्र से कर दे तब तो वह देवत्व और भी अधिक सम्मानीय हो जाता है। उस समय तो यह देवत्व दिव्यत्व का रूप धारण कर लेता है जब बिना माँगे मात्र मन में भावना भाने से हमारी इच्छा पूर्ति हो जाये। बोलो ! लोक में रहने वाले ऐसे दिव्य पुरुष को हम अलौकिक माने या नहीं।

यद्यपि यह समस्त बातें लौकिक एवं व्यवहार की होने से परमार्थिक पथ में शून्य हैं। फिर भी लोक में अधर्म के मार्ग पर चलने से रोकने के लिये तथा पाप वृत्तियों पर अकुंश लगाने के लिये साथ ही सुधर्म की स्थापना के लिये ऐसी घटनाओं एवं ऐसे दिव्य और देवत्वमय पुरुषों के पुरजोर प्रचार एवं मिथ्यात्व के नाश तथा सम्यक्त्व के प्रकाश हेतु प्रसंगों का कथन किया जाना आवश्यक होता है।

यहाँ भी स्मरण योग्य है कि यह वर्णन किसी भी प्रकार की मान बढ़ाई अथवा अन्य आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठियों से श्रेष्ठता की सिद्धि के अर्थ भी नहीं है; क्योंकि प्रतिक्षण पूर्ण परिग्रह से रहित दिगम्बर जैन परिव्राजकों के मन में असंख्य मंत्रों के उच्चारण एवं मंत्रराज श्री पंचनवकार मंत्र के सदैव स्मरण से साक्षात् देवी-देवता उनके शरणागत होते हैं। अब यह अलग बात है कि किसके जीवन में आश्चर्य प्रगट करेंगे तथा जन-जन का मंगल करती घटनायें कब घट जायें।

आश्चर्य प्रगट करते तो बहुत सी घटनायें हमारे सामने घटती रहती हैं। ज्ञान के अभाव में मन के लोभ या विषयों की लोलुपता के वशीभूत हम स्वयं दूसरों का अमंगल करती इन घटनाओं को भी मान्यता प्रदान कर देते हैं तथा इसे मानवता के विरोधी मानवों को भी देवत्व से विभूषित करते हैं। मानलो आप गंभीर रोग से पीड़ित हैं, सभी जगह इलाज कराने पर ठीक नहीं हो रहा। अचानक आपको एक ऐसे व्यक्ति की जानकारी होती है जो आपका रोग तंत्र विद्या से ठीक कर सकता है। आपके इलाज की बात होती है और वह आपसे इलाज में हिंसक अनुष्ठान चाहता है। आप खुशी-खुशी ऐसा कर देते हैं तथा ठीक होने पर उसे भगवान की तरह मानने लगते हैं। आपकी नजर में आपका रोग ठीक कर उस तांत्रिक ने मौत से बचाकर चमत्कार किया

है। जबकि उसी तांत्रिक के हाथों अनेक रोगी अपने रोग से लड़ते-लड़ते रोग से हार गये तथा मौत की गोद में समा गये। अब अगर आपकी नजर में वह तांत्रिक भगवान है, देवता है तब उन सभी की नजर में तो वह तांत्रिक शैतान या यमराज साबित हुआ जिसे मौत के मुँह में जाने से बचा नहीं पाया।

आप कह सकते हैं कि इसमें तांत्रिक क्या कर सकता था ? रोग का इलाज होता है मौत का तो इलाज नहीं होता। बस, यही तो मैं भी आपको समझाना चाहता हूँ कि जिस तरह मौत का इलाज नहीं होता उसी तरह रोग भी स्वयं ठीक होता है। दवा या तंत्र-मंत्र तो मात्र निमित्त हैं। आयु शेष हो तभी निमित्त मिला करते हैं तथा आयु अवशेष नहीं हो तब निमित्त भी कुछ नहीं कर पाते। आपकी आयु शेष थी इसीलिये तांत्रिक ने असाध्य रोग को ठीक कर लिया इसमें तांत्रिक को देवता या ईश्वर मानने जैसी क्या बात है ? और फिर अगर वह देवता ही है तब तो उसके द्वारा सभी रोगी स्वास्थ्य ही होना चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं होता। इसका मतलब है कि रोग के ठीक होने में भी वह निमित्त था बस और कुछ नहीं।

फिर आप उस तथाकथित तांत्रिक को महिमा मंडित करने से पूर्व यह क्यों भूल जाते हैं कि उसने आपको ठीक नहीं किया। मात्र निमित्त बना क्योंकि आपके भाग्य में उसके द्वारा ही आपका ठीक होना लिखा था। किन्तु उसी तांत्रिक ने आपको ठीक करके भी न तो स्वयं पुण्य कमाया और न ही आपको पुण्यात्मा रहने दिया। अपितु पशु का हिंसक अनुष्ठान स्वयं पाप का भागी बना और आपको भी पाप के कुएँ में धकेल दिया। जब आपको इस दी गयी पशु बलि का कर्म उदय में आयेगा तब आप ही उसे भोगेंगे, वह तांत्रिक आपके किसी काम नहीं आयेगा। फिर क्यों करते हैं, आप ऐसे झूठे मनुष्यों का महिमा मंडन ? और क्यों मानते हैं उन्हें देवता या भगवान ?

देवता तो सचमुच देवता होते हैं वह कभी भी किसी का अहित नहीं करते। जब भी किसी के पुण्य का प्रताप उदय में आता है तब भी देवता उसके बिगड़े कार्य को बनाने में निमित्त बनते हैं तथा पाप कर्मों के उदय में भी सजा देवता नहीं देते, आपके हमारे कर्म ही फल के रूप में दुःख लाते हैं। देवता तो उसमें मात्र निमित्त हुआ करते हैं। फिर हम क्यों हिंसक अनुष्ठान जैसे खोटे कर्म करने वालों को देवता मानकर पूजते हैं।

परन्तु संसार में ऐसी ही खोटी मान्यताओं का चलन है। लोग ऐसे ही भ्रम के जाल में जकड़े हुये हैं तथा जीवन में जब भी दुःख आता है, हानि होती है, अशुभ होता है या विपरीत परिस्थितियाँ पैदा हो जाती हैं तब जैन आगम के कर्म सिद्धान्त एवं पाप-पुण्य के शुभाशुभ फल को भूल जाते हैं। इतना भी याद नहीं रखते कि वर्तमान में जो धन-संपत्ति वैभव, नाते-रिश्ते, कुल खानदान सुख-दुःख मिले हैं वह हमें पूर्व भव में किये हुए कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त हुये हैं। आज हम उसे प्राप्त कर जो भी करेंगे वह भविष्य में हमारे उदय में आयेगा। अच्छे कर्म करने वाले को मिलने वाला पुण्य, शुभ परिणाम एवं सातावेदनीय को उदय में लेकर आयेगा तो बुरे कर्म करने वाले को पाप का फल अशुभ परिणाम एवं असातावेदनीय के रूप में प्रगट होगा।

तब फिर इसमें पर का उपकार या अपकार कैसा ? क्यों हम अपने कृत कर्म के फल को पाने में दूसरे को निमित्त मात्र मानकर उस सुख-दुःख या शुभ-अशुभ का कर्ता मानें जबकि कर्ता भी उन कर्मों के हम ही हैं एवं भोक्ता भी उन कृत कर्मों के फल का हम ही हैं।

जगत को जगत की भाषा में समझाये बगैर न तो जगत हमारी बात समझ सकता है, न ही जगत का कल्याण हो सकता है और न ही हमारा शुभ करने का भाव ही पूर्ण हो सकता है। इसी कारण हम जैसे को तैसा वाला सिद्धान्त अपनाना पड़ता है। बस, यही वजह है कि जिस तरह दुनिया अशुभ प्रवृत्तियों को प्रचलित कर खोटे एवं हिंसक कार्य करने वाले मिथ्यादृष्टियों के अशुभ और अमंगलकारी कार्यों को चमत्कार बताते हैं एवं उसे करने वालों को देवता के रूप में प्रतिष्ठित कर आम आदमी की अज्ञानता का लाभ उठाकर उन्हें दुःखों का पात्र बनाते हैं। तब क्यों न हम भी सत्य, अहिंसक, न्याय, नैतिक एवं मर्यादित कार्य करने वाले सत्पुरुषों के जनकल्याणकारी एवं प्राणीमात्र के परोपकार करने वाले असाधारण कार्यों के चमत्कारों के रूप में प्रचार-प्रसार करें तथा ऐसा मांगलिक कार्य करने वाले जगत को परित्याग कर भी जगत का मंगल करने वाले उन महाव्रतियों के असाधारण कार्यों का प्रचार-प्रसार करें एवं उन्हें उनकी उस दिव्यता एवं लोक के साधारण मानव की शक्ति से भी भारी कार्य करने के लिये दिव्य एवं अलौकिक पुरुष मानते हुए उनका गुणगान, पूजन, वंदन एवं स्तवन करें। व्यक्ति उस पथ पर चलकर पाप की महिमा कम हो, पुण्य की महिमा बढ़े। अशुभ प्रवृत्तियों का हास हो एवं शुभ प्रवृत्तियों का उत्कर्ष हो। मिथ्यात्व का नाश हो, सम्यक्त्व का प्रकाश हो।

बस, इसी मंगल एवं लोकोपयोगी, जनकल्याणकारी, सन्मार्गप्रकाशक, मिथ्यात्वनाशक भावना के वशीभूत होकर ही परम पूज्य आचार्य विशदसागरजी के जीवन में घटी उन घटनाओं का वर्णन कर रहा हूँ जिसे जानकर हमारी श्रद्धा नियम से सच्चे अहिंसक वीतरागी साधुओं के प्रति बढ़ेगी तथा जगवासी झूठ, हिंसा एवं फरेब के नाम पर चमत्कार करने वालों से बचेंगे।

सन् 1997 की घटना है-

पूज्य मुनिश्री का विहार चल रहा था, विहार करते हुये गुरुवर गढ़ाकोटा पहुँचे। तीन-चार दिन रुकने के पश्चात् जब मुनिश्री विहार करने को तैयार हुये तो श्रद्धालु श्रावक इसे बर्दाश्त नहीं कर सके तथा मुनिश्री के गमन हेतु निकलने वाले रास्ते का ताला बन्द कर दिया। मुनिवर विहार के लिये संकल्पित थे, दरवाजे के पास ही खड़े होकर णमोकार मंत्र का जाप करने लगे। मजबूर होकर लोगों को दरवाजा खोलना पड़ा। मुनिवर भले संकल्पित थे; परन्तु श्रावक भयभीत थे। श्रावक देख रहे थे उन उमड़ते-धुमड़ते बादलों को एवं बड़ी ही तेजी से बादलों को एवं बड़ी ही तेजी से तड़क रही बिजली को जिससे पूरे वातावरण में ही भय व्याप्त हो रहा था। दिन में ही अंधकार सा नजर आने लगा था; परन्तु चमकती हुई बिजली अवश्य अपना प्रकाश

बिखेर रही थी। प्रकाश की रोशनी में मुनिवर ने गमन प्रारम्भ कर दिया। सहसा तेज आँधी के साथ जल ने विकराल रूप धारण कर लिया; परन्तु संकल्प के धनी मुनिवर के पथ को अवरुद्ध नहीं कर सके। साथ चलने वाले अवश्य घबड़ाकर यहाँ-वहाँ पेड़ों की छाया तलाशते रहे; परन्तु मुनिवर खुले आसमान को अपनी छत बनाकर पूरी निर्भयता से चलते रहे।

वातावरण का रौद्र रूप जहाँ मुनिवर की परीक्षा ले रहा था वहीं मुनिवर भी अपने लिये संकल्प की परीक्षा पर पूरी तरह खरे उतर रहे थे। अचानक वातावरण शांत होने लगा, मुनिवर का गंतव्य आया ही था कि वर्षा बंद हो गयी। लगता था मुनिवर ने वर्षा और संकल्प को महासंग्राम के लिये चुना अवश्य था; परन्तु वर्षा संकल्प से परास्त हो गयी एवं मुनिवर को गंतव्य पर पहुँचाकर मानो क्षमायाचना करती हुई अन्त में मुनिवर के चरणों में थोड़ी-सी बूँदे प्रायश्चित्त के आँसुओं की समर्पित करती हुई शांत हो गयी।

दया दिख ही जाती है मृत्यु के भी मुँह में-

दुनिया में बहुत से जीव हैं जो कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उनकी मदद करने के लिये भी दुनिया में बहुत से व्यक्ति एवं संस्था मदद करने के आगे आते रहते हैं। किसी की मदद करने में वही आगे आ सकता है जिसके अन्दर दूसरे का दर्द देखकर स्वयं दर्द की अनुभूति होती है। दर्द की अनुभूति किसी को भी उस तरह होना संभव तो नहीं जिस अनुभूति को स्वयं दर्द भोगने वाला महसूस करता है; परन्तु जिसके हृदय में दया का भाव होता है उसके अन्दर दूसरे की पीड़ा की झलक ही जाती है। इसी झलक की रोशनी में वह आगे बढ़कर दुःखी हृदय प्राणी के आँसू पोंछने का सद्प्रयास करता है। आँसू ही नहीं उसके अन्दर व्याप्त वेदना को बदलने को प्रयासरत रहता है।

सन् 1997 में आचार्यश्री विरागसागरजी ससंघ कुण्डलपुर की ओर विहार कर रहे थे, रास्ते में रात्रि होने पर रुके। समस्त साधु संघ को घास बिछायी जा रही थी ताकि लेटने में सुविधा रहे। मुनि विशदसागरजी लेटने में घास का भी प्रयोग नहीं करते थे। एक स्थान पर खाली जगह पड़ी थी। मुनिवर ने उसी जगह को अपने शयन के योग्य माना एवं उसी स्थान पर आ गये। अचानक घास में एक बिच्छू देखते ही सोचा कि कहीं कोई श्रावक इसका घात न करे। इसीलिये पिच्छी की डंडी से निडरता से दबा लिया एवं इशारा करके उस बिच्छू को बाहर बगैर क्षति पहुँचाये छोड़वा दिया। लोग डर रहे थे कि बिच्छू जहरीला है, छोड़ने पर किसी को भी काट लेगा तब महाराज ने कहा- जिसका अशुभ कर्म का उदय होता उसे अभी भी काट लेता; किन्तु जब अशुभ कर्म का उदय किसी का नहीं तब बिच्छू का भी अशुभ कर्म लाने वाले हम कौन होते हैं ? हम तो सभी जीवों पर दया करने वाले हैं, मारने वाले नहीं। स्वयं मारने वाले बिच्छू ने दया दिखायी, अब हम दया धरने वाले बिच्छू को कैसे मार सकते हैं ? बिच्छू को बाहर बर्तन में ले जाकर सुरक्षित छोड़ दिया गया।

प्रेत आत्मा भी पस्त होकर पलायन कर गयी-

प्रेत आत्मा के नाम से ही विज्ञान को परेशानी हो जाती है। विज्ञान के दृष्टिकोण में जो भी शरीर सहित जीव होते हैं वही सत्य है इसके अलावा अन्य कोई वजूद किसी आत्मा का नहीं होता। पुनर्जन्म को पूरी तरह खारिज करने वाले यह भूल जाते हैं कि व्यक्ति जो कर्म करता है उसका फल तो उसे प्राप्त होगा ही। यह फल कब मिलेगा, कैसे मिलेगा, कौन जानता है ? वर्तमान में हम जिस दिन से गर्भ में आते हैं और मृत्यु को प्राप्त करते हैं, उस पर भी विचार करें कि पूरे जीवनभर जो कर्म किया उसका फल क्या हमें इसी जन्म में प्राप्त हो जाता है अथवा इसके लिये भी हमें आगे जन्म लेना पड़ता है। इसके साथ-साथ हमने जो जन्म लिया है वह भी हमें कहीं पूर्व में कृत पूर्वजन्म का फल तो नहीं ? इससे भी महत्त्व का प्रश्न यह भी है कि कहीं हम पूर्वजन्मों में कृत कर्मों के अधूरे फल को पा गये हो एवं शेष फल को भोगने के लिये हमारा वर्तमान में मानव के रूप में जन्म मिला हो।

पूरी विज्ञान का अध्ययन किसी भी विषय को क्रमिक रूप से समझकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचना है। यही विज्ञान की प्रक्रिया है किसी भी विषय को समझने एवं समझकर उस पर किसी निर्णय पर पहुँचने की। विज्ञान की इसी प्रक्रिया को आधार बनाकर हम आत्मा के बारे में विचार करेंगे। इसी क्रमिक प्रक्रिया के आधार पर जो हम निष्कर्ष निकालेंगे उससे विज्ञान एवं वैज्ञानिकों को यह सिद्ध करेंगे कि आत्मा का अस्तित्व है। वह अस्तित्व केवल हमारे सामने दिखने वाले शरीरधारी जीवों में ही नहीं है, अपितु जीव का अस्तित्व इस शरीर के पूर्व प्राप्त शरीर में भी था एवं इस शरीर को त्यागने के पश्चात् प्राप्त होने वाले शरीर में भी होगा।

सर्वप्रथम हम समझ लें कि विज्ञान मात्र इसी जन्म को आधार तो बनाता है; परन्तु इसी जन्म के बारे में पूरी तरह विचार नहीं करता। प्रत्येक जीव को जन्म मिल रहा है, प्रत्येक जीव को शरीर भी प्राप्त होता है, प्रत्येक शरीर के साथ-साथ कुल, खानदान, समाज देश की भी प्राप्ति होती है। इसी के साथ-साथ माँ, पिता, भाई, बहिन, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू एवं पति-पत्नी जैसे सामाजिक रिश्ते भी प्राप्त होते हैं। सिर्फ जमीन और रिश्ते ही नहीं मिलते; यश, कीर्ति, वैभव संपन्नता सुख के साथ-साथ दुःख एवं अशांति तथा विपन्नता भी प्राप्त होते हैं। क्या कभी आपने विज्ञान से पूछा कि सभी जीवों को यह सारी चीजें एक समान प्राप्त होती है अथवा अलग-अलग मात्रा एवं अलग रूप में। यदि एक समान एवं एक रूप में सभी जीवों को सभी कुछ प्राप्त नहीं होता। सभी को अलग-अलग शरीर संपन्नता नाते-रिश्ते, यश, वैभव, सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। आखिर क्यों ?

विज्ञान की दृष्टि में जब वर्तमान जीवन ही सत्य है तब सभी को प्राप्त वस्तुयें भी समान रूप से प्राप्त होना चाहिये थी। सबका रूप, सौन्दर्य, वैभव, सुख-दुःख, दुनिया में एक से नजर आते। कोई जीव गर्भ में आकर ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, कोई जीव जन्म तो लेता है मगर अल्प आयु में ही काल के गाल में चला जाता है। कोई पूरी जिन्दगी जीता है कुढ़र-कुढ़र कर। कोई अल्प आयु में भी सम्पूर्ण सुख भोग (सांसारिक)

लेता है तो किसी को पूरे जीवनभर दुःख ही दुःख उठाने पड़ते हैं। किसी को खाने को दाना नहीं मिलता तो किसी के घर अनाज के ढेर लगे रहते हैं। कोई जन्म लेता है तो छत भी नसीब नहीं होती तो कोई महल और भवनों का स्वामी होता है। किसी को माँ नहीं मिलती तो किसी को भाई नहीं मिलता।

दुनिया में आने वाला प्रत्येक प्राणी सुख-दुःख की मिली-जुली पर्याय है; किन्तु मिलावट में भी असमानता है। किसी को सुख ही सुख तो किसी को दुःख ही दुःख मिल जाते हैं। कोई जीवनभर एक मुस्कान को तरस जाता है तो किसी के चेहरे से जीवनभर मुस्कान नहीं जाती। किसी को माँ के आँचल का दूध नहीं मिलता तो किसी को सहारे के लिये पिता की उँगली। कोई सांसारिक सामग्री से संपन्न एवं भरापूरा होता है तो कोई खाने, पीने, सोने, जागने, उठने, बैठने, रहने, पहनने, ओढ़ने में सहायक साधनों को प्राप्त करने के लिये तरस जाता है।

आखिर क्यों होता है ऐसा ? वर्तमान में प्राप्त शरीर का कहीं कोई संबंध इस जन्म के साथ-साथ अन्य जन्म से तो नहीं होता। शरीर हमें इस जन्म में प्राप्त होता है और इस जन्म का अन्त (मृत्यु) होते ही हमसे छूट जाता है। इस शरीर को प्राप्त करने के पूर्व और इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् भी हमारा अस्तित्व होता है अथवा नहीं ? यही प्रश्न है जिसका जवाब विज्ञान के पास है नहीं, यदि है तो वह देना नहीं चाहता क्योंकि इसी प्रश्न के उत्तर में छिपा है उस आत्मा का रहस्य जिसे विज्ञान किसी भी सूरत में स्वीकार नहीं कर रहा। आत्मा ही वह द्रव्य है जिसके आधार पर धर्म और अध्यात्म तथा आगम का अस्तित्व टिका है।

धर्म आत्मा के स्वभाव को बताया गया है- **‘वस्तु स्वभावो धम्मः’**। वस्तु का तात्पर्य यहाँ आत्मा से गृहीत है। अध्यात्म का अर्थ है अधि+आत्म अर्थात् जो आत्मा के समीप हो वही अध्यात्म है तथा आगम का मतलब है आत्मा की समीपता अथवा आत्मज्ञान की प्राप्ति कर आत्म अनुभूति को प्राप्त मनीषियों का आत्मा के गुणों एवं आत्मा के संयोग-वियोग के संबंध में कथन। आगम शब्द मात्र जैन परम्परा में प्रचलित है, अन्य जगह यह इतिहास में गर्भित है।

आगम में बतलाया गया है कि वर्तमान जन्म ही अकेला सत्य नहीं है। जीव द्वारा अपने अच्छे बुरे कर्मों को करते हुये संसार की चार गतियों में भ्रमण होता है। चारों गतियाँ हैं मनुष्य, तिर्यच, नारकी और देवगति। चारों गतियों में कुल चौरासी लाख योनियाँ होती हैं। योनियाँ जाति की प्रतीक होती हैं। योनियाँ उपयोनियों या उपजातियों में बंटी होती हैं। कई योनियों में जन्मे जीव एक इन्द्रिय से लेकर पाँच इन्द्रिय तक होते हैं।

शरीर भी जो जीव को संयोग से प्राप्त होता है, पाँच प्रकार का होता है। मनुष्य तिर्यच को औदारिक शरीर प्राप्त होता है जिससे वह संयम धारण कर सकता है। देव और नारकियों को वैक्रियक शरीर मिलता है जिससे उसके सुख, भोग की इच्छा पलक झपकते पूर्ण होती है इसीलिये देव और नारकियों में संयम का अभाव होता है।

एक इन्द्रिय समस्त जीव स्थावर प्रकृति के हैं जिनमें जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, वनस्पतिकायिक एवं पृथ्वीकायिक शामिल हैं। एक इन्द्रिय को छोड़कर समस्त शरीर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय सैनी (मनसहित), असैनी (मनरहित) होते हैं। मनुष्य तिर्यच ही पंचेन्द्रिय सैनी-असैनी में उत्पन्न होते हैं। देव, नारकी पंचेन्द्रिय होते हैं। शेष सभी जीव विकलेन्द्रिय होते हैं।

प्रत्येक प्राणी को औदारिक या वैक्रियक शरीर एक साथ प्राप्त नहीं होता। हाँ, मनुष्य विक्रिया ऋद्धि सिद्ध कर विद्याधर बन जाता है तथा देवों की तरह शरीर के नानारूप बना लेता है; परन्तु वह स्वयं रहता औदारिक शरीरधारी प्राणी ही है।

पाँचों प्रकार के शरीर हैं- औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तेजस और कार्माण। इनमें से जीव कर्मसहित अवस्था में ही संसारी प्राणी के रूप में शरीर को धारण करता है। शरीर रहित होते ही वह सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जीव का कर्मों से संबंध छूट जाता है वही जीव की सिद्ध अवस्था है। सिद्ध अवस्था में जीव अशरीरी होता है तथा शरीर की यह निगोद से चली आ रही यात्रा का संबंध जीव पूरी तरह समाप्त कर देता है।

सिद्ध अवस्था को छोड़ समस्त जीव शरीरधारी संसारी प्राणी हैं। प्रत्येक जीव प्रत्येक समय तीन शरीर को अवश्य धारण करता है। मनुष्य नारकी पर्याय में वह औदारिक शरीर के साथ तैजस कार्माण शरीर को लिये रहता है। देवनारकी पर्याय में जीव वैक्रियक के साथ तेजस कार्माण शरीर धारण करता है तथा शंका समाधान अथवा प्रकोप अथवा मंगलप्रदायक आहारक शरीर के साथ जीव तैजस एवं कार्माण शरीर धारण करता है।

एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में पहुँचने की जीव की गति विग्रह गति होती है। विग्रह गति में जीव वैक्रियक शरीर के साथ तैजस कार्माण शरीर को लिये रहता है मगर औदारिक शरीर धारियों को अमूर्त होने से नेत्रों से दिखायी नहीं देता।

देवपर्याय भी चार प्रकार की हैं- भवनवासी, ज्योतिषी, कल्पवासी और व्यंतर। इन चारों प्रकार के देवों में मात्र व्यन्त देव ही ऐसे हैं जो पृथ्वी पर होते हैं। क्योंकि व्यन्तरो के भवन ही पृथ्वी के अन्दर मध्य लोक में होते हैं, शेष समस्त देव, कल्पवासी एवं ज्योतिषी देवों के विमान ऊर्ध्वलोक में होते हैं एवं वह भगवान के कल्याणकों को मनाने अथवा धर्म की रक्षा हेतु ही पृथ्वी पर आते हैं अन्य समय नहीं। भवनवासियों के भवन अधोलोक में होते हैं।

व्यन्तर देव ही पृथ्वी पर विचरण करते हैं तथा कुअवधिज्ञान होने से पूर्व जन्म में जिसने उन्हें कष्ट दिया उसे कष्ट देते हैं। नाना प्रकार के डरावने रूप धारण कर उन्हें भयभीत करते हैं। जबकि वास्तव में वह

सर्वाङ्ग सुन्दर होते हैं; परन्तु वैक्रियक शरीर होने से बदले के भाव होने से ही वह इस कुरूपता को धारण कर लेते हैं।

संसार में व्यन्तर देवों के शरीर को ही आत्मा के रूप में जाना जाता है। जबकि आत्मा का अस्तित्व मात्र व्यन्तरों में ही नहीं चारों गतियों की चौरासी लाख योनियों के अलावा पंचम सिद्ध गति में भी होता है।

दुनिया में कभी-कभार दिखने वाली इन आत्माओं को धर्म में व्यन्तर देवों के नाम से जाना जाता है; परन्तु वैज्ञानिक इनके अस्तित्व को नहीं मानते। परन्तु विज्ञान के मानने नहीं, मानने से सत्य बदल नहीं सकता। यही व्यन्तर कभी खुशी कभी गम का कारण बनते हैं; परन्तु यह खुशी उसी को दे सकते हैं अथवा खुशियों में निमित्त उसी के लिये बन सकते हैं जिसके शुभकर्म का उदय आ गया हो। बुरा भी व्यन्तर उसी का कर सकते हैं अथवा बुरा करने में निमित्त उसके लिये ही बन सकते हैं जिसके अशुभ कर्म का उदय आ गया है।

अब हम कर्म सिद्धान्त की इस सूक्ष्म चर्चा को संक्षेप में ही समापन करते हुये ऐसी ही भटकती हुयी आत्मा द्वारा परेशान किये गये व्यक्ति के गुरुवर आचार्यश्री विशदसागरजी की शरण में पहुँचने एवं गुरुवर की कृपा से इस व्याधि से छुटकारा मिलने का प्रसंग प्रारम्भ करते हैं। आचार्यश्री लुहारिया में विधान करवाने के पश्चात् विसूदनी पहुँचे। अभी विसूदनी पहुँचकर धर्मशाला में बैठे थे कि एक व्यसनी व्यक्ति वहाँ आ गया। उसे देखते ही बच्चे डरने लगे। विसूदनी वालों ने बताया कि यह गोरधा वाले त्रिलोकचन्दजी हैं, इनका खेती-बाड़ी का व्यवसाय है। सच्चे जिनेन्द्र भक्त होने से नित्य अभिषेक पूजन, पाठ, स्वाध्याय किया करते थे। एक दिन गाँव के पास स्थित तालाब से गुजर रहे थे, उसी समय कोई व्यन्तर वहाँ से निकला उसकी चपेट में त्रिलोकचन्दजी आ गये। व्यन्तर ने उसी दिन से त्रिलोकचन्द को अपनी पकड़ में ले रखा है।

न कभी पूजन-पाठ करने देता है न ही स्वाध्याय। कोई भी अच्छा कार्य भी नहीं करने देता, अब तो उसने त्रिलोकचन्दजी में बुरी आदतों का वास करा दिया है। कर्म बहुत बलवान होते हैं, कैसी विचित्र गति है कर्मों की, कैसा खोटा उदय है कर्मों का कि लगातार पैंतीस वर्ष से यह बुरी आत्मा त्रिलोकचन्दजी को नित्य गर्त में गिरा रही है। महाराज से अभी श्रावकों की चर्चा चल ही रही थी कि त्रिलोकचन्दजी पर सवार आत्मा बोल उठी- मैं महाराजा, अधिराजा की शरण में आया हूँ। लोगों के कहने पर आचार्यश्री ने समझाने हेतु उसे पास बुलाया। पहले तो वह नहीं उठा, फिर महाराज ने कहा- यहाँ ढोक दो तब पास में आ गया। आचार्यश्री अभी बात कर ही रहे थे उससे कि एक श्रावक ने कहा- महाराज देखो, उसका पेट घुसता जा रहा है। आचार्यश्री भी देख रहे थे कि त्रिलोकचन्द का पेट आश्चर्यजनक ढंग से अन्दर की तरफ घुसता ही जा रहा है।

अचानक उसने जोर की आवाज की तब आचार्यश्री ने उसकी चोटी पकड़कर पूछा- तू कौन है, क्यों परेशान कर रहा है, एक सच्चे जिनेन्द्र भक्त को ? त्रिलोकचन्द पर सवार आत्मा ने दो-तीन बार आचार्यश्री के पूछने पर भी कुछ नहीं बताया। आचार्यश्री ने तब णमोकार मंत्र पढ़कर पुनः पूछा- बोलो तुम कौन हो ? तब सवार आत्मा बोली- मुझे छोड़ दो, मैं कुछ नहीं बताऊँगा। तब आचार्यश्री ने कहा- बताना तो तुम्हें पड़ेगा, बिना बताये तुम नहीं छूटने वाले। इसी के साथ एकदम कड़कदार आवाज में आचार्यश्री बोले- बता कौन है तू ? इस बार भय काम कर गया, वह बोल उठा- मैं एक मुसलमान हूँ। पैंतीस साल से इसके साथ हूँ। तुरन्त आचार्यश्री ने उसी तरह कड़क कर पूछा- मगर क्यों ? पूरी बात कह डाली।

मुसलमान की आत्मा त्रिलोकचन्द के सिर सवार थी; परन्तु मुँह से आवाज त्रिलोकचन्द की होती थी, बोलती वही आत्मा थी। आत्मा ने ही आगे कहना शुरू किया- मैं घूमने निकला था, उसी समय यह बालक निकल पड़ा। मैं बालक के पीछे लग गया। बस, उसी समय से इसके साथ हूँ। अब तो इसे साथ लेकर ही जाऊँगा। तब आचार्यश्री ने कहा- एक तो बिना गलती किये बालक के पीछे लग गये, ऊपर से धमकी देता है कि साथ लेकर जाऊँगा। तब थोड़ा क्रोध दिखाते हुये आचार्यश्री बोले- बता तू छोड़कर जाएगा कि नहीं। तब वह प्रेतात्मा बोली- मैं छोड़कर तभी जाऊँगा जब आप मेरा कल्याण करेंगे। आचार्यश्री ने बनावटी क्रोध बनाये रखा और बोले बता निरपराधियों को सताने वाले का भी क्या कल्याण हो सकता है ? प्रेतात्मा बोल उठी- नहीं, नहीं महाराज अधिराज अब मैं इसको छोड़कर चला जाऊँगा तथा आगे भी किसी को परेशान नहीं करूँगा।

आचार्यश्री ने कहा- मगर तुम्हारी बात पर हम कैसे विश्वास करें ? प्रेतात्मा ने तुरन्त कहा- मैं सौगन्ध खाता हूँ अपने गुरु की, सौगन्ध खाता हूँ सुअर की, सौगन्ध खाता हूँ कि मैं इसे छोड़ दूँगा। इसी के साथ ही प्रेतात्मा त्रिलोकचन्द के शरीर छोड़ने लगी तो त्रिलोकचन्द गिर पड़े; परन्तु उठे तो सवेरा हो चुका था। दुःख की काली अंधेरी लम्बी रात बीत चुकी थी। जाती हुयी आत्मा को आचार्यश्री ने आशीर्वाद देते हुये कहा- कल्याण हो। उसी समय होश में आये त्रिलोकचन्द भी गुरुवर के चरणों में लोट गये और बोले- धन्य हैं महाराज आपने जो मेरा उद्धार कर दिया, मुझे इस घनघोर विपदा से उबार लिया। मुझे तो इतने लम्बे समय में कुछ याद भी नहीं कि दुनिया कैसी होती है और दुनियादारी कैसी होती है।

कुछ ही दिनों में त्रिलोकचन्द सामान्य हो गये। नित्य पूजन पाठ, अभिषेक, स्वाध्याय सब कुछ करने लगे एवं धार्मिक कार्यों के साथ-साथ दूसरों के संकट में उसे संकट से आजाद कराने में भी सहायक बन गये।

मुनि का मिलन आचार्य से-

पंच परमेष्ठी अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं सभी साधु (महाव्रती) शामिल हैं। गृहस्थ व्यक्ति पहले छोटे-छोटे नियमों को धारण करता है। इन नियमों का व्रत रूप में पालन करता हुआ, खुद को साधक के रूप में स्थापित करता है। बगैर व्रत और नियमों के कोई भी साधना सफल नहीं होती। रात्रि भोजन त्याग, नित्य देवदर्शन एवं जल छानकर पीना भी नियम ही है; किन्तु इनको तो पहले माता-पिता के माध्यम से ही बच्चों को परिपक्व कर दिया जाता था। इसीलिये बालक के प्रथम गुरु माता-पिता ही कहलाये। गुरु की संज्ञा उसे ही दी जाती है जो शिष्य को ज्ञान दे, सन्मार्ग दिखाये एवं सन्मार्ग पर चलने के गुण भी सिखाये। कालान्तर में युग का प्रभाव बदला व्यक्तियों में प्रमाद बढ़ गया। धर्म के प्रति रुचि कम हो गयी विज्ञान के भौतिक साधनों रेडियो, टी.वी., कूलर, फ्रिज, पंखा, कम्प्यूटर ने घरों में प्रवेश कर लिया। इन भौतिक साधनों ने मनुष्य को अपना गुलाम बना लिया। जीविकोपार्जन हेतु आपाधापी मच गयी। लोगों के पास समय की कमी हो गयी, कम समय और काम अधिक।

काम के बोझ तले मानव की जिन्दगी खो गयी। माता-पिता को स्वयं के काम से फुर्सत नहीं, बच्चों को शिक्षा कब दें ? कब उन्हें अच्छे गुण एवं संस्कारों से निपुण करें ? स्वयं माता-पिता के भी संस्कार खोते जा रहे हैं। माता-पिता के पास ही नित्य देवदर्शन का समय नहीं बचा तब बच्चों से नित्य देवदर्शन कैसे संभव है ? यही हाल जल छानकर पीने का है, पहले तो छाना जल मिलना मुश्किल। क्यों छनी बोतलों में बन्द कई दिनों पुराने जल को साफ स्वच्छ एवं छाना हुआ माना जा रहा है। मर्यादा से बाहर जीव पड़ जाने पर भी आराम से छाना मानकर माता-पिता प्रयोग कर रहे हैं तब उसी जल को बच्चों को पीने से कैसे रोका जा सकता है ? रही बात रात्रि भोजन त्याग की सो अब दफ्तरों और दुकानों में रात्रि देर तक काम चलता है, यह बहाना पर्याप्त है रात्रि में भी भोजन करने का। जबकि रात्रि भोजन त्याग करने वाले भी नौकरी एवं व्यापार करते हैं तथा घर से भोजन ले जाकर दिन डूबने से पहले ही भोजन कर लेते हैं। दूसरे सहयोगी उनके इस कार्य की प्रशंसा करते हैं तथा अधिकारी भी खुशी-खुशी भोजन की अनुमति दे देते हैं; परन्तु जिन्हें नियम निभाना ही नहीं है, सच्चा जैन कहलाना ही नहीं है, अपनी संस्कृति और अपनी पहचान के प्रति जिनकी भावना मर चुकी है। दूसरों की नकल करने, दूसरों जैसा दिखने में ही जो अपनी शान समझते हैं, वह स्वयं तो बिगड़ते ही हैं, उनके बच्चों में भी धार्मिक संस्कार गौण हो जाते हैं।

भाग्यशाली हैं वह बच्चे जिनके माता-पिता हर परिस्थिति में अपनी और अपने धर्म तथा अपनी संस्कृति की पहचान को कायम रखते हैं। वही स्वयं व्रत नियमों का पूर्ण पालन करते हैं तथा अपने बच्चों को भी अपनी तरह ढाल लेते हैं। आगे चलकर ऐसे बच्चे ही विश्व में धर्म और संस्कृति का नाम रोशन करते हैं। इसीलिये बच्चों के प्रथम गुरु का दर्जा माता-पिता को दिया गया है।

माता-पिता के पश्चात् गुरु का दर्जा प्राप्त होता है, उन शिक्षकों को जो बच्चों को आम जीवन में काम आने वाली शिक्षा प्रदान करते हैं। किन्तु जब स्वयं शिक्षा ही जीवन का अभिशाप बन जाये मात्र डिग्री धारण करने का साधन बन जाये तब ऐसी शिक्षा का क्या लाभ जिससे आजीविका चलाने के स्थान पर दर-दर की ठोकें मिले। यही कारण है कि जो सम्मान पहले गुरुकुल में आश्रम में रहकर स्वयं त्याग तपस्या में रत गुरुओं को मिलता था वह सम्मान आज घर-गृहस्थी में रमे सर्व साधनों को धारण करने वाले भोग-विलास में चूर शिक्षकों, अध्यापकों को प्राप्त नहीं होता। यही कारण है कि लौकिक शिक्षा में कितनी भी बड़ी डिग्री कोई क्यों न धारण कर ले वह मानसिक रूप से अशांत रहता है। सदा शांति की खोज में भटकता है और अन्त में पहुँच भी जाता है, उन परम वीतरागी सच्चे गुरु दिगम्बर मुनियों की शरण में।

दिगम्बर जैन मुनि पूर्ण त्यागी तपस्वी होते हैं, स्वयं जिस पथ पर अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र से अग्रसर होते हैं, उसी मार्ग पर सच्चे और स्थायी सुख तथा शांति की कामना रखने वाले शिष्य को भी चलने की शिक्षा एवं दीक्षा देते हैं। पूज्य गुरुवर मुनि विशदसागरजी ऐसे ही सच्चे दिगम्बर जैन गुरु हैं जो स्वयं वैराग्य धारण कर वीतरागी मार्ग पर अपने पाँचों महाव्रतों, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का पूर्ण परिपालन कर रहे हैं एवं अपने शिष्यों को पहले अणुव्रत, प्रतिमायें देकर साधना के योग्य बनाते हैं।

ऐसे ही शिष्य जब योग्य हो जाते हैं, अणुव्रतों का पालन करते हुये महाव्रतों के योग्य बन जाते हैं तभी उन्हें महाव्रत ग्रहण कराये जाते हैं। महाव्रतों की दीक्षा देने वाले ही अन्तिम गुरु आचार्य परमेष्ठी हुआ करते हैं। जिनका सान्निध्य प्राप्त करने को महाव्रती मुनि भी लालायित रहते हैं। ऐसे ही दिगम्बराचार्य परम पूज्य भरतसागरजी महाराज से मिलन का सुअवसर प्राप्त हुआ मुनिवर विशदसागरजी को।

घटना सन् 2004 की है : मुनिवर का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था। लोगों ने निवेदन किया कि आप जयपुर विहार करें, वहाँ पर एक पुराने सुशील वैधजी हैं। साधुओं के योग्य शुद्ध औषधि वितरण करते हैं। मुनिवर ने विचार किया कि इस तरह यात्रा भी हो जाएगी एवं स्वास्थ्य लाभ भी मिल जाएगा। यद्यपि दिगम्बर साधु को शरीर और शरीर के रोगों से कोई प्रयोजन नहीं; परन्तु रत्नत्रय की साधना निरन्तराय पालने हेतु शरीर का स्वस्थ रहना आवश्यक है। इसी लक्ष्य के साथ राजस्थान में प्रवेश किया। सर्वप्रथम श्री चमत्कारजी, श्री महावीरजी पावन तीर्थों की वंदना की। तत्पश्चात् 30 मई, 2004 को सिवाड जैन मन्दिर, किशनपोल बाजार, जयपुर पहुँच गये। इसके बाद जयपुर की शान जौहरी बाजार स्थित दिगम्बर जैन मंदिर में पूज्य मुनिवर विशदसागर का वर्षायोग स्थापित हो गया।

वर्षायोग वह भी हीरों के व्यापारिक केन्द्र जयपुर के गर्भस्थल जौहरी बाजार में, समाज के लोग बहुत धर्मप्रेमी थे। समाज के ऊपर दीवान अमरचन्द के त्याग एवं पंडित और महान् विद्वान् श्री टोडरमल की स्पष्ट छाप थी। सभी संस्कारित एवं ज्ञानवान होने के साथ-साथ धर्म और संत की सेवा में समर्पित थे। एक

तरफ जहाँ प्रातःकाल मुनिवर का धार्मिक उद्बोधन सुनने हेतु हॉल भीड़ से खचाखच भर जाता था वहीं पर दूसरी ओर आहारचर्या का समय प्रारम्भ होते ही मानो जयपुर में जाम लग जाता था। सब कुछ स्थिर, सारा आवागमन रुका हुआ, गति थी तो केवल उन केशरिया वस्त्र पहने उन श्रावकों की जो आहारचर्या हेतु तेजी से महाराजश्री के आगमन की सूचना देने अथवा उनके आगे-आगे बाधायें दूर करने आगे-आगे दौड़ रहे थे। अथवा उन पुरुष एवं महिलाओं की जो मंगल कलश लिये अपने-अपने दरवाजे पर पड़गाहन हेतु खड़ी थी एवं महाराजजी को दूर से ही आता देख उच्च मगर मधुर और संयमित स्वर में बोलने लगते- “हे स्वामी ! नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, अत्रे अत्रे अत्रे, तिष्ठो-तिष्ठो” इतना कहने पर अपनी विधि (प्रतिज्ञा) मिली देख यदि महाराज रुक जाते तो तीन प्रदक्षिणा साधु की लगाते, फिर मनशुद्धि, वचनशुद्धि, आहारशुद्धि मम गृह-प्रवेश बोलकर साधु (महाराज) को अपने गृह मे ले जाते। जहाँ पूरी नवधा भक्ति के साथ आहार देकर पुण्यार्जन करते।

बारह बजे से सामायिक तथा दो बजे से कक्षायें लगायी जातीं जिनमें तत्त्वों का ज्ञान कराने हेतु छहढाला, चौबीसठाना, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, भक्तामर स्तोत्र आदि का पठन-पाठन कराया जाता। रात्रि के पूर्व आनन्द यात्रा एवं रात्रि में बड़ी ही भक्ति भाव से साधुओं की सेवा वैयावृत्ति होती।

आचार्यपद अलंकरण-

दिगम्बर जैन आम्नाय में अट्ठाईस मूलगुणों के धारी महाव्रती मुनि महाराज होते हैं। जो सदैव महाव्रतों का पालन करते हुये धर्मध्यान में लीन रहते हैं। महाव्रती मुनि से ऊँचा दर्जा उपाध्याय परमेष्ठी का हुआ करता है। उपाध्याय परमेष्ठी मलूगुणों का पालन करते हैं। धर्मध्यान करते हुये पठन-पाठन का कार्य भी करते हैं। उपाध्याय परमेष्ठी से भी ऊपर आचार्य परमेष्ठी हैं। आचार्य परमेष्ठी के संघ में मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका होते हैं। पूरे संघ का संचालन, मूलगुणों का पालन करवाना, पठन-पाठन करना, दोषों का प्रायश्चित्त देना एवं परिहार करवाना तथा धार्मिक संस्कार की शिक्षा देते हुए समाज में शुद्धता, समरसता, प्रेम, प्यार, वात्सल्य का वातावरण निर्मित कर श्रावकों को नियम व व्रतों में अंगीकृत करना भी आचार्य परमेष्ठी अपने प्रवचनमृत के माध्यम से करते रहते हैं। संघस्थ साधुओं को भी आहारचर्या, सामायिक, शौचक्रिया, पठन-पाठन, वार्तालाप अथवा अन्य किसी भी कार्य के करते समय यदि कोई समस्या आ जाय तब उसका समाधान भी आचार्यश्री के द्वारा होता है। किसी भी जगह आने-जाने रुकने की अनुमति भी संघ में किसी भी मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका को आचार्यश्री ही प्रदान करते हैं।

प्रथम तो साधुगण अपने दोषों की निन्दा या आलोचना स्वयं ही कर लेते हैं। यदि वह उन्हें लगता है कि अपने आगे ही नहीं आचार्यश्री गुरुवर के समक्ष आलोचना करना जरूरी है, वह गुरुवर आचार्य के समक्ष निष्पक्षता से पूरी बात बताकर अपने दोषों की निन्दा करते हैं, गुरु के समक्ष की गयी अपने दोषों की

आलोचना गर्हा कहलाती है। गुरुवर के समक्ष इस भय से कि कहीं गुरुवर कठोर दंड न दे दें, साधु अपने दोषों को छिपाता नहीं है, न ही शब्दों के जाल में दोष को कम करके पेश करता है। गुरुवर आचार्यश्री साधु या श्रावक के दोष का परिमाण के साथ-साथ उसके परिणाम एवं समय और परिस्थिति पर विचार करते हैं, फिर दोषी के दण्ड सहन की क्षमता परख कर यथोचित प्रायश्चित्त प्रदान करते हैं। यह कार्य साधुत्व में आये दोष और प्रमाद के निवारणार्थ किया जाता है।

अपने ही दोषों को बार-बार सामने कर मन-वचन और काय की शुद्धि का ध्यान तो प्रमुखता से गुरुवर आचार्य रखते ही हैं। आत्मा के अन्दर आये तीनों प्रकार के कर्म कलंक द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म के नाश करने हेतु ध्यान का नियमित अभ्यास भी गुरुवर आचार्य द्वारा कराया जाता है। प्रतिदिन पूरे संघ को एक साथ बैठाकर नित्य संध्याकालीन प्रतिक्रमण भी आचार्यश्री करवाते हैं। इसके साथ-साथ एक सप्ताह में साप्ताहिक एक पक्ष में पाक्षिक एवं एकमाह मासिक प्रतिक्रमण भी गुरुवर आचार्य के सान्निध्य में होता है। तीन माह में त्रैमासिक प्रतिक्रमण, वर्षायोग के पश्चात् निष्ठापन प्रतिक्रमण एवं वर्षभर पूर्ण होने पर वार्षिक प्रतिक्रमण भी गुरुवर आचार्य के पावन सान्निध्य में कराया जाता है। जो प्रतिक्रमण के प्रयोजन से अंजान है, वह प्रतिक्रमण को मात्र संघ की आवश्यक क्रिया मानते हैं; परन्तु प्रतिक्रमण करने और प्रतिक्रमण कराने वाले इस पावन प्रतिक्रमण के माध्यम से आत्मा में आये दोषों को दूर कर कर्मों की निर्जरा करते हैं एवं भावों में नित्य निर्मलता, शुद्धता, शांति एवं स्थिरता बढ़ाये जाते हैं।

प्रायश्चित्त, प्रतिक्रमण, अनुमति एवं संचालन जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यों के साथ-साथ आचार्य भगवन्त वह महान् गुरु हैं जो बगैर किसी लोभ या लालच के शिष्य के याचना करने पर शिष्य को दीक्षा प्रदान करते हैं। श्रावक को प्रथम छोटे-छोटे नियम और व्रत के साथ-साथ उनका कठोरता से पालन भी आचार्यश्री करवाते हैं। इसके बाद ही अणुव्रत के साथ-साथ एक-एक कर ग्यारह प्रतिमायें धारण कराते हुये क्रमशः गृहस्थी से निवृत्ति कराते हुये साधु मार्ग पर लाते हैं। जब श्रावक का घर छोड़कर रहना, मंदिर में मन लगाना, घर की याद न आना, नाते-रिश्तों से पूर्ण उदासीनता तथा निजकल्याण की भावना प्रबलता से स्पष्टतया मन, वचन और काय से परिलक्षित होने लगती है। गुरुवर उसकी महाव्रती परिव्राजक की दीक्षा देने की याचना पर विचार करते हैं। दीक्षा देने के पूर्व पुनः उस पर विचार करने का अवसर भी देते हैं। विचार दृढ़ होने पर पत्नि, पति, पिता, माता एवं अन्य संबंधियों से दीक्षा लेने की अनुमति लाने का आदेश देते हैं।

परिवार से अनुमति मिलने पर दीक्षार्थी को पूर्णतया शृंगारित कर बिनोली की जाती है। परिवारी जनों के संग पूरी बस्ती में दीक्षार्थी की भव्य शोभायात्रा निकाली जाती है जिसमें वह अपने जीवन में जोड़े गये धन सामग्री का यथायोग्य में खुले दिल से दान एवं वितरण करता है। इसके पश्चात् ही भव्य समारोह सादा एकान्त में भी दीक्षा दी जा सकती है। दीक्षा चाहे भीड़ की उपस्थिति में हो अथवा एकान्त में दीक्षार्थी को फिर भीड़ की नहीं एकान्त की जरूरत रह जाती है जहाँ वह अपनी निर्विघ्न साधना में रत रह सके।

दीक्षा देने का एकमात्र अधिकार मात्र आचार्य परमेष्ठी को ही होता है और आचार्यपद प्राप्त होता है उस महाव्रती को जिसके अन्दर स्वयं आचार्यश्री वह योग्यता पाते हैं जो एक आचार्य के अन्दर होती है। आचार्यपद देने के पूर्व उसे पूरी तरह परखकर आचार्य प्रवर इस पद की गरिमा के अनुकूल आचरण में योग्य महाव्रती को पूर्ण दक्ष करते हैं। यद्यपि समय और परिस्थितियों को देखते हुये आवश्यकता पड़ने पर श्रावकों का समूह भी किसी संघ की, समाज की, साधु की मर्यादा एवं अनुशासन में कुशल मुनि को आचार्यपद हेतु घोषित कर सकता है। यहाँ चर्चा करना है मुनिपुंगव श्री विशदसागरजी के आचार्य पद अलंकरण की।

जयपुर वर्षायोग के समापन पर दीक्षा देने हेतु दीक्षार्थी याचना कर रहे थे। इसी बीच आचार्यश्रेष्ठ विमलसागरजी सुयोग्य पट्टाधीश आचार्यश्री भरतसागर का संदेश समस्त साधुओं के पास आया कि वह लुहारिया पंचकल्याणक हेतु जयपुर प्रवास कर रहे हैं इसीलिये समस्त साधुगण वहीं पर रुकें ताकि सभी से मिलन हो सके एवं सभी के रत्नत्रय की परस्पर जानकारी हो सके। आचार्यश्री की आज्ञा सभी साधुओं ने सहर्ष स्वीकार की एवं जयपुर के आस-पास प्रवास कर रहे सभी साधु जयपुर पहुँच गये। जयपुर में भट्टारकजी की नसियां में आचार्यश्री विमलसागरजी का समाधि दिवस पूरी धूमधाम एवं उत्साह से मनाया गया।

इस पुनीत अवसर पर आचार्यश्री भरतसागर एवं मुनिश्री विशदसागर का भव्य और भावपूर्ण स्नेहिल मिलन हुआ। शिष्य की गुरु के प्रति ऐसी अनुपम और भाव-विह्वल भक्ति देखकर भक्तगणों की आँखों में अश्रुधारा बह निकली। मुनिश्री को न जाने क्यों पूज्य आचार्यश्री भरतसागरजी के प्रति इतनी आसक्ति (लगाव) क्यों थी ? समाज भी स्तंभित था कि ऐसा प्रेम साधुओं में कहाँ देखने को मिलता है ? साधु तो मात्र आत्मा से प्रेम करते हैं, मगर आत्मा में रमण करने वाले निर्मोही भी ऐसा निश्चल प्रेम मोह रहित प्रगट कर सकते हैं। यही सोच-सोचकर समस्त उपस्थित जन समूह हर्षातिरेक में रोमांचित एवं पुलकित हो रहा था। जोश में आकर कभी भीड़ से आचार्यश्री एवं मुनिवर के जयकारे गूँज उठते तो कभी उत्साह में जोरदार तालियों का निनाद गूँज उठता।

आहारचर्या के पश्चात् दोपहर के समय मुनिवर आचार्यश्री के पास पहुँचे। मुनिवर के संघ में शामिल ब्रह्मचारी भैया एवं ब्रह्मचारिणी बहिनें भी मुनिवर के साथ ही आचार्यश्री के पास चली गई। उन्हें देखकर मुस्कराते हुये गुरुवर आचार्य ने कहा- **“अरे विशदसागर ! तुमने अभी तक इनका कल्याण क्यों नहीं किया ? इन्हें दीक्षा दे देते तब यह भी मुक्ति के मार्ग पर चल पड़ते।”** मुनिवर ने बड़ी विनम्रतापूर्वक गुरु चरणों में निवेदन किया- **“गुरुवर ! दीक्षा देने का अधिकार मुझे कहाँ है ? यह तो आपके सेवक हैं, यह कार्य और इनका कल्याण आपके कर-कमलों से ही संपन्न हो सकता है। तब आचार्यश्री ने कहा- चलो यह अधिकार हम आपको देते हैं।**

पूज्य आचार्य भरतसागर का विचार मुनि विशदसागर को आचार्यपद पर प्रतिष्ठित करने का विचार जयपुर में ही था; किन्तु तिथि की अनुकूलता नहीं होने से कार्यक्रम संपन्न नहीं हो सका। आचार्यश्री ने मालपुरा पहुँचकर आचार्यपद अलंकरण समारोह करने को कहा एवं बसंत पंचमी का शुभ मुहूर्त भी निश्चित कर दिया। समय एवं स्थान निश्चित हुआ तो वही हुआ जो किसी भी मंगल कार्य होने के पूर्व होता है। धर्म के कार्य को पचा न सकने वालों ने अपना कार्य शुरू कर दिया। आलोचनाओं, प्रति-आलोचनाओं का दौर शुरू हो गया। कई लोगों ने अपनी मर्यादा से बाहर मुनिपद की अवहेलना करते हुये अपशब्द एवं अनुचित बातें भी कही। शिष्टता एवं सभ्यता की सीमा भी पार की गई; परन्तु धीर, वीर, गंभीर महामुनि विशदसागर तो संघर्ष की पर्याय थे। बचपन से ही संघर्ष में जुझारू रहे जब महाव्रती बने तब अपनों (परिवार वालों) से मौन संघर्ष किया; परन्तु वैराग्य के पथ पर अटल रहे। आज जब फिर अपनी समाजवालों ने विरोध किया तब भी मौन व्रत धारण कर अपने जुझारूपन एवं संघर्षशीलता के साथ-साथ धीर, वीर, गंभीरता के पर्याय बन गये। पूज्य आचार्य भरतसागरजी को भी भरपूर प्रयास कर प्रभावित किया गया ताकि आचार्यपद प्रदान नहीं हो सके; परन्तु आचार्यश्री का संकल्प चट्टान की भाँति अटल रहा।

गुरु-शिष्य दोनों नहीं डिगे तब मालपुरा वालों के मध्य घोर कुप्रचार किया गया। जिससे मालपुरा वाले भी भयभीत हो कार्यक्रम से पीछे हटने लगे। मुनिवर विहार करते हुये डिग्गी ग्राम पहुँचे वहाँ भी एक क्षुल्लक एवं एक ब्रह्मचारी विरोध हेतु पहुँच गये। मुनिश्री को गमन करने से रोकने का प्रयास किया गया। मगर मुनिवर ने घोषणा कर दी कि आचार्यश्री के आदेश का पालन अवश्य करूँगा। मुनिश्री ने कहा-मालपुरा वाले कार्यक्रम आयोजित नहीं करेंगे तब दीक्षा किसी स्कूल में अथवा सड़क पर बैठकर दे दूँगा, संघर्ष काफी समय तक चलता रहा। आचार्यश्री ने लोगों को समझा-बुझाकर कर शांत किया तथा कहा कि संघ का कुशल संचालन लिए पूरी तरह पात्र हैं, समझदार हैं, ज्ञानवान हैं, विवेकवाले हैं, फिर आपका निषेध क्यों हैं ? आचार्यपद की योग्यता रखने वाला यदि आचार्यपद के योग्य होकर दीक्षा प्रदान करता है, तब कोई आश्चर्य या दुविधा की बात नहीं है। पूत के लक्षण तो पालने में ही दिख जाते हैं। लोगों की संतुष्टि एवं सभी की सहमति से गुरुवर आचार्य श्री भरतसागरजी द्वारा पूज्य मुनिश्रेष्ठ विशदसागरजी को बसंत पंचमी के शुभ मुहूर्त में 13 फरवरी, सन् 2005 को मालपुरा में एक भव्य और शानदार समारोह में आचार्यपद से विभूषित किया। साथ ब्र. सुधीरजी को मुनि दीक्षा एवं ब्र. केसरी भैया, ब्र. दिनेशजी को क्षुल्लक दीक्षा आचार्यश्री विशदसागरजी ने दी थी। इस समारोह की भव्यता को लोग आज भी मधुरता से याद करते हैं।

पूज्य आचार्यश्री 2008 में मालपुरा, जिला-टोंक, दीक्षा स्थली में पंचकल्याणक कराने के पश्चात् वर्षायोग हेतु अतिशय क्षेत्र चँवलेश्वर पारसनाथ पहुँचे। यद्यपि स्वास्थ्य अनुकूल नहीं थी फिर वर्षायोग नजदीक आ रहा था तो सीधा वर्षायोग हेतु चँवलेश्वर पहुँचे। प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण, हरितिमा से

लवलीन, प्राकृतिक वातावरण मनमोहक था। आचार्यश्री संघ सहित विहार कर रहे थे, यद्यपि संघ के साधु पीछे रह गये तो आचार्यश्री विश्राम हेतु वहीं नाटी काकी के मंदिर के यहाँ विराज गए। आचार्यश्री ने वहाँ पार्श्वप्रभु की प्रतिमा देखी तो पता नहीं क्या हुआ, मन में बस एक ही भावना थी कि इस मूर्ति का जीर्णोद्धार होना चाहिए। लोगों से पूछा तब पता चला कि 12 वर्ष पहले यहाँ नाटी काकी के नाम से एक जैन मंदिर था किन्तु समय के साथ मंदिर ध्वस्त हो गया और मूर्ति के लिए लोगों ने पत्थर मार-मारकर खराब कर दिया तब वही क्षेत्रपाल को लोगों ने बालाजी कहकर घोषित कर दिया। आचार्यश्री ने विचार किया चाहे कुछ भी हो मंदिर का निर्माण कराकर प्रभु की इतनी सुन्दर मूर्ति को पुनः प्राणदान देंगे। इस प्रकार धीरे-धीरे कार्य प्रारम्भ हुआ। एक बार मंदिर का कार्य चल रहा था तब अचानक नागराज ने घेरा डाल दिया तब मजदूर घबरा कर कार्य छोड़कर भागने लगे। आचार्यश्री के पास सूचना आई कि क्या करना है ? आचार्यश्री ने आशीर्वाद देकर कहा-चिंता की बात नहीं है, नागराज कार्य का निरीक्षण करने आए थे, आप श्रीफल भेंटकर कार्य प्रारम्भ कीजिए। ऐसा करते ही फिर दुबारा नागराज नहीं आए। पूज्य आचार्यश्री ने अथक परिश्रम के बाद ही फाल्गुन शुक्ला पंचमी से फाल्गुन शुक्ला दशमी तक प्राण प्रतिष्ठा का कार्यक्रम निश्चित हुआ। पूज्य आचार्यश्री विरागसागरजी महाराज उस समय बाँसवाड़ा में थे, लोगों ने गुरुदेव से निवेदन किया कि इस क्षेत्र पर चार चाँद लगाने के लिए और अधूरा कार्य पूरा करने के लिए आपको चँवलेश्वर के लिए स्वीकृति अवश्य ही देना होगी। आचार्यश्री की स्वीकृति मिलते ही क्षेत्र दिन-दूना रात चौगुना वृद्धि को प्राप्त होता गया। विघ्न अनेकों आए लेकिन उनसे नहीं घबराए। शायद विशदसागर ने अपने जीवन में अनेक संघर्षों का सामना समता पूर्वक किया था। गुरु-शिष्य का मिलन देखकर जनता गद्गद हो गई और इतना भव्य पंचकल्याणक हुआ जो लोग डरते थे वही आज प्रशंसा करते हैं कि संत हो विशदसागर जैसा। यद्यपि पूज्य आचार्यश्री स्वभाव से सरल, सौम्य, प्रसन्न आदि अनेक गुणों से युक्त हैं। पश्चात् अनेक स्थानों पर विहार करते हुए पूज्य आचार्यश्री विराट नगर गये जहाँ आर्यिका स्याद्वादमती माताजी के सान्निध्य में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराई। प्रतिष्ठा कराने के पश्चात् आचार्यश्री अतिशय क्षेत्र तिजारा दर्शनार्थ पहुँचे। वहाँ से हरियाणा जिसे हरितिमा का क्षेत्र कहा जाता है, इस प्रांत की धार्मिक प्रसिद्ध नगरी रेवाड़ी में 2011 का वर्षायोग सम्पन्न हुआ। इस वर्षायोग में प्रथम बार पूज्य आचार्यश्री के सान्निध्य में 108 दिन का गमोकार महामण्डल विधान अत्यन्त हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ। तदपश्चात् आचार्यश्री हस्तिनापुर के दर्शनार्थ पहुँचे। पुनः आगामी वर्षायोग हेतु भारत की राजधानी दिल्ली में प्रथम बार धर्मनगरी शास्त्री नगर में चातुर्मास अत्यन्त हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ। दिल्लीवासियों का एक पुण्य का अवसर भी आया कि पूज्य आचार्यश्री विशदसागरजी महाराज का स्वर्ण जन्म जयंती समारोह मनाने का अवसर भी प्राप्त हुआ। 2013 का वर्षायोग श्री दिगम्बर वर्धमान जैन मन्दिर, शकरपुर, दिल्ली में सानंद सम्पन्न हुआ वही पर अभिनव कल्पतरु विधान भी हर्षोल्लास के साथ सम्पन्न हुआ।

समापन

आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि ग्रंथ के पूर्ण पठन के बाद आपके अन्दर पुनः ग्रंथ को प्रारम्भ से पढ़ने के भाव अवतरित हो रहे होंगे। क्यों न हों संसार समुद्र में डूबते उतराते बहुत काल का अन्तराल हो गया। आवश्यकता है इस अन्तराल को पाटने की, भव भ्रमण से मुक्ति की दूरी कम करने की। स्वकल्याण का सन्मार्ग जिसने पकड़ लिया, आस्था और विश्वास के कर से कसकर पकड़ लिया, उसका भव-भ्रमण मिटना तय है। परन्तु यह तभी होगा जब आप अपने जीवन में आयी अशांति अस्थिरता और असंतोष को दूर कर सकें। आकुलता, व्याकुलता, निराकुलता को निर्मूल्य कर सकें।

आप अपने ग्रन्थों का पठन-पाठन करें आवश्यक नहीं। आवश्यक है किसी भी ग्रंथ आद्योपान्त पठन, मनन, चिन्तन। आपका चिन्तन उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होगा तो जीवन में आयी जल्दबाजी कम हो जायेगी। रोज-रोज की दौड़, धूप एवं रोज-रोज घर से दूर तक सफर करना भी अखरने लगेगा। घर से बाहर की आवोहवा या वातावरण में फैला प्रदूषण भी आपको घर लौटने पर मजबूर करने लगेगा। एक दिन आप घर भी लौट आयेंगे, आपको लगेगा कि मैंने पूरा जीवन तरुणायी, यौवन, जवानी इन बच्चों के ऊपर न्यौछावर कर दिया। अब इन्हीं बच्चों के सहारे जीवन समापन खुशी-खुशी कर दूँगा। बच्चों की हर जरूरत को पूर्ण किया, पढ़ाया लिखाया, पालन-पोषण किया, नौकरी लगवाई, अपने पैरों पर मजबूती से खड़ा कर दिया। अब तो अवश्य ही बच्चे उत्साह, उमंग से भाग-भागकर मेरी सेवा करेंगे। मेरी आज्ञा के पालन में तत्पर रहेंगे। मेरी किसी भी बात की उपेक्षा कर मुझे लज्जित या दुःखी नहीं करेंगे।

सच्चाई का सपना बहुत जल्द सामने आता है जिन बच्चों पर विश्वास था वही दगा दे जाते हैं। जिनके सपने खुद के सपने चूर्ण कर पूर्ण किये उन्होंने ही मेरे सपने चकनाचूर कर दिये। अपने ही घर से बेघर होकर फुटपाथों पर गिरता पड़ता सोचता रहता है कि कोई तो सहारा मिलेगा, मगर हमारी जिन्दगी तू ! कितनी बेदर्दी से दामन तोड़ती है ? कितनी निर्ममता से सहारा छीनती है और कितनी निष्ठुरता से अपनों को पराया कर देती है ? कहाँ जाऊँ ? किसके पास जाऊँ ? कौन है मेरा ? जब अपने ही दगा दे गये तो पराये क्यों सहारा देंगे ? क्योंकर मुझे अपनायेंगे ? कैसे कटेगी जिन्दगी ? कैसे मिलेगी शान्ति ? कैसे मिलेगा सकून ? लगता है भगवान भी मुझसे रूठ गया है, अवश्य ही मैंने पहले कोई खोटे कर्म किये होंगे, जो उदय में आकर मुझे रूला रहे हैं, अब तो चाहे हँसू या रोऊँ ये कर्म तो काँटने ही पड़ेंगे।

अचानक ही एक राहगीर आपको बीच सड़क पर वाहन से टकराते-टकराते बचा लेता है। जिन्दगी को समाप्त होने से रोक लेता है तथा आपकी हालत देखकर सहारा देता है तथा आपको अपने अनुसार जीने की आजादी देता है। साथ ही चेतावनी भी देता है, बस ! बहुत हो गया बाबा अब किसी भी तरह भटकने की जरूरत नहीं है। जीवन में निरन्तर चलते-चलते थक गये हो, विश्राम की सख्त जरूरत है।

आराम पूरी तरह करो और केवल खुद पर ध्यान दो, दुनिया एवं दुनियादारी को छोड़ केवल खुद से वास्ता रखो, जीवन का रास्ता खुद-ब-खुद निकल आयेगा।

शरीर को विश्राम मिला, चलने-फिरने पर विराम लगा, खुद पर विचार करने की आजादी मिली तो सोच की दिशा भी बदल गयी। सोच शुरू होने से पहले ही नींद शुरू हो गयी, किन्तु यह क्या शरीर के विश्राम अवस्था में होते हुये भी मन का चलना जारी रहा। सोच स्वप्न में बदल गयी। घर लौटने से लेकर बाहर किये जाने के दृश्य बार-बार स्मृति पटल पर तैरने लगे। ज्यों-ज्यों दृश्य सामने आता अपनों का सपना टूटता जाता। अपनों की बेवफाई उजागर होती जाती। बेवफाई के स्थान पर रिश्तों का सच नजर आने लगा।

रिश्तों का सच सामने आते ही स्मृति पर छा गया वह राहगीर जिसने वाहन के नीचे आते-आते मेरी जान बचायी। जान ही नहीं बचायी जग से दूर, नाते-रिश्तों से दूर, केवल अपने बारे में सोचने को मजबूर कर दिया। सहसा मन में प्रश्न कौंध गया लेकिन वह कौन है, क्यों मुझे मुझसे मिलाना चाहता है ? क्यों जगत् की सच्चाई मेरे सामने लाने पर उतारू है। क्या होगा इससे ? कहीं यह भी झूठा नहीं मेरे अपनों की तरह ? अगर यह सच हुआ तब क्या होगा ? मैं तो कहीं का नहीं रहूँगा ? अरे..

अचानक उनकी नींद खुल गयी तो देखा हाथ में पुस्तक थी जिसमें आचार्य विशदसागर के द्वारा जीवन के सच को उजागर करते हुए जीव के संसार परिभ्रमण का सविस्तार वर्णन था। संसार में प्राप्त इष्ट वियोग, अनिष्ट वियोग के साथ कर्मजनित दुःख एवं अस्थायी सुखों को भी असत्य बताया गया था। सच्चे सुख के धनी मात्र वीतरागी सर्वज्ञ अरहन्त प्रभु एवं सिद्ध भगवन्त को बतलाया गया था। इन्द्रिय सुखों को सुखाभास, चक्रवर्ती तथा देवेन्द्रों के वैभव, पुण्य का प्रताप एवं विनाशक बतलाया था। अपने ही अन्दर स्थित आत्मा में विराजमान परम आत्मा के अनन्त अव्याबाध सुख को सच्चा सुख निरूपित किया गया था। जिसकी प्राप्ति संसार, शरीर, भोगों में आसक्ति छोड़ने पर ही संभव है।

एकाएक लगा कि भटके को राह मिल गयी, भक्त को भगवान मिल गये, मन की माँगी मुराद पूर्ण हो गयी। सब कुछ दर्पणवत स्पष्ट हो गया, न किसी से राग रहा न किसी से बैर। सबको उत्तम क्षमा एवं सबसे उत्तम क्षमा यही जीवन का सूत्र बन गया। जीवन का समापन जीव के कल्याण का मार्ग खोल देगा, एक पुस्तक इस तरह जीवन की दशा एवं दिशा तक बदल देगी, सोचा भी नहीं था। किन्तु अच्छा ही हुआ सुबह का भूला शाम को घर वापिस आ गया। अब तो जीवन रहे न रहे जीव जीव की अर्थात् आत्मा के कल्याण के मार्ग पर चलना है, बढ़ना है, बढ़ते ही जाना है।

कहीं भटकने का डर नहीं, कभी अटकने की चिन्ता नहीं, राह दिखाने को मौजूद है दिशा-निर्देशन करती 'मोक्ष पथगामी' पुस्तक।

पाठक स्वयं समझ गये होंगे की वह व्यक्ति और कोई नहीं हम सभी हैं। हमारे ही साथ जीवन में घटती अप्रिय घटना हमें नाते-रिश्तों का सत्य बतलाती है। रिश्तों का मोह हमें मृत्यु तक ले जाता है, रिश्तों से नफरत भी हमें मृत्यु के मुँह में धकेल देती है। वहाँ पर कोई हो न हो हमारा किया हुआ अध्ययन अवश्य हमारे साथ होता है जो हमें मृत्यु के भय से मुक्त करता है। जीवन के रहस्य से पर्दा उठाता है जीवन के कल्याण की राह दिखलाता है। इसके लिये आवश्यक है ऐसी पुस्तक, ऐसे ग्रंथ का अध्ययन, पठन जो हमें हमारे जीवन में घटने वाली घटना से जोड़ सके एवं घटना के प्राप्त परिणाम की निराशा और हताशा से मुक्त हो सके। जीवन में आयी थकान का आत्म स्थिरता में परिवर्तित कर सके। बार-बार हमें हमारे ही स्वरूप से परिचित करवा सके। परिचय प्राप्त कराके उसी में रमण करने की बार-बार प्रेरणा दे सके। **“मोक्ष पथगामी”** ऐसी ही विलक्षण और अद्भुत आत्म स्वभाव से भरे गुणों से परिचित कराने वाली पुस्तक है। जो भी इसका पठन, पाठन, मनन, चिन्तन, अध्ययन सहित स्वाध्याय करेगा, अवश्य स्वकल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को धारण करेगा। खुद का कल्याण करेगा औरों के कल्याण हेतु प्रेरणा का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करेगा।

आचार्य पूज्य गुरुवर विशदसागर साहित्य सृजनकर्ता :

आज का इन्सान संहनन की हीनता, संस्थान की कमजोरी, ज्ञान की कमी से खुद को एवं खुद में बसे उन अक्षय, अनन्त, अविनाशी गुणों को भूला बैठा है जो खुद में होते हुये भी उनकी खोज बाहर कर रहा है। अनन्त अविनाशी सुख तो जानता भी नहीं, मानता भी नहीं। खुशी में खण्डित कर रहा है टुकड़ों-टुकड़ों में खुशियाँ बटोर रहा है। खण्डित खुशियों का ही परिणाम है कि हँसते-हँसते रोने लगता है, रोते-रोते हँसने लगता है। पता नहीं पड़ता कि रो रहा है अथवा हँस रहा है। पलभर पहले हँसता है वही इन्सान पलभर पश्चात् रोने लगता है। इसी खुशी को सुख तथा इसी रोने को दुख मानता है।

थोड़ी सी बीमारी हुयी, किसी प्रिय का वियोग हो गया, कोई बनता हुआ काम बिगड़ गया, लाभ के स्थान पर हानि हो गयी, किसी ने विश्वासघात कर दिया अथवा किसी ने उसकी अपेक्षा पूर्ण नहीं की तो बीमारी मिटाने के लिये डॉक्टर या औषधि का सहारा नहीं लेता, प्रिय के संयोग का प्रयास नहीं करता, बिगड़े काम को बनाने का उपाय नहीं खोजता, हानि को लाभ में बदलने का प्रयत्न नहीं करता, विश्वासघात का अवसर ही नहीं आये ऐसी सावधानी नहीं रखता, स्वयं का कार्य स्वयं नहीं कर दूसरों से करवाने की अपेक्षा करता है। पर का उपकार भी इस अपेक्षा से करता है कि आगे वह उसके उपकार का बदला बुरे समय में उसके काम आकर देगा।

इन सब कामों को करने के लिये वह देवी-देवताओं को समर्थ समझता है। इसीलिये उन मांत्रिकों, तांत्रिकों की शरण में जाता है जो देवताओं को प्रसन्न कर उसके मनोरथ पूर्ण कर सके। मूढ़ अज्ञानी यह

नहीं जानता कि जितने भी दुःख या तकलीफ हैं वह उसके पूर्वकृत अशुभ कर्म का फल हैं तथा जितने सुख, साता और शांति के क्षण हैं वह भी उसके पूर्वकृत शुभ परिणामों का फल है।

व्यक्ति का या प्राणी का जैसा उदय आता है वैसी ही परिणति को वह प्राप्त हो जाता है। कोई भी देवी या देवता किसी के शुभ अशुभ फल में दखल नहीं दे सकता है। शुभ परिणामों के प्राप्त फल को कम या ज्यादा करने की शक्ति स्वयं व्यक्तिक है। व्यक्ति चाहे तो भगवान की भक्ति पूर्ण समर्पण एवं सम्पूर्ण श्रद्धा से करे तब उसके उदय में आये दुखों की अनुभूति की तीव्रता भी मन्द पड़कर अल्प समय में समाप्त हो जाती है। हाँ, वह उदय में अवश्य आती है, उसके उदय को व्यक्ति स्वयं भी टाल नहीं सकता।

आज का मानव सच्चे, स्थिर, स्थायी, अविनाशी, अनन्त सुख को भूल गया है इसी कारण वह खण्डित टुकड़ों में प्राप्त सुख की खोज में रहता है। दुनिया में सच्चा जैन कभी इस सुख की प्राप्ति की अभिलाषा नहीं रखता, परन्तु आज सच्चे जैन नहीं, नाम के जैन हैं इसीलिये वह अपने आप्त कथित आगम प्रमाणित अकाव्य कर्म सिद्धान्त को भूलकर मिथ्या मान्यताओं से घिर गया है तथा दूसरे धर्म के अनुयायियों की मान्यता के अनुसार भगवान की जगह भगवान के ही भक्त जिन्हें हम रक्षक देव शासक देवी-देवता, क्षेत्रपाल, रक्षपाल आदि नाना नामों से पुकारते हैं, की शरण में चला गया है। मिथ्यात्व का पोषण कर सम्यक्त्व को भूला रहा है।

एक उदाहरण जगजाहिर है कि एक बार भयवश एक सिंह गधों की टोली में शामिल हो गया। गधों की तरह रहता, गधों की तरह खाता, गधों की तरह पीता, गधों की तरह बोझा रखकर चलता तथा गधों के साथ ही विचरण करता। मगर एक बार जंगल के शेर ने सिंह को गधों के साथ गधों जैसा आचरण करते देख लिया। शेर ने तुरन्त जोर से दहाड़ लगायी, शेर की दहाड़ सुनते ही सिंह को भी शक्ति एवं स्वभाव की याद ताजा हो गयी। अपनी शक्ति का अहसास होते ही उसने स्वाभाविक दहाड़ लगायी तो सारे गधे भाग खड़े हुये, सिंह भी निर्भय होकर जंगल में चला गया।

बस, मानव की भी ऐसी ही दशा है वह भी अपना सत्य धर्म भूलकर असत्य एवं मिथ्या मार्ग पर आ गया है। मिथ्या मान्यताओं वाले मानवों की टोली में रहकर अपने ही कर्म सिद्धान्त रूप कर्म काटने के उपाय भूल गया है। इन्सान की खोयी इसी शक्ति एवं सत् मान्यता के जागरण हेतु करुणासागर, कृपासिन्धु, वात्सल्य रत्नाकर गुरुवर आचार्य श्री विशदसागर द्वारा ग्रह शांति, गृह शुद्धि, मन शुद्धि, दुख निवारण, ईष्ट प्राप्ति, अनिष्ट नाशक अनेक विधानों की रचना कर सिंह गर्जना की है। जो भी गधों की टोली में विचरण करने वाले निज शक्ति एवं स्वभाव से भटके मानव रूपी शेर हैं। वह अवश्य गुरुवर की सिंह गर्जना सुनकर स्वयं गरज उठेंगे तथा अपने ही कर्म सिद्धान्त को अपना कर अपने सच्चे सुख की प्राप्ति का सद्प्रयास करेंगे।

गुरुवर द्वारा विधान के साथ-साथ ज्ञानार्जन एवं संसार शरीर भोगों से मुक्ति प्राप्ति हेतु अन्य अनेक कल्याणकारी मार्गदर्शक साहित्य का आगम के अनुकूल सृजन किया है।

* * *

पंचकल्याणक

परम पूज्य आचार्यश्री को जहाँ ज्ञान-ध्यान-तप में अग्रणीय स्थान है वहीं पंचकल्याणक कराने में अहम् भूमिका भी है। बुन्देलखण्ड की माटी में जन्मे इस महान् आचार्य ने जहाँ मध्य प्रदेश में अनेक पंचकल्याणक करवाएँ वही राजस्थान में तो पंचकल्याणक की धूम ही मचा दी। राजस्थान की राजधानी गुलाबी नगरी जयपुर में कम से कम आठ पंचकल्याणक आपके सान्निध्य और आशीर्वाद से सम्पन्न हुए।

क्र.	नाम	दिनांक	प्रतिष्ठाचार्य
1.	श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव सगरा, जिला-दमोह (म.प्र.)	11 फरवरी से 17 फरवरी, 1998	अमरचंदजी
2.	श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव बरौदिया, जिला-सागर (म.प्र.)	17 फरवरी से 22 फरवरी, 2001	नरेन्द्रजी खरगापुर
3.	श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव मुहाना, सांगानेर-जयपुर	जून	विमलजी बनेठा जयपुर
4.	श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ महोत्सव न्यू विद्याधर नगर, जयपुर	13 फरवरी से 16 फरवरी, 2006	विमलजी बनेठा जयपुर
5.	श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव श्री दिगम्बर जैन मंदिर नसियां, जिला-टोंक	4 फरवरी से 10 फरवरी, 2006	प्रदीपजी मधुर मुम्बई
6.	श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ महोत्सव गायत्री नगर, जयपुर	23 अप्रैल से 30 अप्रैल, 2006	विमलजी बनेठा जयपुर
7.	श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव राजावत फार्म, मानसरोवर, एस.एफ.एस., जयपुर	17 जून से 21 जून, 2007	विमलजी बनेठा जयपुर
8.	श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, खोरा-बैनाड़, जयपुर	23 जून से 27 जून, 2007	कमल कमलांकुर भोपाल
9.	श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव झोटवाड़ा, कालवाड़ रोड़, जयपुर	6 मई से 10 मई, 2006	कमल कमलांकुर भोपाल
10.	श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव चौमूँ, जयपुर	16 जनवरी से 20 जनवरी, 2008	पवनजी दीवान मुरैना

11. श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव चित्रकूट कॉलोनी, सांगानेर, जयपुर	16 अप्रैल से 18 अप्रैल, 2008	डॉ. सनतकुमार जैन
12. श्री मज्जिनेन्द्र पार्श्वनाथ पंचकल्याणक महोत्सव विराट नगर, जयपुर	26 जनवरी से 31 जनवरी, 2007	ब्र. ऋषभजी नागपुर
13. श्री पार्श्वनाथ पंचकल्याणक महोत्सव दूदू, जयपुर	13 जून से 15 जून, 2007	विमलजी बनेठा जयपुर
14. श्री मज्जिनेन्द्र नेमिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव पंवालिया, सांगानेर, जयपुर	23 अप्रैल से 28 अप्रैल, 2008	विमलजी बनेठा
15. श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव चौमूं, जयपुर	21 फरवरी से 26 फरवरी, 2007	विमलजी बनेठा
16. श्री मज्जिनेन्द्र पार्श्वनाथ पंचकल्याणक महोत्सव विराट नगर, जयपुर (आचार्य विशदसागरजी महाराज, आर्थिका स्याद्वादमती माताजी)	2 मई से 7 मई, 2011	कुमुदजी सोनी अजमेर
17. श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव श्योपुर (म.प्र.)	17 जून से 21 जून, 2007	विमलजी बनेठा
18. श्री मज्जिनेन्द्र पारसनाथ पंचकल्याणक महोत्सव उणियारा, जिला-टोंक (आचार्य विशदसागरजी एवं आ. इन्द्रनंदीजी महाराज ससंघ)	2 मई से 7 मई, 2009	विमलजी बनेठा
19. श्री मज्जिनेन्द्र आदिनाथ पंचकल्याणक महोत्सव मालपुरा, जिला-टोंक	1 जून से 4 जून, 2009	ब्र. ऋषभजी भैया नागपुर
20. श्री मज्जिनेन्द्र चंवलेश्वर पारसनाथ पंचकल्याणक महोत्सव, चंवलेश्वर पारसनाथ, भीलवाड़ा	7 मार्च से 12 मार्च, 2011	ब्र. ऋषभजी भैया नागपुर
21. श्री मज्जिनेन्द्र पारसनाथ पंचकल्याणक महोत्सव तिलक नगर, भीलवाड़ा (राज.)	19 जून से 22 जून, 2009	ब्र. ऋषभजी भैया नागपुर
22. श्री मज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव सारसोप, जयपुर	7 मार्च, 2009	डॉ. पं. सनतजी जयपुर
23. श्री मज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक महोत्सव गणेशपुरा, हस्तिनापुर, जिला-मेरठ (आचार्य श्री वासुपूज्यसागरजी एवं आचार्य श्री विशदसागरजी)	22 अप्रैल से 27 अप्रैल, 2012	पं. सुनीलजी शास्त्री दिल्ली

- | | | | |
|-----|--|------------------------------|---|
| 24. | श्री मज्जिनेन्द्र पदमप्रभु पंचकल्याणक महोत्सव
(पदमप्रभु धाम) बेगम विहार, बेगमपुर जैन नगर-दिल्ली | 17 जून से
21 जून, 2007 | अरविन्द शास्त्री
दिल्ली |
| 25. | श्री मज्जिनेन्द्र पार्श्वनाथ पंचकल्याणक महोत्सव
द्वारिका, दिल्ली (आचार्य श्री सिद्धांतसागरजी,
आचार्य श्री विशदसागरजी, ऐलाचार्य श्री प्रज्ञसागरजी
ऐलाचार्यश्री अतिवीरसागरजी, मुनिश्री विहर्षसागरजी ससंघ) | 6 फरवरी से
12 फरवरी, 2014 | पं. सनतकुमारजी
(रजवास वाले) एवं
ब्र. नितिन भैया |

धर्म प्रभावना

म.प्र. के साथ-साथ जयपुर के अनेक स्थानों पर कल्पद्रुम, समवशरण, सिद्धचक्र एवं अन्य पूजन विधान सम्पन्न हुये।

- | | | |
|-----|---|------------------------------|
| 1. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, बिरधा, ललितपुर (उ.प्र.) | श्री कल्पद्रुम महामंडल विधान |
| 2. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कटंगी | श्री समवशरण महामंडल विधान |
| 3. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, अभाना, जिला-दमोह | श्री समवशरण महामंडल विधान |
| 4. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, सगरा, जिला-दमोह | श्री शांतिनाथ महामंडल विधान |
| 5. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, चौपरा, जिला-दमोह | श्री शांतिनाथ महामंडल विधान |
| 6. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, बनवार | श्री सिद्धचक्र महामंडल विधान |
| 7. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, तेदूखेड़ा, जिला-नरसिंहपुर | पूजन शिविर |
| 8. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, गोटेगांव, जिला-नरसिंहपुर | श्री सिद्धचक्र महामंडल विधान |
| 9. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, पाटन | पूजन शिविर |
| 10. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, मडावरा, जिला-ललितपुर (उ.प्र.) | श्री कल्पद्रुम महामंडल विधान |
| 11. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, दमोह | श्री सिद्धचक्र महामंडल विधान |
| 12. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, देवरी, जिला-सागर | श्री सिद्धचक्र महामंडल विधान |
| 13. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, नवागढ़, जिला-सागर | मेला |
| 14. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, बड़ागाँव, जिला-सागर | पूजन शिविर |
| 15. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, बंधाजी, जिला-सागर | श्री समवशरण महामंडल विधान |
| 16. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, बांसा, जिला-दमोह | श्री समवशरण महामंडल विधान |
| 17. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर, रीठी, जिला-कटनी | श्री समवशरण महामंडल विधान |
| 18. | श्री दिगम्बर जैन मंदिर रहली, जिला-सागर | श्री सिद्धचक्र महामंडल विधान |

19. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, खनियाधाना, जिला-शिवपुरी	श्री सिद्धचक्र महामंडल विधान
20. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, खतौरा, जिला-शिवपुरी	श्री सिद्धचक्र महामंडल विधान
21. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, शिवपुरी	श्री सिद्धचक्र महामंडल विधान
22. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, डिग्गी, जिला-टोंक	श्री सिद्धचक्र महामंडल विधान
23. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, नासिरदा, जिला-टोंक	श्री समवशरण महामंडल विधान
24. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, नसियाँ, निवाई, जिला-टोंक	श्री समवशरण महामंडल विधान
25. श्री दिगम्बर जैन मंदिर (अग्रवाल), निवाई, जिला-टोंक	श्री सिद्धचक्र महामंडल विधान
26. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, टोडारायसिंह, जिला-टोंक	श्री समवशरण महामंडल विधान
27. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, शिवाजी पार्क, अलवर	श्री समवशरण महामंडल विधान
28. श्री दिगम्बर जैन मंदिर नसियां, जिला-अलवर	श्री कल्पद्रुम महामंडल विधान
29. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, नौगाँव, जिला-अलवर	त्रि-दिवसीय विधान
30. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, नौगाँव, जिला-अलवर	त्रि-दिवसीय विधान
31. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, फिरोजपुर, हरियाणा	त्रि-दिवसीय विधान
32. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, फागी, जिला-जयपुर	त्रिदिवसीय विधान
33. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, मालपुरा-जिला-टोंक	श्री समवशरण महामंडल विधान
34. श्री दिगम्बर जैन मंदिर नसियां, तेरह पंथियान रेल्वे स्टेशन के पास, जयपुर	श्री पार्श्वनाथ महामंडल विधान
35. श्री दिगम्बर जैन भट्टारकजी की नसियां, जयपुर	श्री कल्पद्रुम महामंडल विधान

इसके अलावा पूज्य आचार्यश्री के सान्निध्य में 108 दिन तक स्वरचित विधानों की श्रृंखला रेवाड़ी में, दिल्ली शास्त्री नगर में 58 दिन तक विधानों की श्रृंखला और दिल्ली शकरपुर में भी 36 दिन तक विधानों की श्रृंखला, चंवलेश्वर पार्श्वनाथ में 7 दिन का अखंड गमोकार मंत्र का जाप सम्पन्न हुआ।

आचार्य श्री विशदसागरजी महाराज के सान्निध्य में अनेक प्रकार के जीर्णोद्धार, मंदिर, वेदी प्रतिष्ठा एवं मंदिर निर्माण के कार्य हुए-

1. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, मीरा मार्ग, मानसरोवर, जयपुर
2. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, वरुण पथ, मानसरोवर, जयपुर
3. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, बधीचंद, जौहरी बाजार, जयपुर
4. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, बक्सी का चौक, जयपुर

5. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कालान चौकड़ी, मोदीखाना, जयपुर
6. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, अम्बाबाड़ी, जयपुर
7. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, सेक्टर-5, प्रताप नगर, जयपुर
8. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, जय-जवान कॉलोनी, टोंक रोड़, जयपुर
9. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, सिद्धार्थ नगर रोड़, जगतपुरा, जयपुर
10. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, सूर्य नगर, तारों की कूट, जयपुर
11. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, ग्राम बस्सी, जिला-जयपुर
12. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, ग्राम चैनपुरा, जिला-जयपुर
13. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, टोडारायसिंह, जिला-टोंक
14. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, राजावास, सीकर रोड़, जयपुर
15. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, श्योपुर-प्रताप नगर, जयपुर
16. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, भीलवाड़ा (राज.)
17. श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर, कुपी, जिला-छतरपुर

प.पू. आचार्यश्री 108 विशदसागरजी महाराज ससंघ के पावन सान्निध्य एवं प्रेरणा से निम्न कार्य हुए-

1. आचार्य विशदसागर माध्यमिक विद्यालय, बरौदिया, जिला-सागर (म.प्र.)
2. आचार्य श्री 108 विशदसागर मा. विद्यालय, नासिरदा, जिला-टोंक (राज.)
3. आचार्य विशदसागरजी प्राथमिक विद्यालय, नेकोरा, जिला-ललितपुर (उ.प्र.)
4. आचार्य श्री 108 विशदसागर वाचनालय, निवाई, जिला-टोंक (राज.)
5. आचार्य श्री विशदसागर ध्यान केन्द्र, निवाई
6. आचार्य श्री विशदसागर संत निवास का शिलान्यास हुआ, निवाई, जिला-टोंक (राज.)
7. ठोलिया त्यागी वृत्ति भवन का शिलान्यास हुआ। स्थान-कीर्ति नगर, जैन मंदिर, टोंक रोड़, जयपुर
8. श्री आदिनाथ भवन का शिलान्यास हुआ। स्थान-श्री दिगम्बर जैन मंदिर, टोंक रोड़, गायत्री नगर, जयपुर
9. आचार्य श्री विशदसागर सभागार, जैन मंदिर, राजावत फार्म, मानसरोवर, जयपुर
10. आचार्य श्री विशदसागर सभागार, जैन मंदिर, सीकर रोड़, राजावास, जयपुर
11. आचार्य श्री विशदसागर सभागार, शिवदासपुरा
12. आचार्य श्री विशदसागर सभागार, जैन मंदिर, डिग्गी

13. आचार्य विशदसागर वाचनालय, शिवाजी नगर, अलवर
14. मांगलिक भवन, शिलान्यास प्रेरणा स्थान : श्री दिगम्बर जैन मंदिर, कालवाड़ रोड, झोटवाड़ा-जयपुर
15. स्वाध्याय भवन का शिलान्यास श्री दिगम्बर जैन मंदिर, दुर्गापुरा, जयपुर
16. श्री दिगम्बर जैन मंदिर का नव-निर्माण, डिग्गी, जिला-टोंक
17. श्री दिगम्बर जैन मंदिर का नव-निर्माण कुपी, जिला-छतरपुर
18. श्री दिगम्बर जैन मंदिर, नाटी काकी, चंवलेश्वर पार्श्वनाथ, भीलवाड़ा

वर्षायोग

1. बीना (म.प्र.)	(ऐलक अवस्था)	1994
2. ललितपुर (म.प्र.)	(ऐलक अवस्था)	1995
3. कटंगी (म.प्र.)	(मुनि अवस्था)	1996
4. देवरी (म.प्र.)	(मुनि अवस्था)	1997
5. गोटेगांव (म.प्र.)	(मुनि अवस्था)	1998
6. मडावरा	(मुनि अवस्था)	1999
7. बांसा	(मुनि अवस्था)	2000
8. जबलपुर (म.प्र.)	(मुनि अवस्था)	2001
9. रहली	(मुनि अवस्था)	2002
10. खनियाधाना	(मुनि अवस्था)	2003
11. जयपुर (राज.)	(मुनि अवस्था)	2004
12. निवाई (राज.)	(आचार्य अवस्था)	2005
13. अलवर (राज.)	(आचार्य अवस्था)	2006
14. अजमेर (राज.)	(आचार्य अवस्था)	2007
15. मालपुरा (राज.)	(आचार्य अवस्था)	2008
16. भीलवाड़ा (राज.)	(आचार्य अवस्था)	2009
17. चंवलेश्वर पारसनाथ (राज.)	(आचार्य अवस्था)	2010
18. रेवाड़ी (हरियाणा)	(आचार्य अवस्था)	2011
19. दिल्ली, शास्त्री नगर	(आचार्य अवस्था)	2012
20. दिल्ली, शकरपुर	(आचार्य अवस्था)	2013

आचार्य श्री विशदसागरजी चालीसा

परमेष्ठी को नमन् कर, नव देवों के साथ ।
लिखने का साहस करें, चरण झुकाएँ माथ ॥
रोग-शोक का नाश कर, पाएँ मुक्ती धाम ।
विशद सिंधु गुरुवर तुम्हें, शत्-शत् बार प्रणाम ॥

चौपाई

चउ अनुयोगों के गुरु ज्ञाता, सूरी तुम जन-जन के त्राता ।
भक्तों के तुम (गुरु) देव कहाते, श्रुत अमृत की धार बहाते ॥
जय-जय छत्तिस गुण के धारी, भविजन के तुम हो हितकारी ।
भाव सहित तुमरे गुण गाते, चरण कमल में शीश झुकाते ॥
नाथूरामजी पिता तुम्हारे, इंदर माँ की नयन के तारे ।
छोड़ सभी झंझट संसारी, बन गए आप बाल ब्रह्मचारी ॥
आठ नवम्बर बानवें आया, ब्रह्मचर्य द्रत तव अपनाया ।
एक वर्ष तक रहे विरागी, संयम की मन में सुध जागी ॥
स्वारथ का संसार है सारा, मिला न अब तक कोई सहारा ।
दीन-हीन बालक को गुरुवर, कृपा कीजिये भव्य जानकर ॥
ऐलक पद तुमने अपनाया, पाँचें मार्गशीष सित पाया ।
सन् उन्नीस सौ छियानवें आया, आठ फरवरी का दिन पाया ॥
तन मन से हो गये अविकारी, जैसे हो चंदन की क्यारी ।
भरत सिंधु के दर्शन पाये, तन मन में गुरु अति हर्षाये ॥
श्री गुरुवर ने दिया सहारा, भव्यों का करने उद्दारा ।
भक्तों को सद्ज्ञान सिखाओ, मोक्षमार्ग पर उन्हें बढ़ाओ ॥
तुमको है आशीष हमारा, जीवन हो मंगलमय सारा ।
गुरुवर मालपुरा में आए, सबने गुरु के दर्शन पाए ॥
मन में हर्ष हुआ था भारी, गद्गद् हुई थी जनता सारी ।
तेरह फरवरी का दिन पाया, दो हजार सन् पाँच कहाया ॥
मुनिवर से आचार्य बनाया, गुरुवर की शुभ पाई छाया ।
फिर गुरुवर से आशीष पाए, दीक्षा देकर शिष्य बनाए ॥

एक मुनि दो क्षुल्लक भाई, उनने फिर शुभ दीक्षा पाई ।
 जग में जितने पद कहलाये, सारे ही निष्फल कहलाये ॥
 मोक्षमार्ग का पथ पा जाएँ, तव चरणों में शीश झुकाये ।
 ज्ञानवीर हो ध्यान वीर हो, मुनि श्रावक के महावीर हो ॥
 जीवन के आदर्श तुम्हीं हो, प्रेय श्रेय भगवंत तुम्हीं हो ।
 क्षमामूर्ति गुरुदेव हमारे, जन-जन के हैं तारण हारे ॥
 वीतराग मुद्रा के धारी, तीन लोक में करुणाकारी ।
 जपने से गुरु नाम तुम्हारा, भव सिन्धु का मिले किनारा ॥
 दुनियाँ में नहीं कोई हमारा, दे दो गुरुवर हमें सहारा ।
 मात-पिता तुमको ही माना, परम ब्रह्म परमात्म जाना ॥
 धर्म-कर्म के तुम हो ज्ञाता, सूरी तुम हो भाग्य विधाता ।
 जग में सबको सब कुछ देते, बदले में तुम कुछ न लेते ॥
 सरस्वती की है यह माया, होनहार विद्वान बनाया ।
 पञ्च महाव्रत पालन करते, दशधर्मों को जो आचरते ॥
 चिंतन मंथन अनुभव द्वारा, भक्तों का करते उद्धार ।
 चरण शरण में जो भी आता, मन वांछित फल तब पा जाता ॥
 चरणों की रज है सुखकारी, दुख दरिद्रा की नाशन हारी ।
 तव भक्ती का मिला सहारा, कथन किया लघु शब्दों द्वारा ॥
 हम हैं दीन हीन संसारी, लिखने की क्या शक्ति हमारी ।
 भक्ती करने हम भी आए, नहीं भेंट में कुछ भी लाए ॥
 भाव समर्पित करने आए, नहीं भेंट में कुछ भी लाए ।
 'आस्था' भाव समर्पित करते, तव चरणों में मस्तक धरते ॥

दोहा- विशद चालीसा जो पढ़े, विशद भक्ति के साथ ।
 विशद ज्ञान पा कर बनें, विशद लोक का नाथ ॥
 विशद ज्ञान पावे सदा, करें विशद कल्याण ।
 विशद लोक में जा बसे, बने विशद धीमान ॥

- ब्र. आस्था दीदी (संघस्थ)

प.पू. क्षमामूर्ति आचार्य श्री 108 विशदसागरजी महाराज द्वारा रचित साहित्य एवं विधान सूची

- | | | |
|--|--|---|
| <ol style="list-style-type: none"> 1. श्री आदिनाथ महामण्डल विधान 2. श्री अजितनाथ महामण्डल विधान 3. श्री संभवनाथ महामण्डल विधान 4. श्री अभिनन्दननाथ महामण्डल विधान 5. श्री सुमतिनाथ महामण्डल विधान 6. श्री पद्मप्रभ महामण्डल विधान 7. श्री सुपादर्वनाथ महामण्डल विधान 8. श्री चन्द्रप्रभु महामण्डल विधान 9. श्री पुष्पदंत महामण्डल विधान 10. श्री शीतलनाथ महामण्डल विधान 11. श्री श्रेयांसनाथ महामण्डल विधान 12. श्री वासुपूज्य महामण्डल विधान 13. श्री विमलनाथ महामण्डल विधान 14. श्री अनन्तनाथ महामण्डल विधान 15. श्री धर्मनाथ महामण्डल विधान 16. श्री शांतिनाथ महामण्डल विधान 17. श्री कुंभुनाथ महामण्डल विधान 18. श्री अरहनाथ महामण्डल विधान 19. श्री मल्लिनाथ महामण्डल विधान 20. श्री मुनिमुद्रतनाथ महामण्डल विधान 21. श्री नमिनाथ महामण्डल विधान 22. श्री नेमिनाथ महामण्डल विधान 23. श्री पादर्वनाथ महामण्डल विधान 24. श्री महावीर महामण्डल विधान 25. श्री पंचपरमेष्ठी विधान 26. श्री णमोकार मंत्र महामण्डल विधान 27. सर्वसिद्धीप्रदायक श्री भक्तमर महामण्डल विधान 28. श्री सम्मोदशिरवर विधान 29. श्री श्रुत स्कंध विधान 30. श्री यागमण्डल विधान 31. श्री जिनविम्ब पंचकल्याणक विधान 32. श्री त्रिकालवर्ती तीर्थकर विधान 33. श्री कल्याणकारी कल्याण मंदिर विधान 34. लघु समवशरण विधान 35. सबदोष प्रायश्चित्त विधान 36. लघु पंचमेरु विधान 37. लघु नंदीश्वर महामण्डल विधान 38. श्री चँबलेश्वर पादर्वनाथ विधान 39. श्री जिनगुण सम्पत्ति विधान 40. एकीभाव स्तोत्र विधान 41. श्री ऋषिमण्डल विधान 42. श्री विषापहार स्तोत्र महामण्डल विधान 43. श्री भक्तमर महामण्डल विधान 44. वास्तु महामण्डल विधान | <ol style="list-style-type: none"> 45. लघु नवग्रह शांति महामण्डल विधान 46. सूर्य अरिष्टनिवारक श्री पद्मप्रभु विधान 47. श्री चौंसठ ऋद्धि महामण्डल विधान 48. श्री कर्मदहन महामण्डल विधान 49. श्री चौबीस तीर्थकर महामण्डल विधान 50. श्री नवदेवता महामण्डल विधान 51. वृहद् ऋषि महामण्डल विधान 52. श्री नवग्रह शांति महामण्डल विधान 53. कर्मजयी श्री पंच बालयति विधान 54. श्री तत्त्वार्थ सूत्र महामण्डल विधान 55. श्री सहस्रनाम महामण्डल विधान 56. वृहद् नंदीश्वर महामण्डल विधान 57. महामृत्युंजय महामण्डल विधान 58. श्री दशलक्षण विधान 59. श्री रत्नत्रय आराधना विधान 60. श्री सिद्धचक्र महामण्डल विधान 61. अभिनव वृहद् कल्पतरु विधान 62. वृहद् श्री समवशरण महामण्डल विधान 63. श्री चारित्र लब्धि महामण्डल विधान 64. श्री अनन्तव्रत महामण्डल विधान 65. विद्यमान तीर्थकर विधान 66. कैल्यय नवलब्धि विधान 67. अर्हत् महिमा विधान 68. अर्हत्नाम विधान 69. मृत्युञ्जय विधान 70. अर्हत्-धर्मचक्र विधान 71. कालसंपयोग निवारक महामण्डल विधान 72. श्री आचार्य परमेष्ठी महामण्डल विधान 73. श्री सम्मोदशिरवर कूटपूजन विधान 74. त्रिविधान संग्रह-1 75. पंचविधान संग्रह 76. श्री इन्द्रध्वज महामण्डल विधान 77. श्री कल्याण मंदिर विधान (बड़ा गाँव) 78. श्री अहिच्छत्र पादर्वनाथ विधान 79. श्री विदेह क्षेत्र विधान 80. श्री सम्यक् आराधना विधान 81. श्री सिद्ध परमेष्ठी विधान 82. लघु नवदेवता विधान 83. लघु स्वयंभू स्तोत्र विधान 84. विशद महा-अर्चना विधान 85. त्रिविधान संग्रह-11 86. विशद पञ्चागम संग्रह 87. जिन गुरु भक्ति संग्रह 88. धर्म की दस लहरें | <ol style="list-style-type: none"> 89. स्तुति स्तोत्र संग्रह 90. विराग बंदन 91. बिन खिले मुरझा गए 92. जिन्दगी क्या है 93. धर्म प्रवाह 94. भक्ति के फूल 95. विशद श्रमण चर्या 96. रत्नकरण्ड श्रावकाचार चौपाई 97. इष्टोपदेश चौपाई 98. द्रव्य संग्रह चौपाई 99. लघु द्रव्य संग्रह चौपाई 100. समाधितन्त्र चौपाई 101. सुभाषित रत्नावलि चौपाई 102. संस्कार विज्ञान 103. बाल विज्ञान भाग-3 104. नैतिक शिक्षा भाग-1,2,3 105. विशद स्तोत्र संग्रह 106. भगवती आराधना 107. चिंतवन सरोवर भाग-1 108. चिंतवन सरोवर भाग-2 109. जीवन की मनःस्थितियाँ 110. आराध्य अर्चना 111. आराधना के सुमन 112. मूक उपदेश भाग-1 113. मूक उपदेश भाग-2 114. विशद प्रवचन पर्व 115. विशद ज्ञान ज्योति 116. जरा सोचो तो 117. विशद भक्ति पीयूष 118. विशद मुक्तावली 119. संगीत प्रसून 120. आरती चालीसा संग्रह 121. भक्तमर भावना 122. बड़ा गाँव आरती चालीसा संग्रह 123. कल्याण मंदिर विधान 124. सहस्रकूट जिनार्चना संग्रह 125. विशद महा अर्चना संग्रह 126. विशद जिनवाणी संग्रह 127. विशद वीतरागी संत 128. काव्य पुञ्ज 129. पञ्च जाप्य 130. श्री चँबलेश्वर का इतिहास एवं पूजन चालीसा संग्रह 131. बिजोलिया तीर्थपूजन आरती चालीसा संग्रह 132. विराटनगर तीर्थपूजन आरती चालीसा संग्रह |
|--|--|---|